CC0. In Public Domain, Digitization by eGangotri

5.3

नाद रूप

ॐ

वीणावादनतत्त्वज्ञः
श्रुतिजातिविशारदः ।
तालज्ञश्चाप्रयासेन
मोक्षमार्गं निगच्छति ।।

श्री कला सङ्गीत भारती

प्रथम दशकपूर्त्ति समारोह विशेषांक

वर्ष १] जनवरी १९६१ [अंक. १

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

NĀDA RŪPA

FIRST AND SPECIAL ISSUE

COLLEGE OF MUSIC & FINE ARTS
BANARAS HINDU UNIVERSITY

DECENNIAL CELEBRATIONS

FINANCED BY

Revered Gurudeva Pt. Omkarnath Thakur
(EX-FOUNDER PRINCIPAL)

CHIEF & MANAGING EDITOR :

Dr. (Miss) Prem Lata Sharma

Editorial Board:

PT. LALMANI MISRA
PT. JAGANNATH M. AHIVASI
PT. BALWANT RAI BHATT
SRI M. V. THAKAR
KM. N. RAJAM
SRI M. V. KRISHNAN
SRI R. D. CHAKRAVARTTY

JANUARY 1961

Vol. I] *Price Rs. 7/-* [No. 1

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Printed by Pt. Rameshwar Pathak, at the
TARA PRINTING WORKS, VARANASI.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नाद रूप

श्री कला संगीत भारती

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

प्रथम दशक पूर्त्ति समारोह विशेषांक

अर्थानुकूल्य पूज्यपाद गुरुदेव पं० ओंकारनाथजी ठाकुर द्वारा

प्रधान संपादिका एवं व्यवस्थापिका

डा० कु० प्रेमलता शर्मा

संपादक मण्डलः

पं० लालमणि मिश्र
पं० जगन्नाथ मु० अहिवासी
पं० बलवन्तराय भट्ट
श्री माधव वामन ठकार
कु० ना० राजम्
श्री एम० वी० कृष्णन्
श्री रामदास चक्रवर्त्ती

जनवरी १९६१

वर्ष १] मूल्य ७) [अंक १

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ॐ

संपादकीय

न नादेन विना ज्ञानं न नादेन विना शिवः ।
नादरूपं परं ज्योतिर्नादरूपी स्वयं हरिः ॥

श्री कला संगीत भारती के प्रथम दशक पूर्त्ति समारोह के शुभ अवसर पर 'नाद रूप' का यह प्रथम तथा विशेष अंक अपनी नाद-तरंगों द्वारा, रूप-रश्मियों द्वारा—संगीताकाश को गुंजित, कला-भूमि को आलोकित करने के लिए अवतरित हो रहा है। गुरुजनों की मंगलाशंसा, आत्मीयजनों की शुभ-कामना, सत्यार्थियों की पिपासा, अनुसन्धित्सुओं की आस्था, जिज्ञासुओं की श्रद्धा,—इन सब का अमूल्य वरदान इसे प्राप्त है।

इस प्रकाशन द्वारा भारतीय संगीत के एक बड़े अभाव की पूर्त्ति होगी ऐसी आशा और विश्वास है। आज हमारे यहाँ संगीत संबन्धी जो भी पत्र-पत्रिकायें प्रकाशित होती हैं वे या तो किसी पक्ष विशेष से आबद्ध हैं, या किसी प्रदेश-विशेष के घेरे में संकुचित हैं और या फिर सत्यानुसन्धान के लिये अपेक्षित स्तर के अभाव से ग्रस्त हैं। अतः भारतीय संगीत जगत् में एक ऐसी पत्रिका की परमावश्यकता अनेक दिनों से अनुभव की जा रही थी जो निष्पक्ष सत्य स्थापना की विशुद्ध आकांक्षा से प्रेरित हो एवं जिसमें शास्त्रीय अनुसंधान से उपलब्ध सामग्री के समुचित प्रकाशन की व्यवस्था हो। ऐसे प्रकाशन के लिये श्री कला संगीत भारती से अधिक उपयुक्त और कौन सी संस्था होगी, क्योंकि भारतीय विश्वविद्यालयों के अंतर्गत संगीत संस्थाओं में इसका स्थान महत्त्वपूर्ण है तथा पृथक् अनुसंधान विभाग का बल इसे प्राप्त है। अतः निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति के लिये 'नाद-रूप' की अवतारणा की गयी है:—

(१) भरत-प्रतिपादित सनातन सत्य-सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण, उनकी पुनःस्थापना तथा अन्य ग्रंथकारों के लेखन में निहित भरतानुकूल तथा भरत प्रतिकूल मतों की विवेचना। (२) आधुनिक संगीत के लक्ष्य के कलापक्ष तथा भावपक्ष की भरतसिद्धान्त के साथ संगति स्थापित करना। (३) विशुद्ध अनुसंधान से प्राप्त सामग्री का प्रकाशन। (४) साम गान, गान्धर्ववेद आदि प्राचीन लुप्तप्राय विषयों पर अनुसन्धान का प्रोत्साहन तथा प्रेरण। (५) संगीत तथा कला संबन्धी बिखरी हुई सामग्री का संकलन तथा प्रकाशन (६) संगीत तथा ललित कलाओं की शिक्षा संबन्धी समस्याओं की विवेचना एवं एक वैज्ञानिक शिक्षण पद्धति को प्रतिष्ठित करने का प्रयास। (७) संगीत तथा कला के क्षेत्र में समुचित स्तरीकरण का प्रयास। (८) मौलिक कला-कृतियों का प्रकाशन।

वीणा-पुस्तक-धारिणी भगवती भारती की केवल पुस्तकधारिणी अपूर्ण मूर्ति को वीणा की झंकार द्वारा पूर्ण बनाने की, इस महान् विश्वविद्यालय के स्थापक महामना पं० मदनमोहन मालवीय की उत्कट अभिलाषा अगस्त १९५० में उन्हीं के वचनबद्ध पूज्यपाद गुरुदेव पं० ओंकारनाथजी ठाकुर की अध्यक्षता में श्री कला संगीत भारती की स्थापना से पूर्ण हुई। फिर भी इस संस्था के जीवन के प्रारंभिक प्रायः ५ वर्ष संघर्ष के झकझोरों से डावांडोल, अनिष्ट की आशंका से अस्थिर तथा निराशा के आवरण से आच्छादित रहे। किन्तु स्थापक के रूप में इसे जिस महान् विभूति की प्राप्ति हुई थी उसके शक्तिशाली व्यक्तित्व, अदम्य विश्वास और अखण्ड उत्साह के बल पर इसका अस्तित्व टिका रहा, क्रमशः विघ्न बाधायें दूर होती गयीं और १९५५-५६ में तत्कालीन कुलपति महोदय डॉ० सर सी० पी० रामस्वामी ऐय्यर की प्रेरणा से इसके पुनर्गठन की जो योजना बनी उसके कार्यान्वित होने पर इसका वर्त्तमान रूप निखरा। आज यह अपने कष्ट-संकुल शैशव को व्यतीत कर के कैशोरावस्था में पदार्पण कर चुकी है, और अपने सर्वतोमुखी विकास की आशा से देदीप्यमान है। इस संस्था की प्रमुख विशेषताओं यथा वैज्ञानिक आधार पर निर्मित पाठ्यक्रम, सुदृढ़ तथा सुचारु शिक्षण प्रणाली,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ॐ

संपादकीय

न नादेन विना ज्ञानं न नादेन विना शिवः ।
नादरूपं परं ज्योतिर्नादरूपी स्वयं हरिः ॥

श्री कला संगीत भारती के प्रथम दशक पूर्त्ति समारोह के शुभ अवसर पर 'नाद रूप' का यह प्रथम तथा विशेष अंक अपनी नाद-तरंगों द्वारा, रूप-रश्मियों द्वारा—संगीताकाश को गुञ्जित, कला-भूमि को आलोकित करने के लिए अवतरित हो रहा है। गुरुजनों की मंगलाशंसा, आत्मीयजनों की शुभ-कामना, सत्यार्थियों की पिपासा, अनुसन्धित्सुओं की आस्था, जिज्ञासुओं की श्रद्धा,—इन सब का अमूल्य वरदान इसे प्राप्त है।

इस प्रकाशन द्वारा भारतीय संगीत के एक बड़े अभाव की पूर्त्ति होगी ऐसी आशा और विश्वास है। आज हमारे यहाँ संगीत संबन्धी जो भी पत्र-पत्रिकायें प्रकाशित होती हैं वे या तो किसी पक्ष विशेष से आबद्ध हैं, या किसी प्रदेश-विशेष के घेरे में संकुचित हैं और या फिर सत्यानुसन्धान के लिये अपेक्षित स्तर के अभाव से ग्रस्त हैं। अतः भारतीय संगीत जगत् में एक ऐसी पत्रिका की परमावश्यकता अनेक दिनों से अनुभव की जा रही थी जो निष्पक्ष सत्य स्थापना की विशुद्ध आकांक्षा से प्रेरित हो एवं जिसमें शास्त्रीय अनुसंधान से उपलब्ध सामग्री के समुचित प्रकाशन की व्यवस्था हो। ऐसे प्रकाशन के लिये श्री कला संगीत भारती से अधिक उपयुक्त और कौन सी संस्था होगी, क्योंकि भारतीय विश्वविद्यालयों के अंतर्गत संगीत संस्थाओं में इसका स्थान महत्त्वपूर्ण है तथा पृथक् अनुसंधान विभाग का बल इसे प्राप्त है। अतः निम्नलिखित उद्देश्यों की पूर्ति के लिये 'नाद-रूप' की अवतारणा की गयी है:—

(१) भरत-प्रतिपादित सनातन सत्य-सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण, उनकी पुनःस्थापना तथा अन्य ग्रंथकारों के लेखन में निहित भरतानुकूल तथा भरत प्रतिकूल मतों की विवेचना। (२) आधुनिक संगीत के लक्ष्य के कलापक्ष तथा भावपक्ष की भरतसिद्धान्त के साथ संगति स्थापित करना। (३) विशुद्ध अनुसंधान से प्राप्त सामग्री का प्रकाशन। (४) साम गान, गान्धर्ववेद आदि प्राचीन लुप्तप्राय विषयों पर अनुसन्धान का प्रोत्साहन तथा प्रेरण। (५) संगीत तथा कला संबन्धी बिखरी हुई सामग्री का संकलन तथा प्रकाशन (६) संगीत तथा ललित कलाओं की शिक्षा संबन्धी समस्याओं की विवेचना एवं एक वैज्ञानिक शिक्षण पद्धति को प्रतिष्ठित करने का प्रयास। (७) संगीत तथा कला के क्षेत्र में समुचित स्तरीकरण का प्रयास। (८) मौलिक कला-कृतियों का प्रकाशन।

वीणा-पुस्तक-धारिणी भगवती भारती की केवल पुस्तकधारिणी अपूर्ण मूर्ति को वीणा की झंकार द्वारा पूर्ण बनाने की, इस महान् विश्वविद्यालय के स्थापक महामना पं० मदनमोहन मालवीय की उत्कट अभिलाषा अगस्त १९५० में उन्हीं के वचनबद्ध पूज्यपाद गुरुदेव पं० ओंकारनाथजी ठाकुर की अध्यक्षता में श्री कला संगीत भारती की स्थापना से पूर्ण हुई। फिर भी इस संस्था के जीवन के प्रारंभिक प्रायः ५ वर्ष संघर्ष के झकझोरों से डावाँडोल, अनिष्ट की आशंका से अस्थिर तथा निराशा के आवरण से आच्छादित रहे। किन्तु स्थापक के रूप में इसे जिस महान् विभूति की प्राप्ति हुई थी उसके शक्तिशाली व्यक्तित्व, अदम्य विश्वास और अखण्ड उत्साह के बल पर इसका अस्तित्व टिका रहा, क्रमशः विघ्न बाधायें दूर होती गयीं और १९५५-५६ में तत्कालीन कुलपति महोदय डॉ० सर सी० पी० रामस्वामी ऐय्यर की प्रेरणा से इसके पुनर्गठन की जो योजना बनी उसके कार्यान्वित होने पर इसका वर्त्तमान रूप निखरा। आज यह अपने कष्ट-संकुल शैशव को व्यतीत कर के कैशोरावस्था में पदार्पण कर चुकी है, और अपने सर्वतोमुखी विकास की आशा से देदीप्यमान है। इस संस्था की प्रमुख विशेषताओं यथा वैज्ञानिक आधार पर निर्मित पाठ्यक्रम, सुदृढ़ तथा सुचारु शिक्षण प्रणाली,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उच्च शिक्षण स्तर तथा विलक्षण परीक्षा पद्धति आदि के संबन्ध में इस अंक के परिशिष्ट में कुछ विस्तार से विवरण दिया गया है। यहाँ तो इसके उज्वल भविष्य के लिये मंगलाकांक्षा व्यक्त करना ही प्रासंगिक है।

प्रस्तुत अंक में इस संस्था के बाहर के अनेक विद्वज्जनों, विचारकों तथा अन्वेषकों के सहयोग से जो सा[illegible] प्रकाशित की गयी है उसमें विषयों की विविधता विशेषरूप से उल्लेखनीय है। शास्त्रीय विवेचनापूर्ण लेखों के अतिरिक्त गीत तथा वाद्य की कुछ मौलिक स्वर-रचनायें भी समाविष्ट की गयी हैं। समयाभाव तथा स्थानाभाव के कार[illegible] अपने यहाँ के अनेक सहयोगी बन्धुओं की रचनायें प्रकाशित नहीं की जा सकीं। ऐसी रचनाओं की तालिका नीच[illegible] प्रस्तुत है। आगामी अंक में इनका अवश्य समावेश किया जायेगा। यह पत्रिका अधिक से अधिक पाठकों की सेवा कर सके इस दृष्टि से अंग्रेजी तथा हिन्दी दोनों भाषाओं में सामग्री दी गयी है और भविष्य में भी ऐसा ही करने का विचार है। इस बार बाहर से विपुल मात्रा में सामग्री प्राप्त होने के कारण हमारे यहाँ के अनुसंधान विभाग के कार्य के लिये बहुत ही संकुचित स्थान दिया जा सका है, आगामी अंक में इस कार्य को कुछ विस्तृत स्थान दिया जायेगा।

आशा है यह अंक ऊपर लिखे उद्देश्यों की पूर्त्ति की दिशा में प्रारम्भिक चरण के रूप में सफल सिद्ध होगा। पाठकों, ग्राहकों, संस्थाओं, पुस्तकालयों आदि का सहयोग यदि प्राप्त हो सका तो इस पत्रिका को केवल वार्षिक न रखकर षण्मासिक बनाने में हमें अपार प्रसन्नता होगी।

अंत में उन सभी लेखक महानुभावों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करना हमारा पवित्र कर्तव्य है, जिन्होंने अपने अमूल्य सहयोग से हमें अनुगृहीत किया है। जिनके संपूर्ण अर्थानुकूल्य से यह प्रकाशन अस्तित्व में आया है, उन पूज्यपाद गुरुदेव पं० ओंकारनाथजी ठाकुर को किन शब्दों में धन्यवाद दिया जाए? तारा प्रेस, वाराणसी के संचालक तथा कर्मचारिगण हमारे परम धन्यवाद के पात्र हैं; अत्यल्प समय में इतनी विविध सामग्री की स्वच्छ, सुन्दर छपाई आप सबके परम सहयोग से ही संभव हो सकी है। पं० रतिनाथ झा (भूतपूर्व अनुसन्धान सहायक) जिन्होंने संस्था छोड़ चुकने पर भी सर्वदा हार्दिक सहयोग दिया है एवं सर्वश्री रवीन्द्र कुमार शृङ्गी, माहेश्वर झा, राजनारायण प्रसाद, एस० निजबोध, दिवाकर द्विवेदी, शारदा प्रसाद सिंह, विष्णु कुमार अग्रवाल, सुश्री धर्मावती श्रीवास्तव, नरेन्द्र शर्मा तथा अन्य सभी सहयोगी धन्यवाद के पात्र हैं।

बुधवार, १८ जनवरी १९६१

प्रेमलता शर्मा

अप्रकाशित रचनाओं की तालिका

१—नान्यदेव के भरत-भाष्य में उद्धृत भरत-वचनों की तालिका—अधुना उपलब्ध पाठान्तर सह—श्री रवीन्द्र कुमार शृङ्गी।

२—'संगीतकला' (संस्कृत में नौ श्लोक) ब्रह्मर्षि देवरात।

३—'नाद-चिन्तन'—श्री रवीन्द्रकुमार शृङ्गी।

४—'कलाकार'—श्री दुर्गाप्रसाद पटनायक।

५—'गुणों का संगीत में स्थान'—श्री कनक राय त्रिवेदी।

६—गत बाँसुरी—राग बागेश्री—श्री छेदीलाल श्रीवास्तव।

७—गीत राग वसन्त—श्री शुकदेव भट्ट।

८—शास्त्रीय संगीत में पखावज का स्थान तथा शेष ताल की उठान और परन—श्री बाबूलाल पखावजी।

९—वसन्त ताल—श्री भगवान्जी पण्ड्या।

१०—तबला सोलो—ताल झूमरा—श्री नागेश्वर प्रसाद मिश्र।

११—'वाग्गेयकार के लक्षण'—श्री प्रदीपकुमार दीक्षित।

१२—'संगीत के कुछ होनहार विद्यार्थी'—श्री राजेन्द्र प्रसाद भट्ट द्वारा संकलित।

१३—'पूज्यपाद गुरुदेव की विलक्षण शिक्षण पद्धति'—श्रीमती सुभद्रा कुमारी।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ॐ

EDITORIAL

न नादेन विना ज्ञानं न नादेन विना शिवः ।
नादरूपं परं ज्योतिर्नादरूपी स्वयं हरिः ॥

The first and special number of 'Nāda Rūpa' is setting forth its waves of sound (Nāda) and rays of light (Rūpam) for the sake of filling the Sangītākāśa (ether which is the medium of sound) with musical resonance and for illuminating the field of art with its lustre on the auspicious occasion of the first Decennial celebrations of the College of Music & Fine Arts, Banaras Hindu University. It is endowed with the invaluable boon of the blessings of the venerable, the good will of the trustworthy, the best wishes of the near and dear ones, the thirst for knowledge of the seekers after truth, the devotion of research-workers and the reverential regard of those hankering after knowledge.

We hope and trust that this publication will fulfil a longfelt need of Indian music. The periodicals that are being published in the present times are either guided by a parochial spirit, or they are islanded in some regional system of music or again they are unable to attain the required standards because of being ill-equipped in absence of the calibre essential for real research of truth. Hence the indispensable need for a non-parochial Journal inspired by a spirit of the re-instatement of truth and opening avenue for the proper publication of the attainments of pure research was felt since long in the field of Indian music. Which institution would be more appropriate for the undertaking of the publication of such a Journal than the College of Music & Fine Arts, Banaras Hindu University, because of the important position that it holds among the music institutions falling under the jurisdiction of Indian Universities and because of its being strengthened by a separate Research Section? The 'Nāda Rūpa' has, therefore, been brought into existence with the following aims and objects in view :—

1. The clarification and re-instatement of the eternal and true principles enunciated by Bharata and a critical appreciation of the substance of the writings of subsequent authors giving an estimate of the extent to which they have adhered to those principles and also the extent to which they have deviated from them, (2) establishment of the relation of the technical and æsthetic aspects of modern Indian classical music with the principles expounded by Bharata, (3) publication of the results arrived at by pure research, (4) encouragement and promotion of research on subjects like Sāmagāna and Gāndharvaveda which have fallen into almost complete oblivion, (5) compilation and

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

publication of scattered materials of music and fine arts, (6) consideration of the problems of teaching of music and fine arts and an attempt at establishing a scientific system of the teaching of these subjects, (7) an attempt at standardisation in the various branches of music and fine arts and (8) publication of original pieces of art e.g. paintings, musical compositions etc. and formation of new traditions of opera and orchestra in Indian music.

The long-cherished desire of the illustrious founder of this great seat of learning Mahamana Pt. Madan Mohan Malviya for completing the incomplete image of Goddess Saraswati with the resonance of Vīṇā and of thus making her Vīṇāpustakadhāriṇī instead of mere 'Pustakadhāriṇī', was fulfilled in 1950 with the foundation of the College of Music & Fine Arts in the Principalship of Revered Gurudeva Pt. Omkarnath Thakur who was bound with the word of promise to the Founder. As all beginnings are difficult, the first five years of this institution were marked with a strenuous struggle for existence; it was a period of trials and tribulations, disappointments and frustrations; but it could maintain its existence on the strength of the powerful personality, unflinching faith, unfailing enthusiasm and unswerving devotion of its Founder Principal. Gradually the impediments and hindrances were overcome and in 1955-56, a scheme of its Re-organisation was prepared with the inspiration and encouragement provided by the then Vice-Chancellor Dr. Sir C.P. Ramaswamy Aiyar. The implementation, albeit partial, of this scheme brought this institution to its present form and status. To-day it has already passed through the teething period of infancy and the trying period of childhood and has set foot into adolescence. It is now lustrous with the beams of hope. The salient features of this institution such as the courses of studies framed on scientific basis, the sound system of teaching, the high standards of instruction and examination have been recorded in a note given in the supplement of this number. Here it will suffice to express our best wishes and prayers for a bright future of this institution.

The materials that we are publishing in this number with the kind co-operation of many musicians, musicologists, thinkers, scholars, research workers, philosophers and artists or art critics from outside is remarkable for its rich variety. Apart from articles on various aspects of the theory of music and fine arts we have included a number of original compositions of vocal and instrumental music, just as pieces of sculpture and painting have been given adequate representation. Due to lack of space and time a number of contributions of our own staff members could not be included in this number. A list of those contributions has been given above in Hindi and they will be published in the next number. We have given our materials in both English and Hindi in order to make this Journal an instrument of service to the greatest number of readers and we propose to follow this arrangemet in future. The work done in the Research Section could be given in an extremely limited space because of the wide range of the contributions

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

received from outside; in the next number we propose to devote more space to this Section.

It is hoped that this number will prove successful as a first step in the fulfilment of the above aims and objects. If the co-operation of readers, subscribers, libraries and institutions is available, we propose to publish it twice a year.

While closing it is our sacred duty to express our heartfelt gratitude to all contributors who have rendered invaluable co-operation. Words fail to express our deep debt to Revered Gurudeva Pt. Omkarnath Thakur who has financed this publication. The proprietor, manager and other workers of the Tara Press, Varanasi deserve our hearty thanks for the speedy and neat printing of materials of a great variety. A list of all others who have rendered valuable assistance has been given above in Hindi.

PREM LATA SHARMA

Wednesday 18th Jan. 1961.

Addenda

On p. 28 of Supplement please add the following names among the ex-staff members :—

1. Sri Ranade Ukil (Painting) 2. Sri T. C. Paul (Sculpture) 3. Sri Mannuji Mridangacharya (Mridanga and Tabla) 4. Sri Kikubhai Bhagat (Vocal and Dilruba).

On p. 35 of supplement please add the following names among the artists who gave performances :—

1. Sri Balram Pathak, Calcutta, 2.Sri Yashwant Rai Purohit, Bombay, 3. Sri Gopal Singh, Delhi, 4. Sri Nagardas Chawada, Ahmedabad, 5 Late Sri Anokhelal Mishra, Varanasi, 6. Sri Gopal Mishra, Varanasi.

Corrigenda

P. 26. Please read 'Shastraic' in the title instead of 'Shasraic'

P. 8 of Supplement. The following corrections and additions in the account of the educational career of Sri M. V. Krishnan may be noted :—

(i) Studied in His Highness the Maharaja's School of Arts, Trivandrum and completed the four years' certificate course in Fine Arts and the Apprenticeship Course.

(ii) In 1944 passed the following Technical Examinations of the Madras Government as a private candidate—(a) Group Certificate in Drawing (b) Modelling Higher.

(iii) In 1950 passed the diploma in Fine Arts (Clay Modelling) from the School of Arts and Crafts, Madras in the first division.

परिशिष्ट में पृ० ८ पर श्री एम० वी० कृष्णन् के परिचय में सातवीं पंक्ति में 'मूर्ति कला के रूप में' के स्थान पर 'मूर्ति कला के इंस्ट्रक्टर के रूप में' पढ़ें।

P. 28, of Supplement. Item No. 13. Please read 'Instructor in Painting' instead of 'Instructor in Sculpture'.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ॐ

अनुक्रमणिका

TABLE OF CONTENTS

संपादकीय
Editorial—Addenda—Corrigenda

१—आशीर्वचन तथा शुभाशंसाएँ १–६
Blessings and Messages of Good Wishes

२—शिवसंकल्प-मन्त्र ७

३—मंगलाचरण ८

४—मंगल—अवलोकनः भूत भविष्यत् की देहली से ९–११
(स्थापक की लेखनी से) पं० ओम्कारनाथ ठाकुर, लंका, वाराणसी ५ ।

५—संगीत से आरोग्य की वृद्धि १२
वेदमूर्त्ति पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर स्वाध्यायमण्डल, पो० पारडी, जि० सूरत

6—Music ... 13–14
Dr. Sir C. P. Ramaswamy Aiyar 'Delesli', Ootacamund

७—जीवन में कला १५
काका साहेब कालेलकर 'सन्निधि' राजघाट, नई दिल्ली

८—संगीत की शिक्षा १६
श्री रामनारायण चौधरी अध्यक्ष, ग्रामसहयोग समाज, गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ, नई दिल्ली ।

9—On Beauty ... 17–21
Śrī A. B. Purāṇī, Aurobindo Ashram, Pondichery.

१०—तुम्बी स्तुति २१
पं० बलवन्तराय भट्ट 'भावरंग' कला संगीत भारती, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी—५

११—ॐकार साधन २२–२५
महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज
M. A., D. Litt. 2—A Sigra, Varanasi

12—Is Thāṭ or Meḷa a Shastraic or Scientific concept ? ... 26–32
K. Vasudeva Sastri B.A.: Research Professor, Saraswati Mahal Library, Tanjore

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

१३—भरत का स्वरसिद्धांत ३३–४८
संगीत मार्तण्ड पण्डित ओंकारनाथ ठाकुर, लंका, वाराणसी

14—Āryan and Non-Āryan origin of some Indian Rāgas ... 49–57
Swami Prajñānānanda, Ram Krishna Vedanta Matha
19–B, Raja Naba Krishna Street, Calcutta—6

१५—विश्वकर्मा ५८–६१
डा० वासुदेवशरण अग्रवाल भारती महाविद्यालय, का० हि० विश्वविद्यालय (वाराणसी)

16—Traditions in Music ... 62–66
Prof. P. Sambamoortty, B. A., B. L.
Head of the Deptt. of Music; University of Madras,
Chelpauk, Madras—5.

१७—संगीत विद्या ६७-७९
ब्रह्मर्षि श्री दैवरातजी ऋषिकुल योगाश्रम, गोकर्ण, उत्तर कन्नड़ प्रदेश

18—On the Effect of Music and Dance on Plants. ... 80–83
Prof. T. C. N. Singh, D. Sc., D. Phil., F. B. S.
Head of the Deptt. of Botany, Annamalai
University, Annamalai-Nagar, S. India.

१९—कलाक्षेत्र में सत्य ८४-८५
महागुजरात के कलागुरु पं० रविशंकर म० रावल, चित्रकूट, ४४ ब्राह्मण मित्र
मण्डल सोसायटी, एलिस ब्रिज- अहमदाबाद—६

20—Tānsen's Descendants in Vārāṇasi. ... 86–88
Birendra Kishore Roy Chowdhury Sangeet Shastri,
Ex. M. L. C., Chairman, Gouripore Industries (Pr.) Ltd.
55, Ballygunge, Circular Road, Calcutta, 19.

२१—भरतोक्त श्रुत्यंतर ८९–९९
महेशनारायण सक्सेना
M. A., B.Sc., M. Mus. Bihar Education Service
Netarhat School Netarhat, via Rāñchi (Bihar)

22—Pt. Vishnu Digambar Paluskar, ... 100–103
the Pioneer of the Renaissance of Indian Music.
Prof. P. A. Sundaram Aiyar, Violinist (Retd. Music
Lecturer, Madras University)
"Sangetha Vilas" 88, Apparswami Koil St.
Mylapore, Madras—4.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

२३—अनावृत सत्य—सत्यार्थी १०४-११४

24—Music a Useful Product of Civilization.
Prof. G. N. Goswami M. Sc. 111/3, Nazarbagh, Lucknow. 115–116

२५—संगीत शिक्षालय और संगीत शिक्षण ११७-११९
पं० विनयचन्द्र मोद्गल्य प्रिंसीपल, गांधर्व महाविद्यालय ४२-सी, प्रेम हाऊस कनाट प्लेस, नई दिल्ली

26—Rabindra Sangit ... 120–121
Shri Praphulla Kumar Das.
३०, सी० आई० टी० बिल्डिंग, मदन चैटर्जी लेन, कलकत्ता—७

२७—आत्मरत संगीत की ओर १२२
सुश्री विमल ठकार, सर्वसेवा संघ, राजघाट, काशी

२८—आत्मदर्शन (कविता) गायनवादनाचार्य पं० बलवन्तराय भट्ट 'भावरंग' ... १२२

२९—ऋषभ-धैवत की रामकहानी १२३-१३०
श्री वा. वें. कारन्त, नेशनल स्कूल ऑफ़ ड्रामा, कैलाश कॉलोनी, नई दिल्ली.

30—Fine Arts as a Career ... 131–132
Shri M. V. Krishnan, College of Music & Fine Arts
B. H. U., Varanasi–5.

३१—हिन्दू संगीत १३३-१४०
डॉ० लालमणि मिश्र, एम. ए. (प्रो.) डी. म्यूज़. (वीणा), एम. म्यूज़. (गायन), वी. म्यूज़. (सितार, तबला), रीडर, कला संगीत भारती, का० वि० वि०

३२—स्केच और चित्र १४१-१४२
श्री दुर्गा प्रसाद पटनायक श्री कला संगीत भारती, का० वि० वि० वाराणसी

33—Notes and Scales: Bharata's System—Saṅgīta Mārtanda ... 143–163
Pt. Omkarnath Thakur, Lanka, Varaṇasi.

३४—भजन-'संगीत विद्यालंकार' श्रीमती विजन घोष दस्तिदार १६४-१६६
ए ८, सी० आई० टी० बिल्डिंग, मदन चैटर्जी लेन, कलकत्ता—७

35—Indian Aesthetics or Rasaśāstra as Applied to Music:
An Introduction 167–168
Dr. Prem Lata Sharma.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

३६—वेदमन्त्र—स्वर-रचनाकार पं० ओंकारनाथजी ठाकुर 'प्रणवरंग' ... १६९–८०

वाग्देवता—स्तुति १६९–७५

राग गौड़सारंग—त्रिताल १७०

राग तिलंग—त्रिताल १७१

राग काफ़ी—त्रिताल १७२–१७३

राग भैरवी—त्रिताल १७४–१७५

प्रजापति—स्तुति राग मालकौंस चौताल १७६–१७७

इन्द्र—स्तुति १७७–१८०

राग अडाणा—त्रिताल १७८–१७९

राग प्रभात—मत्तताल १८०

३७—राग मालकौंस ध्रुपद, चौताल १८१–१८३

श्री मान् टी० एल० राणा (नेपालराजवंशीय) राणा संगीत संसद,

५४,ए नेपाल भट्टाचार्जी फ़र्स्ट लेन, कलकत्ता–२६

३८—राग जोगिया ध्रुपद—चारताल श्री मान् टी० एल० राणा १८४–१८६

३९—सरस्वती-वन्दना–राग हंसध्वनि आड़ा चौताल—पं० बलवन्तराय भट्ट 'भावरंग' ... १८७–१८८

४०—राग दरबारी—धमार ,, ,, ... १८९–१९१

४१—राग अहीर ललित आलाप, गत तोड़े श्री राजभानसिंह बी० म्यूज० संगीत प्रभाकर ... १९२–२०२

४२—राग श्री–गीत–झपताल २०३–२०४

श्री कं० सु० अवधानी एम० म्यूज़ श्री कला संगीत भारती

RESEARCH SECTION 205–224

Our Contribution to Resarch

43—Aims, Objectives and Activities of the Research Section. ... 206–211
Sri. R. K. Shringy B. A. (Hons.) M. A.

44—A Synoptical and Critical Survey of the 'Gītaratna Koṣa' of 'Sangītarāja'— ... 211–218
Dr. Prem Lata Sharma assisted by Sri R. K. Shringy.

45—A Critical Note on Rasakaumudī of Śrīkaṇṭha 219
Dr. Prem Lata Sharma

46—A Critical Note on 'Bharata Bhāṣya' of Nānyadeva— ... 220–224
Dr. Prem Lata Sharma, assisted by Sri R. K. Shringy.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

SUPPLEMENT

College of Music & Fine Arts First Decennial Celebrations.

४७—प्राध्यापकों तथा कर्मचारियों का संक्षिप्त परिचय १–१५
डॉ० लालमणि मिश्र द्वारा संकलित और संपादित

४८—श्रद्धा कुसुमाञ्जलि—डॉ० प्रेमलता शर्मा १६–१९

४९—स्मरणाञ्जलि राग तोड़ी, आड़ा चौताल, पं० बलवन्तराय भट्ट भावरंग ... २०–२१

५०—स्व० श्री रामकृष्ण ल० पर्वतकर की कुछ चमत्कारपूर्ण रचनाएँ २२–२७
श्री दामोदर होता द्वारा संकलित ... ...

51—List of Ex Staff Members ... 28

52—List of Students who Passed the Various Examinations ... 29–34
in Music & Fine Arts During 1951–60

53—List of Distinguished Artists who gave Performances ... 35
During the last Ten years.

54—List of Distinguished Guests & Visitors ... 35–37

55—Excerpts from Important Letters ... 37–40

56—A Brief Report of Functions Arranged During 1950-60 ... 41–45

57—A Brief Report of the Fine Arts Section ... 46–48

58—Some Salient Features of the Institution ... 49–52

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

PAINTINGS AND PHOTOGRAPHS

१—सरस्वती (मुख पृष्ठ) श्री एम्० वी० कृष्णन् ... ...

२—मैया, मैं नहीं माखन खायो ८
पं० जगन्नाथ मु० अहिवासी

३—पूजा—श्रीमती चन्द्रमणि सिंह ८

४—महामना पं० मदनमोहन मालवीय ९

५—संगीत मार्तण्ड पं० ओंकारनाथ ठाकुर ९

6—Photographs 1–8 illustrating 'The Effect of Music & Dance on Plants' 82

७—मेघदूत—श्रीदुर्गाप्रसाद पटनायक ८४

८—प्रतीक्षा—श्रीविजयबहादुर थापा ८५

9—Rest—By Sri Jai Shankar Mishra ... 168

10—Buddha—By Mrs. Rajeswari ... ,,

11—Old Man—By Sri M. V. Krishnan ... ,,

12—Saraswati—By Sri Baijnath Pd. Gupta ... 169

13—Portrait Study—,, ,, ,, ... 169

14— ,, ,, ,, Ram Pyare Singh ... 169

SUPPLEMENT

15—College of Music & Fine Arts
Group Photograph 1959-60. 1

१६—स्वर—समाधि में लीन संगीतद्रष्टा ... ... ,,
पं० ओंकारनाथ ठाकुर

17—Yehudi Menuhin, (Mrs.) Malti Jain and ... ,,
Stewart Wilson.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आशीर्वचन तथा शुभाशंसाएँ

Blessings and Messages of Good Wishes

राष्ट्रपति भवन, नई दिल्ली।
सितम्बर २६, १९६०
आश्विन ४, १८८२ शक

आपके दिनांक ८ अगस्त के पत्र के लिये धन्यवाद। राष्ट्रपतिजी श्री कला संगीत भारती का अभिनन्दन करते हैं, तथा उसके अस्तित्व के प्रथम दश वर्ष समाप्त होने के अवसर पर संस्था के लिये अपनी शुभकामनायें भेजते हैं।

भवदीय
राजेन्द्रलाल हांडा
राष्ट्रपति का प्रेस सचिव

VICE-PRESIDENT OF INDIA
NEW DELHI
August 12, 1960.

I am glad to know that the College of Music & Fine Arts of the Banaras Hindu University will complete ten years this August. I hope that it will do good work in the future also.

Yours sincerely,
S. RADHAKRISHNAN

महाराष्ट्र गवर्नरस कैंप,
२९ अगस्त, १९६०

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आप संगीत तथा ललित कलाओं से संबंधित एक पत्रिका निकालने का आयोजन कर रही हैं। मेरी शुभ कामना है कि पत्रिका सानंद और सफलतापूर्वक प्रकाशित हो और उससे दिन प्रतिदिन अधिकाधिक नर नारी लाभ उठावें।

आप प्रसन्न रहें।

सधन्यवाद आपका
श्रीप्रकाश

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रीराम

चिरगांव
१२-१०-६०

'संगीतभारती' हम लोगों का बेसुरापन दूर करके हमें स्वरसामंजस्य प्रदान करे, यही मेरी कामना है।

भवदीय
मैथिलीशरण

PRIVATE SECRETARY,
FINANCE MINISTER OF INDIA
NEW DELHI
August 12, 1960.

Shri Morarji Desai sends his best wishes to the College of Music and Fine Arts, Varanasi, on the occasion of its completion of first 10 years in which useful facilities were provided for training in Indian Music.

Your faithfully,
V. Y. TONPE

लखनऊ
अगस्त २२, १९६०

मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि श्री कला संगीत भारती (बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी) संगीत तथा ललित कलाओं से संबंधित एक पत्रिका प्रकाशित करने जा रही है। कला भारती का यह प्रयास सुन्दर प्रतीत होता है। इस समय हमारे देश में भारतीय संगीत तथा ललित कलाओं के क्षेत्र में इस प्रकार के पत्र पत्रिकाओं की नितान्त आवश्यकता है। अतः हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि इस प्रकार की पत्रिकाओं को ज्ञान विज्ञान भण्डार एवं समाज तथा संस्कृति के मौलिक अध्ययन तथा अन्वेषण से समृद्ध करें। इस पत्रिका के द्वारा विद्यार्थी वर्ग तथा समाज को विचार अभिव्यक्ति का अवसर मिलेगा, जिससे विद्यार्थियों एवं समाज को अवश्य लाभ होगा। मैं आशा करता हूँ पत्रिका विश्वविद्यालय की मर्यादा के अनुकूल होगी और अपने उद्देश्य में सफल होगी।

सम्पूर्णानन्द
मुख्य मन्त्री, उत्तरप्रदेश

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0: In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भोपाल
दिनांक सितंबर १९६०

यह जानकर अत्यंत प्रसन्नता हुई कि श्री कला संगीत भारती वाराणसी, द्वारा संगीत कला पर एक पत्रिका प्रकाशित की जा रही है। वाराणसी सदैव से भारतीय कला और संस्कृति का प्रमुख केन्द्र रहा है और मुझे आशा है कि भविष्य में भी यहां की गतिविधियां हमारे सांस्कृतिक जीवन में पूरक बनी रहेंगी। संगीत कला के लुप्तप्राय गुणों को फिर से प्राप्त करने का युग आ रहा है, उसका सैद्धांतिक विवेचन आप आगे बढ़ाएं, यह मेरी इच्छा है।

मैं आपकी पत्रिका की लम्बी उम्र की कामना करता हूँ।

कैलासनाथ काटजू
(मुख्य मन्त्री, मध्यप्रदेश)

जयपुर, राजस्थान
२७ अक्टूबर, १९६०

पत्रिका के लिए मेरी शुभ कामना तो है ही। आपका यह उद्योग सफल हो और इसके द्वारा संगीत भारती की खूब सेवा हो।

हरिभाऊ उपाध्याय
(वित्तमन्त्री, राजस्थान)

1. PRINCES GATE
LONDON Sw. 7
28. 8. 1960

I thank you for your letter of August 8, 1960. I am glad to learn that on the occasion of the 10th birthday of your College you propose to bring out the first volume of a biannual journal of Music and Fine Arts. This is a commendable undertaking in which you have my best wishes. I also wish your College a bright and happy future and I hope that it would someday lead the world in the field of music and fine arts and be an inspirer of creative work in all significant aspects of music and fine arts.

With renewed good wishes for you and for all members of the staff and students of your College.

Yours sincerely,
V. S. JHA
(Ex-Vice-Chancellor, Banaras Hindu University).

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

The College of Music and Fine Arts of our Banaras Hindu University is completing ten years of its existence and it is in the fitness of things that being the robust child that it is, entering its period of adolescence, it should think of publishing a Journal of Music and Fine Arts.

There is a great scope for Research in the Faculty and a separate Research section is already functioning. The result of such research should be recorded in a journal of this type and I am sure that it will satisfy the long standing need of such a record and will afford the spring board for further activities in the field of research.

The college of Music and Fine Arts has achieved great success and distinction as a result of the unstinted endeavours of the revered Pandit Omkarnathji and his devoted band of talented workers, but now is the time when it should blossom forth into an institution which knows no barriers of any particular school or tradition but embraces all well known schools of music existing in the country and also impart instruction in Dancing apart from Painting and Sculpture.

I pray that the College of Music and Fine Arts will attain further distinction in the manner indicated above and will attain a prestige and reputation attracting students not only from all parts of the country but from all over the globe and will be a shining jewel in the crown of the Banaras Hindu University.

I wish the College and this Journal all success. So help us God.

N. H. BHAGWATI
(Vice-Chancellor, Banaras Hindu University)
21-9-'60

DELISLE, OOTACAMUND.
August 16, 1960.

Many thanks for your letter at of the 8th August, the contents of which I deeply appreoiate.

I am glad to learn that the College of Music and Fine Arts is progressing.

As requested, I shall shortly send you a short article on Music for the proposed Journal.

With my best wishes,

I am,
Yours sincerely,
C. P. RAMASWAMI AIYAR.
(Ex-Vice-Chancellor, Banaras Hindu University)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

KRISHNA VIHAR,
LUZ
MYLAPORE, MADRAS.
Sept. 30, 1960.

I am glad to learn that you propose to bring out a "Journal of Music and Fine Arts" under the auspices of the College of Music and Fine Arts, Banaras Hindu University, on the occasion of the completion of the first decade of its existence.

The College has done very well indeed under the stewardship of the celebrated musician Pandit Omkar Nath Thakur and it is but appropriate that it should sponsor the publication of a Journal devoted to Music and Fine Arts to mark the completion of ten years of successful functioning.

I wish the proposed venture all success.

Yours sincerely,
M. PATANJALI SASTRI.

ANGRE'S WADI
BOMBAY
13/8/60

I send my hearty blessings for this new undertaking. Music is a blessed art that appeals to all men and even to lower animals. Ancient sages like Yājñavalkya placed singing on a very high pedestal, when in Chap. III Verse 112 he states that a man who sings the 'Sāman', sings in the prescribed way without committing mistakes and with a concentrated mind, reaches 'Brahman' gradually by frequent repetition of the 'Sāmans'. He further provides that even those who sing non-vedic songs like Aparāntaka, Ullopyaka and others are on the way to attaining Liberation and that those who know the true way of playing on the lute or who are adepts in the twentytwo Śrutis and Jātis and who are adepts in Tāla—those also reach 'mokṣa' (III 113-115). Nowadays singing and music has been perverted to low popular tastes by the cinema-houses.

I am myself very fond of a good song and Music, though I know very little about 'Vīṇāvādan' or Music. I hope you will inculcate on your students the great role of song and Music on the spiritual level. If you have not already chosen some motto for your journal, I would suggest that you may place या. III 115 वीणावादन तत्त्वज्ञः as a motto on the front page of your journal.

With all good wishes for the journal,

Yours Sincerely.
(Mahāmahopādhyāya) P. V. KANE

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

No. 5 SAFDURJANG RCAD
NEW DELHI.
Dt. 17-9-1960

T. L. Venkataraman Aiyar,
Chairman, Law Comission

All lovers of Music and Arts must greatly welcome the proposal to publish a journal of Music & Fine Arts. Let me convey to you my best wishes for its success.

Yours Sincerely,
T. L. VENKATARAMAN AIYAR

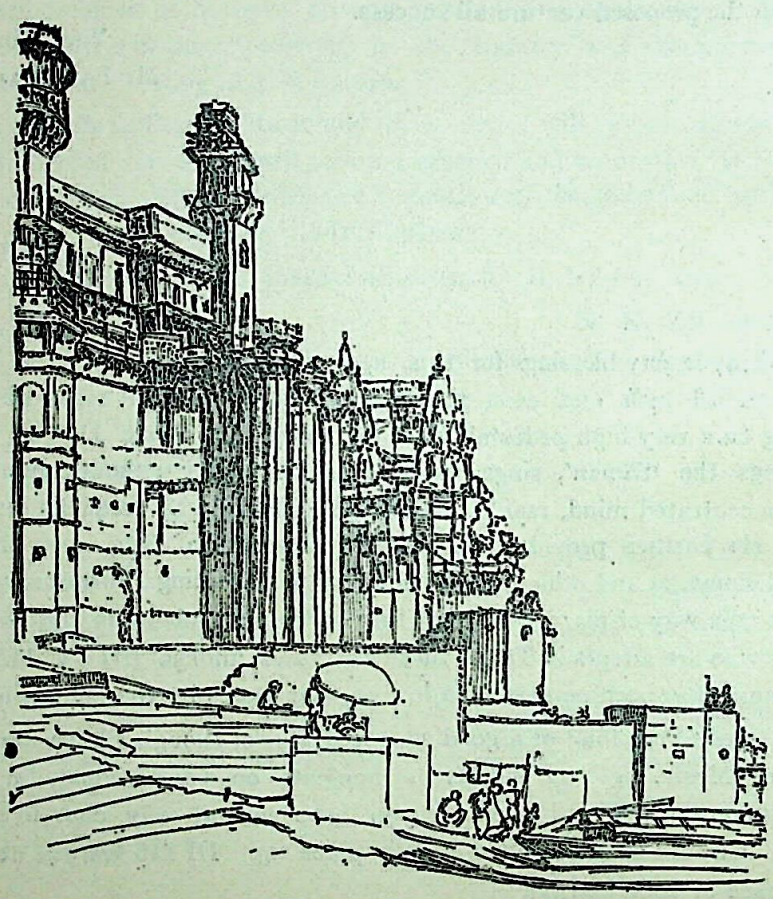

'GANGĀ GHĀṬA'—BY SRI M. V. KRISHNAN.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ॐ

शिवसङ्कल्प-मन्त्र

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं, तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः ।
यदपूर्वं यक्षमन्तःप्रजानां, तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते, तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

येनेदं भूतं भुवनम्भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्त होता, तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

यस्मिन् ऋचः सामयजूंङ्षि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ।
यस्मिंश्चित्तं सर्वमोतम्प्रजानां, तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीषुभिर्वाजिन इव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं, तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

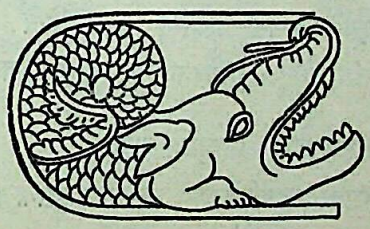

By M. V. K.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मङ्गलाचरण

ओङ्कारपञ्जरशुकीमुपनिषदुद्यानकेलिकलकण्ठीम् ।
आगमविपिनमयूरीमार्यामन्तर्विभावये गौरीम् ॥

दयमानदीर्घनयनां देशिकरूपेण दर्शिताभ्युदयाम् ।
वामकुचनिहितवीणां वरदां सङ्गीतमातृकां वन्दे ॥

सरिगमपधनिरतान्तां वीणासंक्रान्तकान्तहस्तान्ताम् ।
शान्तां मृदुलस्वान्तां कुचभरतान्तां नमामि शिवकान्ताम् ॥

ब्रह्मग्रन्थिजमारुतानुगतिना चित्तेन हृत्पङ्कजे
सूरीणामनुरञ्जकश्रुतिपदं योऽयं स्वयं राजते ।
यस्माद्ग्रामविभागवर्णरचनाऽलङ्कारजातिक्रमो
वन्दे नादतनुं तमुद्धरजगद्गीतं मुदे शङ्करम् ॥

चैतन्यं सर्वभूतानां विवृत्तं जगदात्मना ।
नादब्रह्म तदानन्दमद्वितीयमुपास्महे ॥

नादोपासनया देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।
भवन्त्युपासिता नूनं यस्मादेते तदात्मकाः ॥

यं ब्रह्मावरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवैः
वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ॥
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥

या कुन्देन्दुतुषारहारधवला या शुभ्रवस्त्रावृता
या वीणावरदण्डमण्डितकरा या श्वेतपद्मासना ।
या ब्रह्माच्युतशङ्करप्रभृतिभिर्देवैः सदा वन्दिता
सा मां पातु सरस्वती भगवती निःशेषजाड्यापहा ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

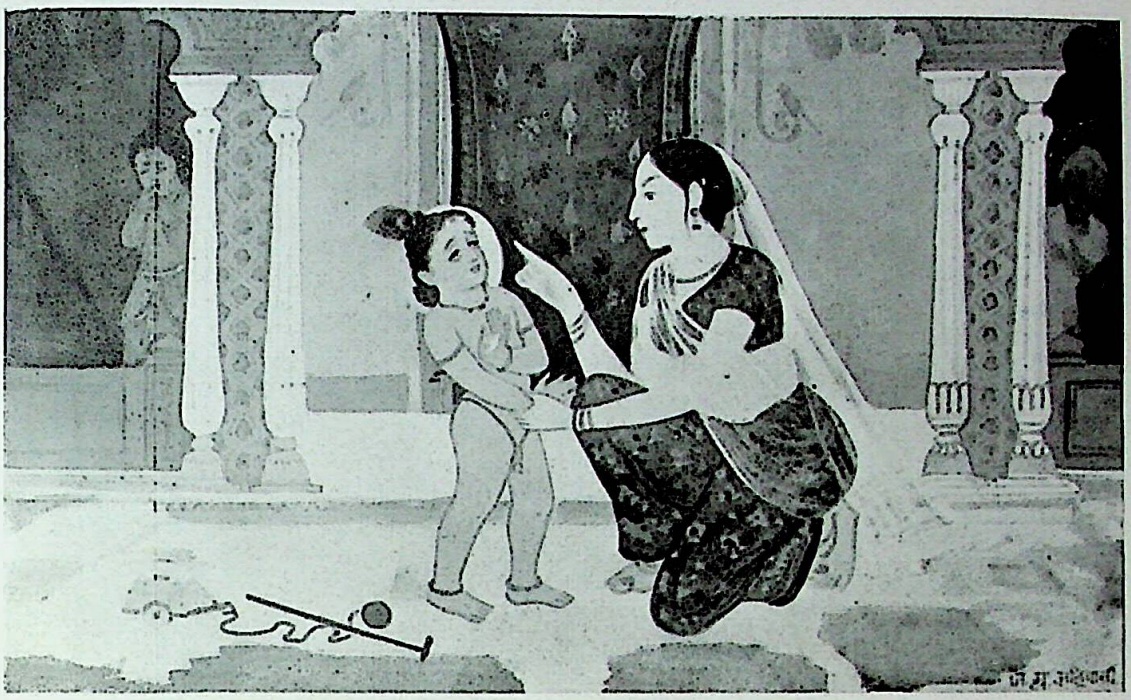

'मैया, मैं नहिं माखन खायो' —पं० ज० मु० अहिवासी

'पूजा' —श्रीमती चन्द्रमणि सिंह

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizaglion by eGangotri

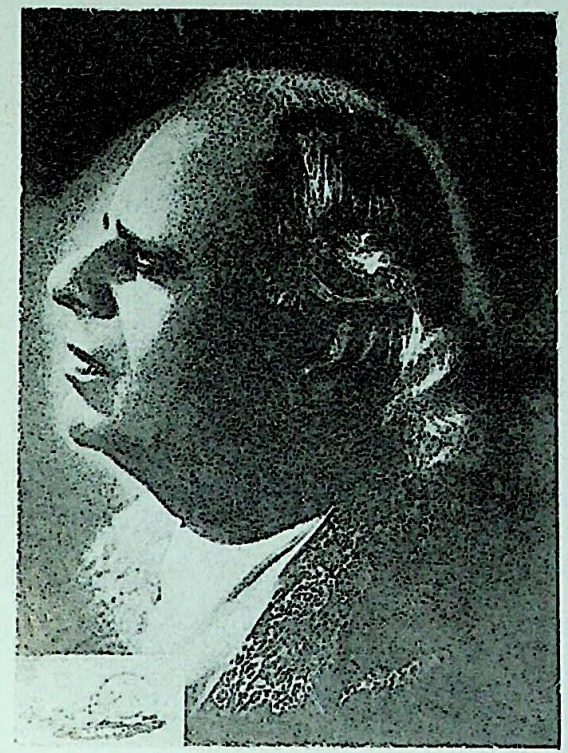

श्री कला संगीत भारती के स्थापक
संगीत-मार्तण्ड पं० ओंकारनाथजी ठाकुर

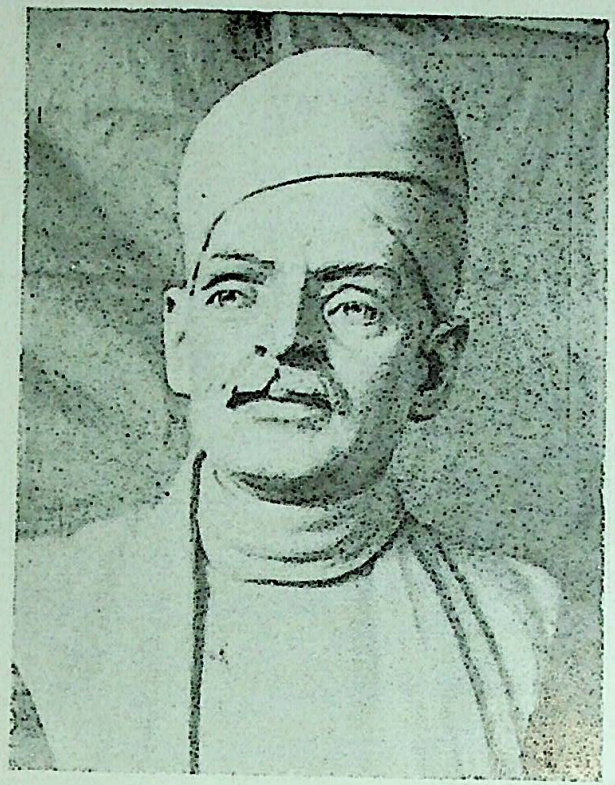

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के स्थापक
महामना पं० मदनमोहनजी मालवीय
(मूर्त्तिकार—श्री एम. वी. कृष्णन्)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मंगल-अवलोकन : भूत भविष्यत् की देहली से

(स्थापक की लेखनी से)

श्री कला संगीत भारती अपने जीवन के दस वर्ष पूर्ण कर रही है। इस अवसर पर जिस पत्रिका का प्रकाशन हो रहा है, मैं हृदयस्थ भाव से उसकी सफलता के लिये कल्याण-कामना करता हूँ।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के जनक महामना मालवीयजी के नितान्त अनुरोध के वशीभूत होकर इस संस्था का स्थापन करने और उसका कार्यभार वहन करने का ज़िम्मा मैंने उठाया था। आरम्भ में ही इस सम्बन्ध में अभिवचन देने के पूर्व मैंने स्पष्ट रूप से कह दिया था कि यदि संगीत महाविद्यालय में मुझे कार्य करने की, उस संस्था के विकास की, एवं विश्वविद्यालय के उच्च स्तर पर संगीत को प्रतिष्ठित करने की सभी सुविधाएं और कार्य-स्वातंत्र्य दिया जायगा तभी यह बोझ मैं उठाऊंगा, अन्यथा संगीत निकेतन नाम की संस्था का संचालन त्याग कर यहां आने में मुझे कोई आकर्षण नहीं है, मोह नहीं है। उन्होंने पूर्ण स्वातंत्र्य और समस्त सुविधाएं दिलाने का आश्वासन दिया था। आश्वस्त होने पर ही मैंने यह ज़िम्मेदारी उठाई।

किन्तु अनुभव ने कुछ और ज्ञान दिया। विश्वविद्यालय के अन्तरङ्ग में निर्दल संस्था या व्यक्ति कैसे पनपते? किसी ने यह कहकर अवरोध खड़ा किया कि ज्ञान तथा विज्ञान के क्षेत्र में गाने-बजाने के कॉलेज की क्या आवश्यकता है? किसी ने कहा कि इस संस्था के प्रिंसिपल स्वयं चन्दा लाएं और इसे चलाएं। किसी ने कहा कि कलाकार अपनी कला का भारत में प्रदर्शन करें और संस्था के लिय धन इकट्ठा करें। किसी ने कहा कि यदि चन्दा इकट्ठा करने में ही 'प्रिंसिपल' के समय और शक्ति का व्यय होगा तो संस्था के प्रशासन (administration) और शिक्षण का क्या होगा? किसी ने कहा कि कलाकार का भी तो अपना जीवन होगा। उसकी कला के प्रदर्शन द्वारा प्राप्त वित्त पर क्या संस्था निभ सकेगी? क्या निभाना समुचित होगा? किसी ने कहा कि अन्य ज्ञान-विज्ञान और 'टेक्निकल' विषयों के आचार्यों से जो अपेक्षा नहीं रखी जाती, वैसी आशा इस क्षेत्र के आचार्य से रखना कहां तक न्याय्य होगा? इन सब बातों में जो भी सत्यांश हो, सो हो, किन्तु संगीत महाविद्यालय के पनपने का तो काफ़ी काल तक प्रश्न ही नहीं रहा, उसे बन्द करने के भी यत्न किए गए। फिर भी भगवती भारती की कृपा से, उमड़े हुए बादल छंटते गए और "विघ्नाः पुनःपुनरपि प्रतिहन्यमानाः" वाली भर्तृहरि की उक्ति चरितार्थ होती गई।

इस प्रकार इस संस्था को जीवन देने में, निभाने में, विद्यार्थियों को शिक्षा देने में, उनका पूर्ण विकास करने में तथा उनके विकास के निमित्त संपूर्ण नूतन पाठ्यक्रम के लेखन और प्रकाशन में कितना विपुल परिश्रम, काल-यापन और अर्थ-व्यय किया गया, कितने घोर कष्टों का सामना करना पड़ा, उन सबकी कौन कहे? फिर भी जो अल्पाधिक सिद्धि प्राप्त हुई है, उसी में इन सब की सार्थकता मान लेना उचित है।

संगीत की शिक्षा के क्षेत्र में महान् परिवर्तन आवश्यक है। अब तक जो प्रणालियां या शैलियां चली आ रही हैं, उनमें आमूल क्रान्ति की नितान्त आवश्यकता है। इस क्षेत्र के विद्यार्थी गाएं बजाएं और जन-मन का रञ्जन करें, इतना ही पर्याप्त नहीं है। स्वरशास्त्र—स्वर का भौतिक पहलू (Sound physics), उसका मनोवैज्ञानिक और आध्यात्मिक पहलू, रागशास्त्र, रसशास्त्र इत्यादि विषयों के ज्ञान के साथ-साथ उनका कला-पक्ष समृद्ध बने, तभी वह विश्वविद्यालय के स्तर का शिक्षण कहा जा सकता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दूसरी ओर, मध्ययुग से लेकर आज तक अनेकों संगीत-ग्रन्थकारों (Musicologists) ने उपर्युक्त सूक्ष्म तत्त्वों के मर्म को समझे बिना जो कुछ लिखा, जो कुछ प्रकाशित हुआ, उससे संगीत के कला-पक्ष और शास्त्र-पक्ष की शृंखला टूट गई; उस विच्छेद को मिटाकर कला और शास्त्र का सामंजस्य स्थापित करने के महान् कार्य की आज परमावश्यकता है।

इस संस्था द्वारा उपर्युक्त दोनों दिशाओं में अब तक जो-जो बहुमूल्य प्रयास किए गए हैं, उनका मूल्य आज नहीं तो कल अवश्य ही आंका जाएगा और तब इस संस्था के जन्म की परम सिद्धि और सार्थकता जगत् के सामने स्पष्ट होगी।

सामान्य शिक्षित जन यह समझने में सदैव असमर्थ रहते हैं कि ज्ञान-विज्ञान के अन्य विषयों के क्षेत्र में शिक्षा का प्रारूप, उसकी शैली, पाठ्यक्रम इत्यादि में जैसी एक-वाक्यता रहती है, वैसी कला के क्षेत्र में क्यों नहीं पाई जाती ? वास्तव में इस क्षेत्र में ऐसी एकवाक्यता, एकतानता, एकरूपता नहीं ही होनी चाहिए, क्योंकि कला का विकास, उसकी उच्च भूमिका, कला का प्रकाश, यह सब कुछ कला-गुरु की तपः साधना पर अवलम्बित रहता है। उस साधना को विद्यार्थियों के जीवन में अवतरित कराने की कलागुरु की आकांक्षा ही, विभिन्न कला-शैलियों का आविर्भाव और विकास करती है और उनका प्रकाश फैलाती है। हम जानते हैं कि ऐसे ही भिन्न २ कला-गुरुओं द्वारा चित्र, शिल्प, नृत्य, नाट्य और साहित्य की भिन्न-भिन्न शैलियां जनमीं, पनपीं और प्रचार पाई हैं। इसी प्रकार संगीत के कलागुरु व्यक्तिगत तपश्चर्या द्वारा जो सिद्धि प्राप्त करते हैं, समष्टि उसे सुनती है, अपनाती है और इस प्रकार एक विशेष परिष्कृत कला का आदर्श जगत् के उपस्थित होता है।

यूरोप में भी ऐसे ही महान् संगीत कलाकारों—बीथोवन, वेगनर, मोज़ार्ट, शोपेन, बाख आदि कला-गुरुओं की भिन्न-भिन्न परंपराओं ने पाश्चात्य संगीत जगत् को विपुल समृद्धि प्रदान की है। उसी प्रकार भारत में भी ऐसे ही कला-गुरुओं द्वारा भिन्न-भिन्न कला-शैलियों का जो विकास हुआ है, उसका हार्दिक स्वागत होना चाहिये, इस विविधता को मिटाने की भावना निर्मूल होनी चाहिये, इन शैलियों के स्वतन्त्र विकास के अवरोधों का नाश होना चाहिए और कला-क्षेत्र में शिक्षा-शैलियों की खिचड़ी पकाने की कल्पना से हमें विरत होना चाहिए।

आत्मा को उन्नत करने वाली, मन को स्थिर बनाने वाली महान् कला को मुक्त भाव से विकसित होने दिया जाए, उसे स्वतन्त्र रूप से पनपने दिया जाए, फूलने दिया जाए, फलने दिया जाए। कला बंधे हुए बांध का तालाब नहीं है, यह सतत प्रवाहित सहस्र-धारा की प्रयस्विनी है। इसे बांधने की मनीषा रखने वालों का ध्यान 'सहस्रवर्त्मा सामवेदः' इस ऋषि वचन की ओर आकर्षित हो। इस वचन से स्पष्ट है कि जैसे सामवेद की सहस्र शैलियां थीं, वैसे ही सभी कलाओं में विविधता से ही उनके विकास का दर्शन होता है। उस विविधता से विमुक्त होना उनके ह्रास को न्योता देना है।

दृष्टि के लिए दृश्य, घ्राण के लिए गन्ध और रसनेन्द्रिय के लिए रस की विविधता जिस प्रकार तन, मन और जीवन के लिये नितान्त आवश्यक है, उसी प्रकार कर्ण के लिए संगीत का वैविध्य भी उतना ही आवश्यक है। इस दृष्टि से यह दुराग्रह अनावश्यक है कि संगीत की एक ही शैली हो, उसकी सारी प्रक्रियाओं में एकता हो, शिक्षण में सभी शैलियों का सामंजस्य हो। जगत् के स्रष्टा ने भी "एकोऽहं बहु स्याम्" इस प्रकार एक से अनेक होने की कामना से ही 'एक' से बहुत्व का विकास किया है। इस शाश्वत सत्य को समझ कर इस संस्था का प्रथम दशक पूर्ण होने के शुभ अवसर पर मैं प्रभु से प्रार्थना करता हूं कि संगीत की विभिन्न शैलियों में जो विपुल प्राण और बहुत्व समाया हुआ है, उसकी रक्षा हो और उसके विकास के अवरोध समूल नष्ट हों।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में इस संस्था द्वारा जिस नूतन शैली का आविर्भाव हुआ है, उसे पनपने का, विकास करने का, समृद्ध बनने का पूर्ण अवकाश मिले, यही भगवान् से प्रार्थना करता हूँ। यहाँ बोया हुआ बीज भारतीय संगीत का अक्षय-वट बने, यही मंगल-कामना है।

इस दशाब्दी-पूर्ति-पर्व के अवसर पर चि० डॉ० प्रेमलता शर्मा के पुरुषार्थमय अनुरोध से इस 'नाद-रूप' का, संगीत-ललित-कला संबन्धी इस पत्रिका का जन्म हो रहा है। मध्ययुग से अब तक संगीत जगत् के कई प्राण-प्रश्न उलझे हुए हैं। उन्हें सुलझाना नितान्त आवश्यक है; उस परम कर्तव्य की ओर अब विमुख रहना सर्वथा अनुचित होगा। सत्य के पक्षपाती विद्वज्जन इस पत्रिका द्वारा, तपस्या से सुलझे हुए अपने विचारों का प्रकाशन करेंगे, ऐसी मैं आशा करता हूँ। यह पत्रिका इस क्षेत्र में आलोक-स्तम्भ का रूप धारण करेगी इस विश्वास के साथ प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि इसके प्रकाशन में—जो शूल हों वे फूल हों औ', विघ्न सब निर्मूल हों।

१६—११—६०

ओम्कारनाथ ठाकुर

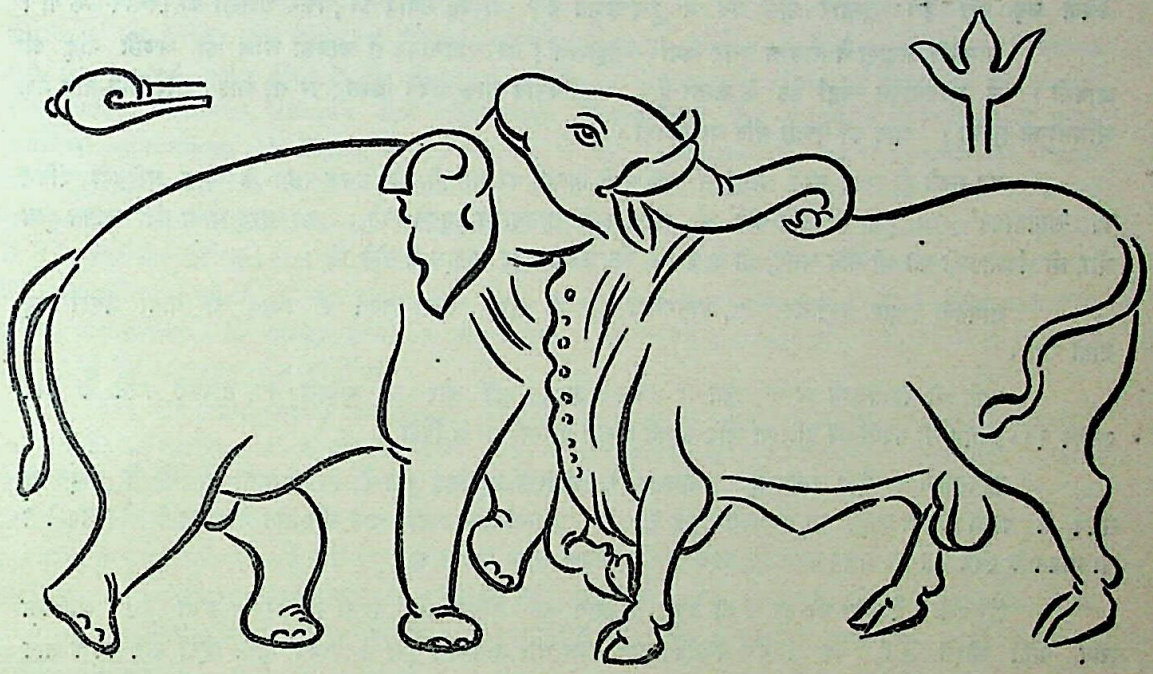

हरिहर—ज० मु० अहिवासी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संगीत से आरोग्य की वृद्धि

(वेदमूर्त्ति पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर)

बंबई में एक वकील थे, जिनका नाम श्री० माननीय विश्वनाथ नारायण मंडलीक था। वे भारत की अंग्रेज सरकार के कौन्सीलर थे। उनको किसी कारण निन्द्रानाश हो गया, दो तीन महीने उनको निद्रा नहीं आयी। इस कारण वे बेचैन से हो गये थे।

ऐसी अवस्था में उनके पास मैसूर से एक सामवेदी ब्राह्मण आया। और उस वेदपाठी ब्राह्मण ने श्री मंडलीकजी से कहा—

'महाराज ! मैं सामवेदी ब्राह्मण हूँ, कुछ दक्षिणा देने की कृपा कीजिये।'

श्री मंडलीकजी ने उत्तर दिया—'क्या करना है तुम्हारे वेदपाठ से ! मुझे तीन महीने से नींद नहीं है, बेचैनी बढ़ रही है। तुम्हारे पास वेद में कुछ उपाय है ? तो वह उपाय करो, फिर दक्षिणा का विचार करूँगा।'

सामवेदी ब्राह्मण ने तत्काल उत्तर दिया—'महाराज ! मेरे सामगायन से आपको आज ही अच्छी नींद आ जायगी। मैं सामगायन यहाँ बैठ के करता हूँ। आप स्नान करके अपने बिस्तर पर सो जाइये और सोते-सोते मेरा सामगायन सुनिये। आप को अच्छी नींद आ जायगी।'

यह सुनते ही स्नान करके श्री मंडलीकजी अपने बिस्तर पर सो गये और उनके पलंग के साथ महिसूरी पंडित का 'सामगायन' शुरू हुआ। सोते-सोते श्री मंडलीकजी सामगायन सुनते रहे। इस तरह आधा घंटा व्यतीत हुआ और श्री मंडलीकजी को जो नींद आयी, तो वे ३ घंटे तक अच्छी तरह आराम से सोते रहे।

सामवेदी ब्राह्मण वहीं बैठा रहा, सामगायन गाता भी रहा। निद्रा लगने के पश्चात् भी आधा घण्टा वह गाता रहा।

इससे श्री मंडलीकजी को वेदगायन पर उत्तम श्रद्धा बैठ गयी और उस ब्राह्मण का सत्कार करने के लिये उन्होंने ३००) तीन सौ रुपयों की दक्षिणा और उसको अच्छा प्रशंसा-पत्र भी दिया।

सामगायन का ऐसा प्रभाव है। आजकल के प्रयोगों से यह सिद्ध हुआ है, कि गोशाला में गौ के दोहन के समय में गायन किया जाय, तो गौ अधिक दूध देती है। धान्य के बीज बोये जायं और खेत में गायन के प्लेट लगाने से जो गायन के स्वर खेत पर असर करते हैं, उससे खेत में अधिक धान्य पिकता है।

हिंदूधर्म में देवपूजा घर-घर में की जाती है, उसमें 'नृत्यं गायनं वादनं' देवता को समर्पण करते हैं। आजकल लोग 'पानी छोड़ते हैं।' पर सचमुच प्रतिदिन प्रातःकाल और सायंकाल पूजा में 'गायन' होता रहेगा और घर के लोग उसको सुनेंगे, तो घर के लोगों को आरोग्य प्राप्त होगा।

गायन से मन शान्त होता है, हृदय का आरोग्य बढ़ता है, मस्तिष्क में समता और शान्ति बढ़ती है तथा नीरोगिता स्थायी रहने में सहायता मिलती है।

मेरा विश्वास यह है कि जहाँ रोगी रहते हैं, उन दवाखानों में मधुर गायन के प्लेट्स लगा दिये जायं, और रोगी उन गायनों को सुनेंगे तो उनका रोग शीघ्र दूर होकर उनको जल्दी आरोग्य प्राप्त होगा। जिनके हाथ में ऐसा करने का सामर्थ्य है वे यह उपाय अवश्य करें।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

MUSIC

(DR. SIR C. P. RAMASWAMY AIYAR)

"All Art constantly aspires towards the condition of Music". The statement of Walter Peter embodies the essential import and significance of the art. It is the universal language and depends on no visible representation or symbol. Its appeal is to the inner and eternal aspirations of humanity.

The Indian tradition claims that music is the pathway to all the aims of life, (all the Puruṣārthas) and asserts that it is the easiest and quickest mode of realisation of the Supreme and equates it with Brahma Jñāna.

The Rudra Vīṇā (adapted for man's voice) and the Sarasvatī or Mātangī Vīṇā (for the woman's), the ḍamaru of Naṭarāja, the mṛdanga of Viṣṇu, the flute of Kṛṣṇa, the dance of the Gopīs, the song of Rāmā or Mahālakṣmī and the Vedic chant of Brahmā are associated with the High Powers of the Universe functioning through harmony. The famous devotees, Nārada and Viśvāvasu represented the union of fervent faith with musical expression. Ardhanārīśvara was both the prefiguration and the perfected union and the culmination of all harmonies Five of the seven svaras are said to have emanated from Mahādeva as Pañcānana and the Ṣaḍja and Pañcama from Pārvatī. It is in the line of this tradition that Śrī Tyāgarāja in his memorable song asserts that the Trimūrti aspect of divinity was the product of the Upāsanā of Nāda (the worship of the sempiternal harmony) and the description of Śiva as Nādatanu (garbed in sound) is one of the formative world ideas.

We are indebted to that great scholar and critic Kīrtanāchārya C. R. Śrīnivāsa Aiyangār for his exposition of "Sangīta" as a synthesis or combination of song, instrumentation, dance and expression.....so understood not only by the Aryan but also by the Dravidian civilisation and regarded not only as a vehicle of pleasure but as an art of multiform expression and self-realisation. The Sāma Veda possessing the full complement of seven notes represented the juxtaposition of revelation and melody. The Tāmil Sangam literature and the later Śilappādigāram demonstrate the supreme position of music in Tāmil culture.

With this background, it is not a matter for surprise that as in the case of the Sāma Veda, the Tevaram and Tiruvācakam of the Śaivites, Tiruvoimoli of the Vaiṣṇavites and the Tiruppavai of Sri Andal, are set to music and dance in the Mārgī styles; the Kathākalī of Malabar representing the Kerala tradition. These traditions were allowed to stagnate until a great group of Bhagavatārs of the North revived them and introduced them to the South through the influence and patronage of the Maharatta Princes. The

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Gīta traditions of Govinda down to Mīrā Bāī and Haridāsa, and later on to Kṣetrajña and Purandara were followed, even bettered by the Trinity of the South, Dikshitar, Tyāgarāja and Śyāma Śāstrī and we have a succession of modern singers who combined in their lives and songs philosophy, religion and music.

The arts of Nartana (or dance) and Abhinaya fell into disrepute for several accidental reasons—and pharisaical and misconceived missionary influences operating on a slave mentality, produced a psychological reaction against an art and science associated with the Tāṇḍava of Śiva and the Lāsya of Pārvatī which Kālidāsa described in his "Mālavikāgnimitra" as the most acceptable sacrificial offering to the gods and as the most comprehensively satisfying mode of artistic approach suited to all tastes,

देवानामिदमामनन्ति मुनयः कान्तं क्रतुं चाक्षुषं ।
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाप्येकं समाराधनम् ॥

Fortunately, music and the several varieties of dance are now commanding the attention due to them and in the absence of the older type of patronage by Kings and noblemen, Musical Societies and Institutions like the Music Academy and Kalakshetra of Madras and the Shanmukananda Society of Bombay are playing an important part in their revival. All credit is due to them for discharging this truly national and essentially sacred duty.

It is needless to dwell upon the origin and significance of the Mārgī and the Dēśī styles; but enough is known to prove that the music of the people adopted and assimilated the prior scientific and formally elaborate technique and brought it into relation with the desires, yearnings and needs of the lay public,

Many scholars including Śrīnivāsa Iyengar, D. K. Roy and Danielou have helped to dissipate the notion that there is some intrinsic and ineradicable difference between Eastern and Western music or between the music of the North and the South of India. The elimination of the Joinder of sharps and flats in a Rāga distinguishes what is called Karṇātic music from North Indian and European practice. But even this difference is proved not to have been characteristic of the original system.*

There is a growing danger of vulgarisation and the lowering of standards due to a desire for cheap popularity and the demands of the "box office" and one of the services that should be performed by art lovers is to set their faces against such tendencies and to maintain music and dance on their appropriate pedestal.

---

* Really speaking the elimination of the Joinder of sharps and flats in a Rāga in Karṇātic music is attained by the use of alternative names of notes, but these alternative names can never alter the mutual intervals of notes and hence the joinder of sharps and flats is not really eliminated. The following chart will illustrate this point.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जीवन में कला

(काका साहेब कालेलकर)

संगीत तो भावनाकी भाषा है; जीवन का उद्गार है। सच्चे संगीत में भावनामय जीवन का पूरा प्रतिबिंब मिलता है। इतना ही नहीं, किन्तु आगे चलकर वह जीवन का प्रेरक भी बन सकता है। जीवन में जब नवरस विकसते हैं, जीवन जब चारों तरफ़ से सर्वांगीण, सर्वतोभद्र विकास करने लगता है तब साहित्य में, कला में और संगीतमें भी नवरस पूरे खिल सकते हैं। सारा जीवन यदि जागृत हुआ तो संगीत भी सर्वत्र जागृत रहेगा। जीवन जब मंद पड़ जाता है, जीवनरूपी अंगीठी पर जब खाक जम जाती है तब समाज में संगीत या तो अप्रतिष्ठित हो जाता है या संस्कारशून्य बन के रह जाता है।

जीवन के दोष जब तत्त्वज्ञान में आ जाते हैं, समाजशास्त्र में घुसते हैं, साहित्यको बिगाड़ते हैं फिर कला उनसे कैसे बच सकती है? निर्दोष, तेजस्वी और करुणामय जीवन ही शुद्ध संगीत, शुद्ध कलाको जन्म दे सकता है।

जीवन की पूर्वदशा में पहले सदाचार का विकास करना चाहिये। चारित्र्य को मजबूत करना चाहिये। सदाचार की महत्ता और दुराचार की हीनता हृदयपर एक शिलालेख की तरह अंकित हो जानी चाहिये।

इतना होने के बाद ही कला की दीक्षा लेने की तैयारी होती है।

जीवन की सफलता किसमें है, कैसा जीवन बिताने से हम निष्प्राण नहीं होते, हम में हीनता नहीं आती, हम विनाश के यात्री नहीं बन जाते—ये चीजें प्रथम ढूंढकर मन में ठसा लेनी चाहिये। और उसके आधार पर ही ऐसे मंगल जीवन के अनुकूल कला का विकास हमें करना चाहिये।

शरीर का, इन्द्रियों का अपने विषयों के प्रति आकर्षण होना स्वाभाविक है। इसी आकर्षणको अगर कोई कलावृत्ति मान बैठे, उसीको रसिकता समझे, तो वह न सिर्फ़ आत्मघात करता है, लेकिन कला का अपमान भी करता है। कला का व्यापार इन्द्रियगोचर भले हो, लेकिन उसका आनंद तो विषयातीत ही होना चाहिये।

Joinder of Sharps and Flats (according to Hindustānī nomenclature).	Karṇātic Nomenclature for the same note intervals
1. Komal Ṛṣabha and Śuddha Ṛṣabha.	1. Śuddha ṛṣabha and Śuddha Gāndhāra (This gāndhāra is alternatively called pañcaśruti ṛṣabha)
2. Komal Gāndhāra and Śuddha Gandhāra.	2. Ṣaṭśruti ṛṣabha and Antara Gāndhāra (This Ṣaṭśruti ṛṣabha is alternatively called Sādhāraṇa Gāndhāra).
3. Komala Dhaivata and Śuddha Dhaivata	3. Śuddha Dhaivata and Śuddha Niṣāda, (This śuddha niṣāda is alternatively called pañcaśruti dhaivata).
4. Komala Niṣāda and Śuddha Niṣāda.	4. Ṣaṭśruti Dhaivata and Kākali Niṣāda (Ṣaṭśruti Dhaivata is also called Kaiśika ni). *Editor.*

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संगीत की शिक्षा

(श्री रामनारायण चौधरी)

..... सन् १९२८ की बात है। मैं गांधीजी के प्रथम सत्संग के लिये एक महीने तक साबरमती आश्रम में रहा था। उनके आदेशानुसार उनके कमरे में बैठकर तकली चलाता, लोगों से उनकी बातचीत सुनता और उनसे अपनी शंकाओं का समाधान कराता रहता था। एक दिन मैंने उनसे प्रार्थना की "बापूजी, कोई बड़ा काम करने की इच्छा है। रास्ता बताइये!" उन्होंने मेरी आँखों में आँखें डालकर पूछा : "तुम्हें गाना आता है?" मैं आश्चर्य से उनकी तरफ़ देखने लगा और सोचता रहा कि इस सवाल का मेरी मांग से क्या सम्बंध हो सकता है। मेरी यह हालत देखकर वे बोले : "बताओ तो सही कुछ संगीत जानते हो या नहीं?" मैंने उत्तर दिया : "बापूजी, गाना बजाना तो नहीं, मगर सुनना जानता हूं।" उन्होंने कहा : "तो तुमने देखा होगा कि गाने वाले का स्वर ऊंचा हो या नीचा, गला सुरीला हो या साधारण, मगर जो गवैया अपने सुर पर पूरा ज़ोर लगा कर गाता है उसके संगीत में अपने आप मिठास और ताक़त आ जाती है। इसी तरह काम छोटा हो तो भी उसे सम्पूर्ण शक्ति लगाकर किया जाय तो वह अन्त में सफल होता है और फैलते-फैलते वही बड़ा बन जाता है।" मैंने जवाब दिया, "हां बापू, यह तो मैंने भी देखा है।" "लेकिन तुमने यह देखा है या नहीं कि अगर किसी तार के बाजे के दो तार एक स्वर पर मिले होते हैं तो एक को छेड़ने से दूसरा अपने आप बज उठता है। बरसात के दिनों में कभी-कभी मन्दिरों के नगाड़े अपने आप बज उठते हैं। इसका कारण भी यही बताया जाता है। इसका मतलब हुआ कि मनुष्य का असर समान-गुण-कर्म-स्वभाव-वालों पर अपने आप होता है।"

बहरहाल, मुझे तो गांधीजी के कथनानुसार संगीत से यह शिक्षा मिली है कि एकाग्र होकर समान वृत्ति वाले साथियों का साथ लेकर शुभ कार्य में रत रहने से मनुष्य को खूब सफलता मिलती है, कठिन से कठिन काम भी आसान हो जाते हैं और छोटे कार्य भी बड़ा रूप धारण कर लेते हैं। आज हमारे राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति के लिये एकाग्रता, एकता और एकरसता की ही सब से अधिक आवश्यकता है। ये तीनों गुण सात्विक संगीत से सुलभ हैं।

गोपाल—ज० मु० अहिवासी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ON BEAUTY

(ŚRĪ A. B. PURĀṆĪ)

Words like "beauty", "art" "poetry" are very difficult to define; though one feels what they are and experiences their action in one's self. Very often definitions fail to give the true idea of the thing defined.

One may say there is an instinct, or a spontaneous intuition in man, that recognises beauty: an eye within sees beauty. But all do not perceive beauty in the same form or object; if the inner eye is not open or the instinct not active, then beauty is not perceived. The poet Wordsworth complains: "The world is too much with us". We are so engrossed in the outer and material aspect of our life, its needs, cares and preoccupations that we lose sight of the gift of beauty.

Something about beauty may be known by finding out how it acts on man. Suppose one says. "Beauty captivates me" then it may be "charm" or "attraction"—something less than beauty that is working. If one says: "Beauty enthrals or enchants me", then it means it casts a spell upon him; it may be a net that catches a helpless victim. When one says: "Beauty liberates me" then he has come in contact with the real thing. True beauty frees the soul from all self-regarding reactions, it gives another view of self and the world, may reveal an aspect of the Divine, may inspire one to unconditional self-giving.

These various grades of perception of beauty show that the experience of beauty is relative; it can be arranged in a hierarchy.

Even the object perceived as "beautiful" has two aspects, objective and subjective. Tagore illustrates this by citing the 'rose' which is universally accepted as beautiful. The beautiful rose is really a hard worked labourer in Nature's workshop; it has no time to be a dandy. The plant must absorb the necessary chemical elements from the soil and water, it must breathe the air and take in the dose of sun-light in the required quantity in order to live. In this round of life rose has no respite, it is like a slave.

But when it enters man's consciousness it becomes a symbol of perfect leisure and freedom. Man sees the rose as a wonder of beautiful form, design and colour. Still greater mystery is that it has sprouted from the soil that man looks down upon as inert and dirty. The heart of this unconscious earth guards this beauty and attains its joyful liberation in the form of perfume that pervades the air. But this perception

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

of the rose as an object of such wonderful beauty does not come to men everyday. Even when the gardener decorates the vases with the roses it is often a mere conventional act, a dry duty and not a communion with beauty Such a communion is likely in the silence of early morning if one happens to witness the miracle of the opening of the rose-bud. One has then the overwhelming shock of delight, touched, perhaps by a feeling of regret that so much beauty flows to waste in the world everyday, every hour.

The Japanese have cultivated the habit of silent appreciation of flowers and raised it to an art and a spiritual ritual.

One can say that beauty is Nature's effort to awaken man to the universal harmony or that beauty is a sign that Nature is not unconscious in its depth and she waits to carry her message to man.

Sri Aurobindo in his *Future Poetry* defines beauty as "the intense impression, the concentrated form of delight". The all-pervading Divine manifests at each point something unique which endows it with special quality of beauty. Beauty may be said to be the power of the Eternal when it turns towards manifestation. This infinite content of beauty in the Eternal can find expression in a small fraction of time, in an apparently insignificant object. Sri Aurobindo speaks about it in his poem *In Horis Eternum*. He says that the perception of the Eternal can be a "moment mere" : an instantaneous perception of beauty "in a touch" "in a smile" "in a sound" bringing the percepient in touch with the Eternal. Outwardly, it may be something insignificant, but it is charged with the burden of that which is behind all forms and objects. The human spirit through the sense catches not merely the vibartion of the thing but something that touches the soul. For instance, there are smiles and smiles, but the one that becomes the most precious possession of the Soul and abides unchanged is rare.

When the harmony in the relations between the innumerable forms of beauty is manifested then the divine symphony can play in life ; then the circle of Rāsa, the rhythmic, ecstatic dance—of the individual with the Divine would be in full swing. Delight is the originating cause of the manifestation of the cosmos, infinite play of delight is its culmination in life. "World-existence is the ecstatic dance of Shiva which multiplies the body of the God numberlessly to the view : it leaves the white existence precisely where and what it was, ever is and ever will be ; its sole absolute object is the joy of the dancing." (*Life Divine*,.

Experience of Beauty

In ancient times religion encouraged the experience of beauty as an aspect of the Divine. There were puritanical religions like Protestant Christianity, or some

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

philosophical schools that condemned beauty, or encouraged renunciation as an indispensable spiritual act.

But in India the Upanishad speaks of the supreme as *raso vai sah*, "He is of the nature of the sap of delight". Sri Aurobindo explains *rasa*: "Rasa is a concentrated taste, a spiritual essence of emotion, an essential aesthesis, the soul's pleasure in pure and perfect source of feeling" (*Future Poetry*).

Later, tha Vaishṇava religion and the Shaivism of South India have spoken of beauty not only as one, but the highest aspect of the supreme: The Divine is "Bhuvan Sundara"—the All-Beautiful, *nikhila rasāmṛta sindhu*, "the ocean of the entire Ambrosia of delight", He is *akhila saundarya nidhi*, "the treasure of all beauty". Even in the middle ages the saints accepted the same conception. Today Tagore says: *Vairāgya sādhane mukti, se āmār noy*, "the liberation that is attained by renunciation is not for me; I feel the embrace of freedom in a thousandfold bonds of delight". He wants to keep the doors of the senses open and feel the universal delight.

So did Kabir sing a few centuries ago: *santo sahaja samādhi bhalī*—"O holy men! spontaneous samādhi is the best." He proceeds: "Since I got the vision of the Lord, my consciousness does not turn inwards. No longer do I close my eyes or ears, nor do I mortify my body; with eyes open and a smile on my lips, I behold the beautiful form of the Lord everywhere. In the centre of all form is the Formless, yet ineffable is the beauty of the Form."*

These great men do not find it necessary to close the doors of the senses to perceive the Divine. But one has to bear in mind the fact that all men always keep the door of their Senses open, and yet all do not have the vision of the divine beauty. There is need for Sādhana in order to perceive it.

But what is the experience of beauty? What does one mean when he says "This thing is beautiful"?

Perhaps one wants to say, "I feel this object rhythmic, it is well proportioned, its parts are harmoniously set, it is as it should be." or; perhaps, that is not the correct way of putting it; for parts of a machine might satisfy these conditions—and though one may find some machines beautiful—yet a machine hardly can be beautiful—it seems too mechanical too utilitarian, too dry. One may put his experience like this: "my inner soul and my nature are attracted by this object which has spontaneous

---

* ānkha na mūndūn, kāna na rūndhūn, kāyā kaṣṭa na dhārūn
khule nayana meṅ has has dekhūn
sundar rūpa nihārūn
sabehin mūrata bīch amūrata
mūrata kī balihārī

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

harmony." Generally in the thing that is felt as beautiful one wants to assert that the inner truth which is trying to manifest in it has succeeded in its objective without distortion, or diminution; there is a perfect accord between the inner being and the outer form. Thus, beauty is the quality of an object or form which, when experienced, gives to the subject the sense of harmony, of perfect proportion, of appropriateness, feeling of attraction for the subject is necessary: it is also shown by the fact that all do not perceive beauty in the same object and in the same way. . .

The experience of beauty can be said to be relative, depending upon one who perceives it. At some unforeseeable moment, or condition, the relation between the two—subject and object—becomes so special, so unique that it satisfies the thirst for beauty in the heart.

One may question: Is there thirst for beauty? The answer is: yes. Man is ignorant and lives in a world without harmony, but in his heart of hearts he has a faith that in the centre of this vast and dynamic universe there is self-existent harmony at work, a harmony that so satisfies him that even a glimpse of it makes him feel as if the very purpose of creation were fulfilled. Beauty is the language of the all-pervading delight of existence calling men to itself.

Experience of beauty is the direct proof of the unity of all being and of the presence of the all-pervading delight which spills itself into two jets of beauty and delight, it can manifest itself in Matter to a soul encased in senses.

One or two instances may be here related to help one to understand the nature of the experience of beauty.

The first is an experience of Tagore during his childhood. A private school was run for the children of the Tagore family. Among the subjects taught anatomy was also included. One day, the teacher of anatomy brought the bone of a hand isolated from the human skeleton for the lesson. Tagore felt terribly shocked at the sight of the bone unrelated to a human body: he could not see it except as an organic part. Isolated from its natural place and function it appeared meaningless and was ugly.

Another experience of Tagore is cited in his own words: "One day I was out in a boat on the Ganges. It was a beautiful evening in autumn. The Sun had just set; the silence of the sky was full to brim with ineffable peace and beauty. The vast expanse of water was without a ripple, mirroring all the changing shades of the sunset glow. Miles and miles of a desolate sandbank lay like a huge emphibious reptile of some antideluvian age, with its scales of glistening in shining colours As our boat was sliently gliding by the precipitous river-bank, riddled with the nest holes of a colony of birds, suddenly a big fish leapt up to the surface of the water and then disappeared, displaying on its body all the colours of the vanishing sky. It drew aside for a moment

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

the many-coloured screen behind which there was a silent world full of the joy of life. It came up from the depths of its mysterious dwelling with a beautiful dancing motion and added its own music to the silent symphony of the dying day. I felt as if I had friendly greeting from an alien world in its own language, and it touched my heart with a flash of gladness. Then suddenly the man at the helm exclaimed with a distinct note of regret "Ah, what a big fish". (*Sōdhanā*)

A beautiful river to a painter's view is not the same as it is to a thirsty man.

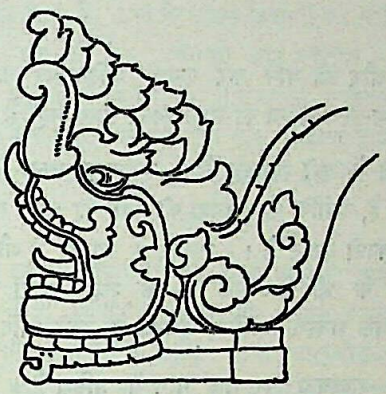

By M. V. K.

तुम्बी-स्तुति

तुम्बी ! तपसा साचो तुम्हारी ।

परहित लगि तैं निज तन सोख्यो अन्तर रहि अविकारी ॥
तिनहि सुनावति मधुर शब्द अति जे तुम कडुवी पुकारी ॥
यह उदारता तोल न आवे देवसंपदा सारी ॥
प्रणवनाद तोरे तन प्रकटत स्वरगुंजार मझारी ॥
सो नारद शारद नित सेवत सादर निजकर धारी ॥
आप तरे औरन को तारे संतन कोटि तुम्हारी ॥
'भावरंग' अंबिके तुंबिके करु मोहि भवजल पारी ॥

पं० बलवंतराय भट्ट 'भावरंग'

नादाब्धेस्तु परं पारं, न जानाति सरस्वती ।
अद्यापि मज्जनभयात्, तुम्बं वहति वक्षसि ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ॐकार-साधन

महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज

शास्त्र से ज्ञात होता है कि ब्रह्म एक, अखण्ड, अद्वैत होने पर भी परब्रह्म और शब्दब्रह्म इन दो विभागों में कल्पित होता है। शब्दब्रह्म को भली भांति जान लेने से परब्रह्म की प्राप्ति होती है। 'शब्दब्रह्मणि निष्णातः परंब्रह्माधिगच्छति।'

शब्दब्रह्म का स्वरूप जानना और उसे जान कर उसका अतिक्रमण करना, यही मुमुक्षु का एकमात्र लक्ष्य है। उसका अतिक्रमण किए बिना विशुद्ध परम-तत्त्व चैतन्य का साक्षात्कार संभव नहीं है।

जिसे प्रणव या ॐकार कहते हैं, वही शब्दब्रह्म है। उपनिषत्, शाक्त–शैवागम, योग-शास्त्र आदि में लिखा है कि प्रणव को भली भांति जानना आवश्यक है, क्योंकि वह परब्रह्म की प्राप्ति का उपाय तो है ही, साथ ही परब्रह्म से अभिन्नरूप भी है। माण्डूक्योपनिषत् में इसका काफ़ी वर्णन है। ॐकार में मात्राएं हैं और उसका अमात्रक अर्थात् मात्राहीन शुद्ध रूप भी है। उसकी मात्रायुक्त अवस्था के भी दो भेद हैं–एक शुद्ध, दूसरा अशुद्ध। उसके मात्रायुक्त शुद्ध रूप का परिचय योगियों को मिलता है। अमात्रक अवस्था अप्रमेय, अखण्ड है, उसके आदि अन्त का निर्णय नहीं हो सकता।

साधारणतः आगमशास्त्र में शब्दब्रह्म परावाक् नाम से प्रसिद्ध है। परावाक् का स्वरूप एक होते हुए भी द्वैत-दृष्टि तथा अद्वैत-दृष्टिके भेद से बुद्धिजीवी मनुष्य को किंचित् भिन्न प्रतीत होता है। द्वैत दृष्टि से कहा जाता है कि परमेश्वर का स्वरूप चिदानन्दात्मक है, शक्ति भी चिदानन्दरूपा है; उभय में 'शक्ति-शक्तिमान्' के सिवाय कोई भेद नहीं है। चिद्रूपा शक्ति से भिन्न परमात्मा की अचिद्रूपा शक्ति भी है, जो बिन्दु है। इसीका दूसरा नाम महामाया है। यही चिदाकाश अथवा कुण्डलिनी है। इसे परिग्रह शक्ति या उपादान शक्ति भी कहते हैं। पहली शक्ति चिद्रूपा समवायिनी शक्ति है, जो परमेश्वर में अभिन्नरूप से वर्तमान रहती है। दूसरी ओर 'परिग्रह', परमेश्वर की शक्ति होते हुए भी परमेश्वर से भिन्न है। चिद्रूपा शक्ति की सक्रिय अवस्था में क्रिया के प्रभाव से बिन्दुरूपा 'परिग्रह' शक्ति में क्षोभ होता है। जैसे समुद्र में वायु के आघात से तरंग उठती हैं, वैसे ही बिन्दु में भी लहर उठती हैं। यह लहर ही बाहर नाद तथा ज्योति के रूप में प्रकट होती हैं। नाद का प्रकटीकरण वाक् के रूप में तथा ज्योति का प्रकटीकरण अर्थ के रूप में होता है। ये वाक् और अर्थ परस्पर संश्लिष्ट रहते हैं—'वागर्थाविव संपृक्तौ'। इनमें से प्रत्येक की तीन अवस्थाएं होती हैं–परम, सूक्ष्म तथा स्थूल। इसी क्रम से अवरोह होता है। इस दृष्टि से बिन्दु से वाक् के आविर्भाव के क्रम में परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी–ये चार प्रकार की वाक् शास्त्र में कही गई हैं। परा वाक् शुद्ध ज्ञान में विकल्प-रूप से अनुगत होकर, शुद्ध यानी निर्विकल्पक ज्ञान को अशुद्ध यानी सविकल्पक बना देती है। साधक को चाहिए कि योग द्वारा ज्ञान के इस विकल्पकांश को हटा दे और शुद्ध निर्विकल्पक ज्ञान में स्थित हो। यह निर्विकल्पक ज्ञान परा वाक् से भी अतीत है। परा वाक् का लंघन किए बिना सर्वथा निर्विकल्प स्थिति प्राप्त नहीं होती।

यहाँ तक हम ने द्वैत दृष्टि से दर्शन किया। परन्तु अद्वैत दृष्टि इस से विलक्षण है। अद्वैत दृष्टि-सम्पन्न लोग परावाक् को परमेश्वर की स्वाभाविक शक्ति या माहेश्वरी शक्ति मानते हैं—'परावाक् स्वरसोदिता' अर्थात् परावाक् स्वाभाविक है, आगन्तुक नहीं,—उसी का विमर्श भाव है; परावाक् भिन्न वस्तु नहीं; उसका कदापि अपाय नहीं होता। जब परमेश्वर विश्व-लीला-रचना के लिए अपने स्वातन्त्र्य से अपने को परिच्छिन्न करते हैं, 'आणवमल' ग्रहण करते हैं,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तब ग्राहक-ग्राह्य-भाव का उदय होता है। पूर्ण स्थिति परप्रमातृ-रूप है, वहाँ प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण की त्रिपुटी नहीं है। किन्तु स्वातन्त्र्य के कारण परमेश्वर इस अद्वैत स्थिति में द्वैत-भाव उत्पन्न करते हैं और तब ग्राहक-ग्राह्य-ग्रहण की त्रिपुटी उत्पन्न होती है। ग्राहक चिदणु या माया-प्रमाता है; यही 'चित्त' है। इसके सामने 'ग्रहण' का विषयभूत अंश है विषय अथवा ग्राह्य। चित्तरूपी ग्राहक के सामने विषयरूप से निरन्तर विकल्पात्मक अर्थों का आविर्भाव होता रहता है। इस प्रतिक्षण आविर्भाव का हेतु है परमेश्वर की पराशक्ति या परावाक्। जैसे वेदान्त में मूल अविद्या का द्विविध कार्य है—स्वरूप का आवरण तथा विक्षेप का उद्भावन, उसी प्रकार परावक् का कार्य द्विविध है—स्वरूप का आच्छादन और विकल्प को प्रकट करना, यानी विक्षेप का आविर्भाव होने के पूर्व परमेश्वर का स्वरूप आच्छन्न हो जाता है। जो 'माया-प्रमाता' अपने स्वरूप को विस्मृत हो जाता है, उसी के सामने विकल्पों का आविर्भाव होता है। यही विकल्प क्रमशः घनीभूत हो कर अष्टवर्ग के रूप में प्रकट होते हैं। इसीलिए आठ शक्तियाँ—ब्राह्मी, माहेश्वरी, कौमारी इत्यादि नामों से शास्त्र में प्रसिद्ध हैं। इस अवस्था में देह का आविर्भाव होता है तथा देह में आत्मबोध का आविर्भाव होता है अर्थात् अनात्म में आत्मबोध तथा आत्म में अनात्मबोध उदित होता है। वेदान्त दृष्टि से यही अध्यास का रूप है। इस के बाद यह अष्टवर्गीय शक्ति और भी विभक्त होकर पञ्चाशत् मात्रिकाओं के रूप में परिणत होती है। यही स्वर-व्यञ्जन भेद से वर्णमाला के नाम से प्रसिद्ध है।

योगियों का परम प्रयोजन है इस भेद-दृष्टि तथा विकल्पमयी सृष्टि का उल्लंघन करके शुद्ध बोधात्मक स्वात्म-स्थिति में प्रवेश। इसके लिए उपाय तो बहुत-से हैं, किन्तु सबसे सरल और सुगम उपाय नादानुसन्धान माना जाता है। यह नाद वस्तुतः और कुछ नहीं, वर्णों की समष्टि-भावापत्ति के अनन्तर तथा अष्टवर्गीय शक्तियों के एकीकरण के अनन्तर अभिन्न रूप से स्फुरण है। मन्त्रशास्त्र में जिसे मन्त्र चैतन्य कहते हैं, वह वस्तुतः इस प्राणमय नादशक्ति का ही आविर्भाव है। शास्त्र में कहा है कि यावतीय मन्त्रों की परमा प्रकृति प्रणव या ॐकार ही है। इस प्रणव में अकार, उकार, मकार, बिन्दु, अर्धचन्द्र, निरोधिका, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना तथा उन्मना इतने अंश हैं। जप के द्वारा अथवा भावना के द्वारा या और किसी योग-प्रक्रिया के द्वारा इस उन्मना पद तक आरोहण आवश्यक है। जब तक इस पद की प्राप्ति नहीं होती, तब तक मनोराज्य का अवस्थान जानना होगा। इस मनोराज्य में शुद्ध तथा अशुद्ध दो विभाग हैं। अशुद्ध विभाग मायिक है और शुद्ध विभाग शुद्ध माया अर्थात् योगमाया का है। अशुद्ध विभाग में प्रणव के प्रथम तीन अवयव कार्य करते हैं—अकार, उकार और मकार। स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण इन तीन भूमिकाओं में इन तीन अवयवों का कार्य होता है। मकार-भेद करना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि शुद्ध ज्ञान का उदय मकार-भेद से ही होता है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीन अवस्था प्रणव की पहली तीन मात्राओं में विद्यमान हैं। परन्तु तुरीय तथा तुरीयातीत अवस्था चतुर्थ अवयव से शुरू होती है और अन्तिम अवयव तक चलती है। प्रणव का चतुर्थ अवयव 'बिन्दु' नाम से प्रसिद्ध है। इस शुद्ध राज्य में तीन विभाग हैं, एक बिन्दु का, दूसरा नाद का और तीसरा कला का। बिन्दु के विभाग में तीन, नाद के विभाग में दो तथा कला के विभाग में शेष सारे अवयव स्थित हैं, ऐसा समझना चाहिए। यह बिन्दु ज्योतिस्वरूप है। पातञ्जल योगशास्त्र में जैसे संप्रज्ञात समाधि के अनन्तर असंप्रज्ञात समाधि का विवरण मिलता है, उसी प्रकार तान्त्रिक योग में प्रणव के प्रथम तीन अवयवों के बाद अर्धमात्रारूपी चतुर्थ अवयव का विवरण आता है। वस्तुतः बिन्दु से समना-पर्यन्त अर्धमात्रा के ही अन्तर्गत है। यद्यपि बिन्दु ही वास्तव में अर्धमात्रा है, तथापि बिन्दु के अनन्तर प्रतिपद में तत्पूर्ववर्ती मात्रा का अर्धांश माना जाता है। जैसे बिन्दु में एक मात्रा का अर्धांश है, उसी प्रकार अर्धचन्द्र में बिन्दु का अर्धांश है, निरोधिका में अर्धचन्द्र का अर्धांश है—यही क्रम 'समना' तक चलता है। यह अंश या मात्रा किसके हैं? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि ये वास्तव में मन की मात्रा हैं। उन्मना वास्तव में अमात्रक है, उसकी 'मात्रा' नहीं है, क्योंकि मन भी नहीं है। मन की ही 'मात्रा' होती है, विशुद्ध चैतन्य की मात्रा नहीं होती। योगी का परम उद्देश्य यह है

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कि स्थूल मात्रा से क्रमशः सूक्ष्म मात्रा में होते हुए अमात्रक स्थिति में पहुँचा जाये। किन्तु यह हमेशा स्मरण रखना चाहिये कि मात्रा की क्रमशः न्यूनता-संपादन करने से कभी अमात्रक स्थिति का लाभ नहीं हो सकता। इसीलिये योगियों के समाज में यह विधान है कि मात्रांश जब अत्यन्त सूक्ष्म हो जाता है, तब उसे वहीं पर समर्पण कर देना चाहिये। वस्तुतः यही योगी का आत्मसमर्पण है। समना पर्यन्त मात्रा का सूक्ष्म अंश माना जाता है। किसी मत में यह एक मात्रा का २५६ वाँ भाग है, और किसी मत में यह एक मात्रा का ५१२ वाँ भाग है। कुछ भी हो, मात्रा का अर्थात् मन की मात्राओं का त्याग यहीं हो जाता है। इसके बाद मन का संबन्ध नहीं है। उन्मना में न मन है, न मात्रा है, न काल है, न देश है, न देवता है, न प्रपञ्च का कोई भी अंश है। वह शुद्ध चिदानन्द-भूमि है। वही परम लक्ष्य है।

पहले जो नाद कहा है, वह बिन्दु की परवर्ती अवस्था है। बिन्दु ज्योति-स्वरूप है यह पहले कहा गया है। यह प्रपञ्चस्थित वाच्य अर्थों के महासमष्टिरूप में एकीभूत होकर प्रकाशमान है। भ्रूमध्य के किञ्चित् ऊर्ध्व देश में बिन्दु का साक्षात्कार होता है। इस बिन्दुरूप ज्योति में समग्र विश्व अभिन्न रूप से भासमान है। जिसे बिन्दुलाभ हुआ है, उस के लिए त्रिकालदर्शन अथवा जगत् के यावतीय अर्थों का साक्षात्कार करस्थित आमलकवत् है, क्योंकि योगी की इच्छाशक्ति के प्रभाव से उसी बिन्दुरूप ज्योति में अतीत, अनागत, वर्तमान, दूरस्थ तथा निकटस्थ, स्थूल तथा सूक्ष्म यावतीय पदार्थ प्रकट होते हैं। यह हुआ वाच्य (अर्थ) की दिशा में विवरण। अब वाचक को ले लें।

वाचकों की महासमष्टिरूप एकीभूत स्थिति का नाम नाद है। जैसे बिन्दुरूप ज्योति में इच्छानुसार अर्थ का साक्षात्कार होता है, क्योंकि उसी में अर्थ-समष्टि स्थित है, ठीक उसी प्रकार नाद में निखिल विश्व का, अनन्त वाचकों का, अनंन्त मन्त्रों का साक्षात्कार होता है। इसीलिए कोई भी मन्त्र चेतन होने पर नाद की ही अवस्था में उपनीत हो जाता है। अतः बिन्दु तथा नाद जगत् के अनन्त वाच्य तथा वाचकों की एकीभूत समष्टि के द्योतक हैं। परन्तु योगी कहते हैं कि इसे भी अतिक्रमण करना चाहिए। बिन्दु का अनुभव भ्रूमध्य के ऊर्ध्व में होता है तथा और भी ऊर्ध्व में ब्रह्मरन्ध्र की अन्तिम सीमा तक नाद का अनुभव चलता है। नादान्त-भेद होने पर स्थूल-दृष्टि से देह का भेद हो जाता है। अतः इस नाद का अवलम्बन ले कर ही नाद के अन्त में पहुँचना चाहिए। नाद का अन्त हुए बिना देहात्मबोध छिन्न नहीं हो सकता। जब आत्मसत्ता का बोध देह के बाहर भी अनुभूत होने लगता है, तब शक्ति का साक्षात्कार होता है। यह शक्ति का साक्षात्कार साकार विश्व-प्रपञ्च के लंघन का सूचक-मात्र है। साकार जगत् के अतिक्रमण के साथ ही साथ महाशून्य का साक्षात्कार होता है। ध्यान रहे कि यह महाशून्य भी प्रणव के एक अंश में विद्यमान है, क्योंकि प्रणव के विभन्न अवयवों में से यह भी एक है। महाशून्य में सृष्टि नहीं है; सृष्टि का उदय नहीं हुआ है; यह भी सत्य है और उदित सृष्टि का अस्त हो गया है, यह भी एक सत्य है। महाशून्य भेद किए बिना समना-रूप सृष्टि की बीजभूमि का दर्शन नहीं मिलता। वस्तुतः सृष्टि का आदि समना से ही समझना चाहिए। महाशून्य भी खण्डित सृष्टि के अन्तर्गत है, किन्तु वह भाव सृष्टि नहीं, अभाव सृष्टि है। इस समना शक्ति का साक्षात्कार और कुण्डलिनी शक्ति का साक्षात्कार एक ही बात है। वह प्रसुप्त भुजंगवत् विद्यमान है, जिसके गर्भ में भावरूप तथा अभावरूप अनन्त सृष्टि निहित है। परन्तु योगी कहते हैं कि इसे भी भेद करना चाहिए, क्योंकि इस भूमि से ही मन का उद्गम होता है और मन ही क्रम का निदान है। जगत् का कार्य-कारण-भाव या पूर्वापरभाव या और किसी प्रकार के क्रम-विन्यास-भाव का मूल है मन। मन के भी मूल का जब तक उल्लंघन न किया जाय तब तक स्वयंप्रकाश चिदानन्द संवित् का अधिगम नहीं हो सकता। अन्त में मन के द्वारा ही मन का उल्लंघन करना पड़ता है। अवश्य, मूल में परमेश्वर की अनुग्रहरूपा चिच्छक्ति का व्यापार तो है ही, क्योंकि शक्तिपात बिना यह लंघन-कार्य संपन्न नहीं हो सकता।

नाद के प्रकरण में इतना ही वक्तव्य है कि साधक चाहे किसी भी साधन-प्रक्रिया का अवलंबन करे, उसे तुरीयावस्था में नाद का आश्रय-ग्रहण करना ही पड़ता है। कर्तृत्वाभिमान लेकर व्योम या आकाश में अग्रसर होना

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कठिन है। नादशक्ति का आश्रय लेने पर वह नाद-शक्ति ही साधक के मन, वाक् तथा बिन्दु (देह) को अग्रसर होने में सहायता करती है। विशुद्ध चैतन्य की प्रबुद्ध अवस्था प्राणराज्य में नाद-रूप से आत्मप्रकाश करती है। यह नाद-साधना ही वस्तुतः ॐ कार की साधना है। इस साधना में पारंगत होने पर केवल नाद का ही अतिक्रमण नहीं होता, अपितु शून्य का भी अतिक्रमण होता है और अन्त में मन का भी अतिक्रमण होता है, जिस का फल है परमेश्वर से तादात्म्य-लाभ तथा उस तादात्म्य की अनुभूति।

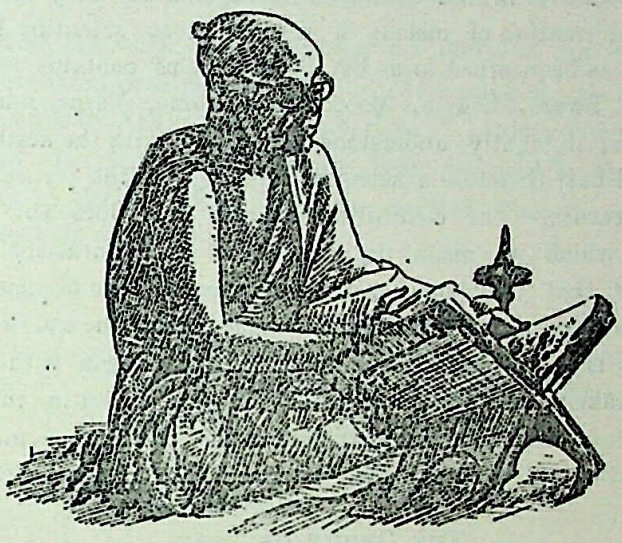

PANDIT

BY. M. V. K.

धूम्र तम भेद नर भभक उठ अनल सम।
अपनी ही ज्योति से झलक उठ बन्धु मम॥
काल को बन महाकाल तजि मोह मद।
'भाव' को 'रंग' भर गान कर अमर पद॥

गायनवादनाचार्य पं० बलवन्तराय भट्ट 'भावरंग'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

IS THĀT OR MĒḶA A SHASRAIC OR SCIENTIFIC CONCEPT ?

PROF. K. VASUDEVA SASTRI.

Music is the art of producing sounds that give pleasure to the hearer. We call such sounds 'melodious'. The Science of music must therefore aim at discovering those rules that ensure pleasure in the arrangement of sounds. Any concept that does not concern itself with the creation of melody in sounds has no scientific bearing on music. Our Sangita Shāstra as bequeathed to us by the Maharshis contains only such concepts and they are: Śruti, Swara, Grāma, Moorchana, Krama, Varṇa, and Alankāra. Each one of these concepts, if rightly understood has to do with the aesthetic or emotional appeal of music and has therefore a scientific bearing on the pleasurable appeal to the heart, the seat of pleasure. The concept of Thāṭ or Mēḷa does not find a place in our Sangita Shāstra by which we mean the texts that have authority by themselves on account of the fact that they have been left by seers. The concept does not find a place in any of the original text or compilations made before the end of the 12th century A. D. The concept is a mechanical classification of Rāgas with reference to the particular form of Prākrita and Vikirta Swaras that are found in them. This classification has nothing to do with the rules that govern the creation of melodies or with the æsthetic or emotional appeal of rāgas which is termed 'rasa' in our texts.

THE ORIGIN OF THĀT

The concept of 'Mela' or 'Thāt' came into existence after the Dark Age in our cultural history due to invasions that threw into oblivion all our cultural treasures. This was between 1000 and 1200 in Northern India and 1300 and 1400 in South India. The musical tradition that we now have both in the North and in the South consists of the revival of the art after the Dark Ages. There are some musicologists who are under the impression that our musical theory has had an unbroken continuous development in the course of which the new concepts have been deliberately adopted in preference to the old ones. For them, this will be new. In the South, the revivalist movement was initiated by Śri Vidyāranya, the ascetic-minister of the Vijayanagar Emperors. Under his direction, new treatises on almost all subjects were written with the help of the remnants of the texts and traditions available after the Dark Age. In music, he gathered together all the available rāgas that survived in the nooks and corners of the country. The names and forms of the rāgas gathered from several corners had each its own

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

provincial features and could not be identified with the forms and names found in texts such as those of Dattilam and Matanga and in Compilations such as Sangīta Samayasāra and Sangīta Ratnākara. The concepts in the texts, namely Śruti, Swara, Grāma, Moorchana etc. could not be correctly understood on account of the break in the continuity of tradition. The attempt at connecting the surviving Rāgas with the theoretical concepts of the Shāstras proved unsuccessful. But something had to be done to preserve and remember the forms of rāgas gathered together from odd corners after enormous labour. A mechanical classification was therefore thought of under the name of Mēḷa.

THE MĒLAS OF VIDYĀRAṆYA

'Sangīta Sāra', the work of Vidyāraṇya on music is not available today; but its contents have fortunately been preserved in the later work of the early 17th century, namely, 'Sangīta' Sudhā by Raghunatha Nāyak, King of Tanjore and his minister, Govinda Dikshita. 50 Ragas are mentioned as having been gathered by the revivalists and they were classified into 15 Mēlas. Each Mēla was named after the most popular of the constituent rāgas in those days.

THE MELAS WERE :—

Name of Mela	Name & No. in 72 melas Scheme	Corresponding Thāt (or Rāga) of Hindustani system
1. Gurjarī mēla (16 rāgas)	'Māyā mālava gaula (15)	Bhairava
2. Bhairavī „ (5 rāgas)	Naṭabhairavi (20)	Āsāvari
3. Ahiri mela (2 rāgas)	Kiravani (21)	Pilu
4. Sri Rāga „ (9 rāgas)	Kharaharapriyā (22)	Kafee
5. Kambhoji „ (1 rāga)	Harkambhoji	Khamaj.
6. Śankarābharaṇa mēla	Dhīraśankarabharana (29)	Bilāval
7. Dēśakśī mēla	Śulini (35)	—
8. Śuddha rāmakunjā „	Kāmavarohani (51)	Purvi
9. Varāṭī mēla	Jhala varāli (39)	—
10. Naṭṭa mēla	Cala nāṭa (36)	—
11. Mukhārī mēla	Kanakangi (1)	—
12. Vasanta bhairavi „	Vakulābharanam (14)	Bhairavi

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

13. Hejjujji	Dhenukā (9)	—
14. Sāmanta	Nāgabharanam (30)	—
15. Kēdāragaula	—(a variant of 28)	—

Thus, out of the 72 melas theoretically calculated later by Venkatamakhi, and now in popular usage, only 15 melas were necessary for the 50 ragas available to Sri Vidyāranya about 1400 A. D. They are melas 1, 9, 14, 15, 20, 21, 22, 28, 29, 30, 35, 36, 39, and 51.

THE MELAS OF RĀMĀMĀTYA

The next text-writer is Rāmāmātya (1556 A. D.) of the Vijianagar Period. He had gathered some 14 more rāgas and had therefore to add 5 or 6 more melas. The new melas he has added are : 2, 3, 7, 8. 24 and 33 according to the 72 melakarta scheme. He has made a distinction between the Sādhāraṇa Gāndhāra (10th Śruti) and Kaisikī Nishada (1st Śruti) on the one hand and the old Antara (11th Sruti) and Kākalī (2nd Sruti) on the other. This distinction is slurred over both by Sri Vidyāranya and Venkatamakhi.

THE CONFLICT OF VIEWS

It is found on a comparison of the identification in these two books that they differ in fixing the swarasthāna of the same Rāga in more than one place. In fact, we have in the Saraswati Mahal Library, Tanjore 10 manuscripts containing lakshanas of ragas in terms of mela by 10 different contemporary authors, all of apparently the same authority. The identification of swaras of the same rāga differs one from the other as also the number of melas which range between 20 and 30. That the identification of the swarasthanas of the swaras of ragas is an extremely difficult matter and that our rough and ready method of relying either on our ear or on stringed instruments is unreliable is demonstrated by these manuscripts.

HOW TO FIX THE SWARASTHĀNAS

A surer method of fixing the swarasthānas will be the use of the samvādi relationship with its ensured interval of 9 or 13 Srutis. This method is extremely easy to apply. But so far as I have seen, this does not appear to have been regularly used by any other text-writers who have pinned their faith on the identification of swaras, namely, the text writers of the Post-Dark Age. Nor does it appear to have been regularly employed by North Indian authors, though they have fixed the prime Vādi and Samvādi of each Rāga. It may not be that all the swaras in the rāga will have each its samvādi present in its structure. *But there is this characteristic feature in the sancāra of rāgas that you stay longer in swaras having their samvadi, than in swaras not having Somvadis and then in the latter*

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

case you often slur over them. Often, of course, a swara prolongs itself into the domain of the next swara for the purpose of satisfying the samvādi relationship and thus secure harmony. This is called 'Swara gumphana' by Ramamatya. Sometimes a 'Gamaka' serves the purpose; for a Gamaka consists in the up and down throwing of swara and its adjacent swara. But such instances can be easily detected. Apart from these, the samvādi relationship can safely be used for determining the swarasthānas of swaras.

PITFALLS OF MELA

A safe rule to musicians will be not to rely upon the name and identification of swaras mentioned in text-books however great they may be, but to rely upon the traditional practice even if it appears to go against the rule in the texts. There are more reasons than one for this caution, for apart from the conflict of authorities on the subject, the swarasthanas are being changed to suit provincial taste and the change of times. And in these instances, the change in one swara has to be accompanied by a corresponding change in its samvādi to maintain 'rakti'. Often an unconscious change in the swara is made without the corresponding change in its samvādi in deference to the rules of the mela or Thāṭ in text-books. The result is lack of 'raktī'. It is for this reason that *Dattila, Matanga and Sangīta Ratnākara do not mention as one of the lakshanas the prakrita and vikrita swaras composing the rāgas.* The important rule to be observed is the maintenance of Samvāditwa between swaras which may vary to suit provincial tastes and not the particular form of the several swaras.

THE 72 MELA-KARTĀ SYSTEM

The later history of the melas is well-known to all. The pell-mell of views resulted in the theoretical computation of all possible-melas using the swaras in common usage. 16 Swaras were settled as of common use. But they had only 12 Swarasthanas. With these, the 72 melas were coined purely on a mechanical basis. I may repeat here again that the classification had nothing to do with melody or rakti which is the soul of Rāga Bhāva or Rasa. The classification was intended *to exhaust all the possibilities of the arbitrary aspect of music but not its scientific aspect.* We are in fact relying more on the traditional lakshya for the rāga sancāra and swara prayoga than on the melas, their constituent swaras and the so-called Janaka Janya-bhava of text as fixed by the writers of the post Dark Ages, each in his own way. Thus far I have tried to show that the Mela or Thāṭ has neither the sanction of shāstras or the science of melody and is nither equivocal nor a safe guide for singing our rāgas. Kowing all this, we are still clinging to the mechanical and uncertain guide calling it our Sangita shāstra, though the more experienced and shrewder musicians know how much of reliance can be placed

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

on the rule. And it behoves the experienced Ustads to tell their students that the mela is after all a very crude remembrancer of the mechanical part of music and that the melody has to be preserved in many cases by departing from the rules of mela. Rakti is the foreman and mela is the time-keeper in the workshop of music.

FURTHER RESEARCH IMPERATIVE.

The mechanical classification is still strutting before us as a shāstra, because very few among the musicians and musicologists have dared to go deep into our ancient texts and rediscover the correct connotation of the scientific and shāstraic concepts of music that have real bearing on the rakti and rāga-bhāva of rāgas, namely, Śruti, swara, Grāma; Murchana, Jāti, Rāga, Krama, Vādi and Samvādi, Varna and Alankāra. The late Mr. Bhatkhande writes in a letter written in his 73rd year to Prof. Ranade (reproduced in facsimile in 'Sangitakalā Vihar' of 1st August 1949) as follows :--

"My sole object has been to place before my educated music-loving brothers and sisters the present condition of the art. My dip into the old Sanskrit-Literature was only incidental. Some of the most difficult problems regarding the music of the times of Bharata, Matanga and Sharngadeva have still remained unsolved. I am now too old for actual work (I am 73) with additional trouble of deafness and eye-cataract." There are many people who honestly believe that musical research has reached its acme with the Late Mr. Bhatkhande and no new research is possible or can be tolerated. I have quoted from his letter so that it may be an eye-opener to them.

THE PEAK OF IGNORANCE

There is a still more unhappy feature in the value attached to the melas in South India. The 72 melas which were created as possible pigeon-holes for existing and future ragas have themselves been begun to be regarded as old ragas. The view became prevalent on account of the total oblivion of the scientific concepts, supported by an accident. The thing came about in this wise. A number of composers began to create new ragas and in the course of the attempt, those melas among the 72 that had no raga assignable to them were also attempted to be converted into ragas. The first attempt in this direction was made by one Govinda who has composed Gitams (short compositions for guiding beginners in Rāga Chāya) for all the 72 melakartas and also for about 200 and odd ragas including those that had either been discovered or coined in his time. This must have been about the end of the 17th century or beginning of the 18th. But none of these compositions appear to have had any prevalence among musicians. Sri Tyagaraja Swami and Sri Muthuswamy Dikshitar who flourished in the latter part of the 18th and former part of the 19th century have also laid their hand in turning the melas in ragas and composing pieces in them. Among them most of the pieces of

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Sri Tyāgarāja Swāmy have become popular but among those of Sri Muthuswamy Dikshitar, a few only attained popularity although his compositions in well known-ragas are as popular as those of his contemporary. These attempts by which most of the 72 melas have been converted into ragas gave rise to the wrong impression that the 72 melas are no other than old ragas. In fact, in a well-known text-book called Sangīta Sampradāya pradarsini' published about 1905, it is expressly stated that the 72 melas have been derived from 72 rāgānga ragas of old. This statement is flatly contradicted by Sri Venkatamakhi, the author of the 72 melakartas in his Caturdandi Prakāśikā who has stated that the 72 melas are only possibilities of combination of swaras which may seem as pigeon-holes for existing and future ragas. He asks himself a question about the purpose of melas to which no available rāga could be assigned and he replies by saying that ragas which may come from foreign countries in future may be assigned to those melas. The rule of thumb has thus assumed the status of a shāstra buttressed by the authority of imaginary ragas of old.

A clear exposition of the concepts exposing and correcting all the fallacious interpretations with which they have been overgrown will mean a number of papers and they are therefore reserved for a future occasion.[1]

The travesty of the concept of Moorchana

I must not omit, however to point out the undesirable development, regarding the concept of moorchana in our musicology which is unshastraic, unscientific and almost tragic in its consequences. The concept of Moorchana which has everything to do with melody and rasa has been misinterpreted as giving rise to scales that are not based on any consideration of melody. The initial swara of a Moorchana is all important for determining the rasa of that closed cycle of 7 swaras, and every Krama Sancāra in that closed cycle is coloured by the initial swara of the cycle. The starting swara of each sancara in the cycle also colours the rāga whose sancara follows it. We thus get two rasas for each rāga, one the main rasa (of the general atmosphere) and the other the uparasa (of the particular incident). The former is ensured by the moorchana which also determines the nyāsa swara and the form of the Jāti or mother rāga, while the latter is ensured by the Krama-Sancāra which also ensures the Amśa swara and the particular *variation* of the Jāti in the Rāga.

1. The subject is dealt with at some length in pp. 1 to 44 and pp. 203 to 205 of my book 'Sangīta Shāstra' in Hindi published by the U. P. Govt., in the 'Science of Music' in English published by me and articles contributed to the Saraswati Mahal Journal Tanjore, vol. XII. part I, 'Jhankār' of last year, Sangītika current issue, and talks published in the 'Listener' of last year and year before last. It is also dealt with in the English Introduction to the publication called 'Rāga Ālāpanā' published by Saraswati Mahal Library, Tanjore. My Tamil publication called 'Śāstrīya Sangeetam' contains a full exposition of the concepts in theory and as applied to a no. of ragas of the Caranatic system.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

The sancāra of each Rāga has thus 2 sets of limits, namely, the upper and lower ends of the Moorchana and the beginning and end of the Krama Sancāra. This beautiful concept of 'moorchana' with its cognate concept of 'Krama' has been practically killed by the new interpretation started by the earliest of our modern educated musicologist, the late Sri Śourindra Mohana Tagore who has given new-tangled interpretations to Grāma and Moorchana based on the tempered scale. This interpretation is not warranted by our texts. The concept according to the new interpretation serves no purpose in the structure of rāga but is only a bit of pedantry to be put in the show case of musicologists. The concept which is said to be the bed rock on which Rāgas are built has thus been reduced to a useless pedantry. It is unfortunate that this new interpretation which has laid the axe to the root of Shastraic musicology has been adopted by all later musicologists of the north and latterly by some of those in the South also. The sooner the concept of moorchana comes to its own, the better for our theory of music.

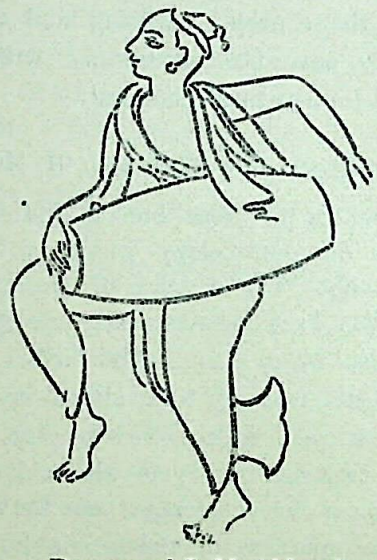

'Drummer' J. M. Ahivasi

गीत

प्यारे गा ले स्वर अपना।
सुन सुन कर सूना मत बन अब, अपनी कछुक सुना॥
गुंजन अथवा गर्जन जो हो, तुमको है करना।
आह वाह की आड़ भेद, तप स्वर-लय का तपना॥
'भावरंग' की मस्ती में निज, मन को मस्त बना।
अपने ही स्वर के दर्पण में, दर्शन कर अपना॥

गायनवादनाचार्य पं० बलवन्तराय भट्ट 'भावरंग'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भरत का स्वर-सिद्धान्त

संगीत-मार्तण्ड पण्डित ओंकारनाथजी ठाकुर

स्वर-सिद्धान्त सनातन है, उसमें परिवर्तन की त्रिकाल में भी संभावना नहीं है। वह शाश्वत है, नित्य है, चाहे वह भरत-प्रतिपादित हो अथवा पायथागोरस या हेल्महोल्स-कथित हो,—चाहे भरत की भाषा में नव-त्रयोदश-श्रुत्यन्तर का संवाद कहें, अथवा पायथागोरस के अनुसार गणित-मूल्य से $\frac{8}{9}$, $\frac{9}{8}$ द्वारा उन संवादी अन्तरालों का निदर्शन करें।

भारतीय संगीत के आदिम आचार्य भरत द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त आज भी किस प्रकार अखण्ड रूप से हमारे संगीत के क्रिया-पक्ष में यानी व्यवहार में ओतप्रोत हैं, उनकी परम वैज्ञानिकता आज भी किस प्रकार असन्दिग्ध है, यही प्रस्तुत लेख का विषय है।

भारतीय संगीत के जो-जो ग्रन्थकार स्वर और श्रुति के मूल्यों को समझने में असमर्थ रहे हैं, जो अपने ग्रन्थों में वीणा पर स्वर, श्रुति, ग्राम को यथायथ रूप से स्थापित नहीं कर सके हैं, एवं इन विषयों की प्रत्यक्ष सिद्धि जिन्हें उपलब्ध नहीं हुई है, उनके ग्रन्थों के आधार पर अधुना जो-जो लेख लिखे जा रहे हैं, जो-जो प्रकाशन हो रहे हैं, उनसे संगीत के विद्यार्थियों में तथा अन्य जनता में विभिन्न प्रकार की भ्रान्तियां फैल रही हैं। ये भ्रान्तियां जान-बूझ कर फैलाई जा रही हैं, ऐसा कहने का यहां आशय नहीं है, किन्तु स्वर, श्रुति, ग्राम जैसे सूक्ष्मतर स्वर-सिद्धान्त की स्वानुभूति प्राप्त किये बिना ही, वीणा पर उनका यथायथ स्थान समझे बिना ही, वीणा की किन-किन सारिकाओं में कितने श्रुत्यन्तर हैं, इस की प्रत्यक्ष क्रियानुभूति प्राप्त किए बिना ही उन विषयों पर लेख लिखे जाते हैं, उनका प्रकाशन होता है और इस प्रकार लेखक-प्रकाशक दोनों ही अनेक भ्रान्तियों को जन्म देते हैं। फलतः, मध्ययुग से जन्म पाई हुई जो भ्रान्ति-परम्परा चली आ रही है वह खण्डित होने के बजाय पुष्ट होती है और कोमलमति विद्यार्थियों और विचारकों में बुद्धि-भेद उपजाती है।

भरतोक्त सनातन स्वर-सिद्धान्त को यथायथ समझने के लिए सूक्ष्म श्रुति-ज्ञान और अभ्यस्त कान की आवश्यकता है। कर्णप्रत्यय के साथ-साथ दृक्-प्रत्यय से इस स्वर-सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिए वीणा ही एकमात्र आधार है, क्योंकि सूक्ष्म श्रुत्यन्तर, स्वरान्तर, संवादान्तर, विवादान्तर, अनुवादान्तर को वीणा पर ही प्रत्यक्षीभूत कर सकते हैं।

वर्तमान काल में प्रचलित वीणाओं के दो प्रकार हैं—एक में वाज का तार (मुख्य तन्त्री) वीणा के दक्षिण भाग में रहता है और दूसरे में वाम भाग में। इनमें से प्रथम प्रकार की वीणा पर क्रमशः जो तार बंधे रहते हैं, उनका विवरण रामामात्यादिक ग्रन्थकारों ने निम्नोक्त रूप से दिया है:—

वीणायामुपरिस्थाने चतस्री लोहतन्त्रिकाः। बध्नीयात्पार्श्वतस्तिस्रोऽधस्ताद्दक्षिणभागतः॥
सप्तस्वेतासु तन्त्रीसु वक्ष्यामः स्वरयोजनम्। तत्रोपरिस्थितानां तु वामे चतसृणामपि॥
आद्यायां स्थापयेत्षड्जमनुमन्द्राभिधानकम्। अनुमन्द्रं पञ्चमं तु द्वितीयायां निवेशयेत्॥
तृतीयायां तन्त्रिकायां मन्द्रषड्जं प्रयोजयेत्। कल्पयेच्च स्वरं तन्त्र्यां चतुर्थ्यां मन्द्रमध्यमम्॥

(स्व० मे० क० वीणा प्रकरण २०–२३)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस उद्धृत वचन के अनुसार वीणा की मुख्य चार तन्त्रियों को निम्नलिखित रूप से मिलाया जाता है। इस वचन के अनुसार तन्त्रियों की क्रम-संख्या वीणा के वाम-भाग से आरम्भ होती है, किन्तु वाज का तार वीणा के दक्षिण भाग में स्थित है। यथा :—

वीणा का दक्षिण भाग		वीणा का वाम भाग	
४	३	२	१
चतुर्थ तन्त्री	तृतीय तन्त्री	द्वितीय तन्त्री	प्रथम तन्त्री
मन्द्र मध्यम	मन्द्र षड्ज	अनुमन्द्र पञ्चम	अनुमन्द्र षड्ज

इन चार मुख्य तन्त्रियों के अतिरिक्त वीणा के दक्षिण भाग में नीचे की ओर तीन छोटी तन्त्रियाँ (चिकारियाँ) बंधी रहती हैं, जिनका वीणा के स्वर-स्थानों (सारिकाओं) से कोई सम्बन्ध नहीं होता। इसीलिए यहाँ उनका विवरण अनावश्यक है। ध्यान रहे कि जिन वीणाओं में वादन-क्रिया वीणा के दक्षिण भाग में होती है, उनमें से दक्षिण भारत की रुद्रवीणा तथा भारत के अन्य प्रदेशों की ब्रह्मवीणा* या 'वीन' विशेष प्रचार में हैं।

किन्नरी वीणा (सितार), कच्छपी वीणा (कछवा) तथा सुरबहार जैसी अन्य वीणाएं जो आज दक्षिण को छोड़ कर पूरे भारत में प्रचलित हैं, उनमें वाज का तार वीणा के वाम भाग में रहता है, और उन पर तार मिलाने का क्रम निम्नोक्त है :—

वीणा का दक्षिण भाग			वीणा का वाम भाग	
५	४	३	२	१
पञ्चम तन्त्री	चतुर्थ तन्त्री	तृतीय तन्त्री	द्वितीय तन्त्री	प्रथम तन्त्री
अनुमन्द्र षड्ज	अनुमन्द्र पञ्चम	मन्द्र षड्ज	मन्द्र षड्ज	मन्द्र मध्यम

ऊपर दिए हुए दोनों क्रमों को देखने से ज्ञात होगा कि दोनों में केवल दाएं-बाएं का ही मुख्य भेद है। प्रथम क्रम में वीणा के दक्षिण भाग में प्रथम तन्त्री (वाज का तार) मध्यम में मिलाई जाती है और दूसरे क्रम में वीणा के वाम भाग से प्रथम तन्त्री (वाज का तार) मन्द्र मध्यम में मिलाई जाती है। इस दाएं-बाएं की भिन्नता के अतिरिक्त यह भी ध्यान रहे कि सितार आदि में मन्द्र षड्ज के दो तार रहते हैं, जिन्हें जोड़ के तार (युग्म) कहते हैं और इस प्रकार उन वीणाओं में मुख्य तन्त्रियाँ चार के स्थान पर पांच हो जाती हैं। इसलिए चिकारियाँ तीन के स्थान पर दो रह जाती हैं।

वीणा पर तार मिलाने की यह परंपरागत प्रथा सदियों से अक्षुण्ण रूप से चली आ रही है। दक्षिण भारत के ग्रन्थों में तथा भारत के अन्य सभी प्रदेशों में प्रचलित वादन क्रिया में वाज का तार मन्द्र मध्यम में ही मिलाने का विधान† और प्रचार है। परंपरानुसार उसे मन्द्र मध्यम मान कर चलने से ही निम्नलिखित शास्त्रीय सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं :—

---

*एकतन्त्री वीणा को भी 'ब्रह्मवीणा' कहने की प्रथा कहीं २ मिलती है। कोई २ लोग उपर्युक्त 'वीन' को 'रुद्रवीणा' कहते हैं और दाक्षिणात्य वीणा को 'सरस्वती वीणा' कहते हैं। जो भी हो, यहाँ 'ब्रह्मवीणा' से हमारा तात्पर्य 'वीन' से ही है।

† दक्षिण भारत में अधुना इस ग्रन्थस्थ विधान का पालन नहीं होता, क्योंकि वाज के तार को वे मन्द्र मध्यम न मान कर मध्य षड्ज मानते हैं और तदनुसार वादन करते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

१. वीणा के बिल्कुल मध्य स्थान में मध्य सप्तक के मध्यम की प्राप्ति होती है और उसकी 'मध्यम' संज्ञा दो प्रकार से सार्थक होती हैं अर्थात् वीणा के 'मध्यस्थान' में स्थित मध्यम एक ओर तो वीणा का 'मध्यम' स्वर है और दूसरी ओर वह 'मध्य सप्तक' के मध्य में यानी 'सारिग' तथा 'पधनि' के मध्य में स्थित होने से 'मध्यम' है।

२. बाज के तार को मध्यम मानने से ही मेरु से दूसरा पर्दा पञ्चम कहलाएगा और वहीं पर (मेरु से) तीन श्रुतियाँ छोड़ कर चतुर्थ श्रुति पर भरत के वास्तविक षड्जग्राम के षड्ज की उपलब्धि होगी और 'पञ्चमेन शुद्धषाड्जी'* यह भरत वचन सार्थक होगा।

३. बाज के तार को मध्यम मानने से षड्जग्राम की जो यथायथ उपलब्धि होती है, उसी के आधार पर, षड्जग्राम के पञ्चम से मध्यमग्राम की यथार्थ उपलब्धि हो जाती है और 'मध्यमग्राम स्वर्ग में जा चुका है'—इस भ्रान्ति का निराकरण होता है।

४. षड्जग्राम का उपर्युक्त स्थान सिद्ध होने के बाद उसी षड्जग्राम के मध्यम को 'सर्वस्वराणां प्रवरः' का स्थान और अविनाशित्व प्राप्त होता है। हम जानते हैं किसी भी स्वर को अविनाशित्व तभी प्राप्त हो सकता है जब उसे षड्ज का स्थान दिया जाए और यह सत्य है कि कर्णाटक को छोड़कर भारत के अन्य सभी भागों के हिन्दू-मुस्लिम कलाकार परापूर्व से आज तक उसी षड्जग्रामिक अविनाशी मध्यम को ही षड्ज मानकर क्रिया में व्यवहृत करते आए हैं।

५. उसी षड्जग्रामिक मध्यम को षड्ज मानने से प्राकृतिक शुद्ध स्वरों की प्राप्ति होती है और इस भ्रान्ति का उन्मूलन होता है कि भारतीय संगीत पर किसी अभारतीय संगीत-पद्धति का प्रभाव है।

६. मन्द्रषड्ज का तार जो वीणा पर बाज के तार के पास ही मिला रहता है, उस तार के नाद के साथ मध्य सप्तक के षड्ज की एक-रूपता उसी स्थान पर स्थापित होती है जहाँ हम दक्षिणेतर भारत के कलाकार आज षड्ज मानते हैं, अर्थात् बाज के तार को मन्द्र मध्यम मानने से जहाँ मध्य षड्ज का स्थान आता है, वही स्थान वीणा के मन्द्र षड्ज के तार के साथ सप्तकान्तरयुक्त एकता स्थापित करता है।

७. बाज के उसी एक ही तार के नीचे तीन स्थानों की प्राप्ति भी तभी संभव होती है, जब उसे मन्द्र मध्यम माना जाए। मन्द्र मध्यम से मन्द्र निषाद तक मन्द्र स्थान, मध्य षड्ज से मध्य निषाद तक मध्य स्थान तथा तार षड्ज से तार मध्यम तक तार स्थान—यों तीनों स्थान बाज के तार के नीचे प्राप्त हो जाते हैं।

एक तार के नीचे वास्तव में केवल दो सप्तकों की ही सुविधा से वादन-क्रिया संभव है। इसलिए बाज के तार को मध्यम मानकर चलने से आधा मन्द्र सप्तक, पूरा मध्य सप्तक तथा आधा तार सप्तक—यों तीनों स्थान वीणा पर प्राप्त होते हैं।

बाज के तार को मन्द्र मध्यम मानने से मन्द्र, मन्द्रतर तथा मन्द्रतम स्थान में वादन-क्रिया करने के लिए अन्य तारों पर अवकाश रहता है और उधर तार सप्तक में मध्यम के पर्दे पर तार खींच कर 'तार' स्थान के स्वर प्राप्त किये जा सकते हैं और क्रियाकुशल गुणियों द्वारा आज वही किया जाता है। इस प्रकार बाज के तार के नीचे दो सप्तकों के पर्दों में ही तीनों स्थान प्राप्त हो जाते हैं। किन्तु उस तार को मन्द्र षड्ज मान लेने से केवल मन्द्र तथा

---

*इसी लेख में कुछ आगे चलकर इस विषय की अधिक स्पष्टता की जाएगी।

†'सप्तक' की दृष्टि से ऊपर तीनों स्थान दिखाए गए हैं। अष्टक की दृष्टि से षड्ज अष्टक का पूरक तथा सप्तक का आरम्भक—दोनों स्थान पाता है। अतः अष्टक के अनुसार मन्द्र मध्यम से मध्य षड्ज तक, मध्य षड्ज से तार षड्ज तक तथा तार षड्ज से तार मध्यम तक—यों तीनों स्थान बाज के तार पर प्राप्त होते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मध्य स्थान प्राप्त होंगे, 'तार' स्थान के लिए कोई अवकाश ही नहीं रहेगा। 'तार' स्थान के लिए दो सप्तकों के आगे यदि पर्दे बांधने का बलात् प्रयत्न किया भी जाए जैसा कि कुछ लोग करने को कहते हैं, तो उन पर्दों का परस्पर अवकाश इतना संकीर्ण होगा कि उन पर वादन-क्रिया असम्भव होगी। अतः जो लोग ऐसा कहते हैं कि वीणा का मध्यस्थान ही मध्यसप्तक का आरम्भ स्थान है, वे स्वयं भरत के स्वर-सिद्धान्त को यथायथ रूप से समझने में असमर्थ रहे हैं और केवल भ्रमजाल की वृद्धि करते हैं।

आजकल कुछ लोग यह कहकर भी पाठकों को उलझाते हैं कि प्राचीन वीणा प्रायः डेढ़ गज़ लम्बी होती थी; इसलिए उसपर एक ही तार के नीचे पूरे तीन सप्तकों की प्राप्ति होती थी। यह कथन कितना भ्रान्त और असंगत है, यह निम्नोक्त वक्तव्य से स्पष्ट होगा।

प्रत्यक्ष क्रियाकुशल गुणी और वीणा बनाने वाले अपठित कारीगर तक यह बात जानते हैं कि मेरु से घुड़च तक तार की जितनी लम्बाई हो, उसके बराबर मध्य में, मुक्त तार पर निनादित स्वर का दुगना स्वर गुञ्जित होता है। इस प्रकार वीणा का तार चाहे सौ इंच, पचास इंच, या पचीस इंच लंबा रखें, मुक्त तार का दुगना नाद उसके ठीक बीचों-बीच आयेगा और वीणा चाहे कितनी ही लम्बी क्यों न हो,* उसके मध्यस्थान के बाद एक ही सप्तक का सौकर्य से वादन हो सकता है। इस एक सप्तक के पर्दों के बाद शेष स्थान में बजाने के लिए, नखी के प्रहार के लिए तार का उतना-सा अवकाश रखना ही पड़ेगा; नहीं तो वीणा सानुरणन निनादित नहीं होगी। इसमें वीणा की लंबाई, चौड़ाई से कोई अन्तर नहीं पड़ता, नहीं ही पड़ेगा। जो लोग प्राचीन वीणाओं के नाम पर ऐसे वाद्यों की चर्चा करते हैं जो आज प्रचार में तो क्या, कहीं देखने को भी जिनका मिलना असंभव है; और फिर यह कहते हैं कि वीणा की लंबाई बढ़ाकर एक ही तार के नीचे तीन सप्तकों की स्थापना की जा सकती है या की जानी चाहिये, वे न तो स्वर-सिद्धान्त को समझे हैं और न ही वीणा पर स्वर-स्थापन-विधि को समझे हैं। फिर भी ऐसी भ्रान्त धारणाओं के लेख लिखे जाते हैं और प्रकाशित होते रहते हैं, यह चिन्तनीय है।

वास्तव में वीणा का मध्य सप्तक वहीं से आरंभ होता है जहां आज का हमारा मध्य षड्ज है। यही मतंग का 'मध्य सप्तक' है, जिसके लिये उन्होंने कहा है—'मध्यसप्तकेन मूर्च्छना-निर्देशः-कार्यः' और यही भरत का 'मध्यम' स्वर है जिसके लिये उन्होंने कहा है—"मध्यमस्वरेण वैणेन मूर्च्छनानिर्देशः कार्यः, अविनाशित्वान्मध्यमस्य"।

रामामात्यादि ग्रन्थकार जिन्होंने वीणा पर भरतोक्त षड्जग्राम के स्वरों को स्थापना का यत्न किया है, वे यदि बाज के मुक्त तार को मध्यम ही मानकर चलते और मेरु से दूसरे पर्दे से अर्थात् मन्द्र पञ्चम से षड्जग्राम का आरंभ करते तो षड्जग्राम का ४–३–२–४–४–३–२ वाला श्रुतिक्रम उन्हें अविकल रूप से प्राप्त हो जाता और 'पञ्चमेन शुद्धषाड्जी' यह भरत-वचन भी सार्थक हो जाता। किन्तु उन ग्रन्थकारों ने परंपरानुसार बाज के तार को मध्यम में मिलाने को कहकर भी षड्जग्राम की स्थापना मन्द्र षड्ज के ही तार से आरंभ की और फलतः बाज के तार को षड्जग्रामिक स्वर सप्तक का मध्यम मान लिया। इस प्रकार की 'स्वर-स्थापना' से कितनी घोर अव्यवस्था की सृष्टि हुई, यह अभी नीचे स्पष्ट किया जायगा। अस्तु।

आजकल वीणा पर षड्जग्राम की स्थापना के बारे में दो भ्रान्तियां विशेष रूप से प्रचार पा रही हैं। यथा :—

(१) कुछ लोग रामामात्यादि का अनुसरण करते हुए वीणा के मुक्त तार को षड्ज मानकर उसी के नीचे परंपरा-प्राप्त पर्दों पर क्रमशः षड्जग्राम के स्वरों की स्थापना का असफल यत्न करते हैं। वहीं से षड्जग्रामिक स्वर

* यह ध्यान रहे कि वीणा की लम्बाई भी वादन-सौकर्य की मर्यादा के भीतर ही बढ़ाई जा सकती है। चाहे जितनी लम्बी वीणा मनुष्य के वादन-योग्य नहीं हो सकती।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

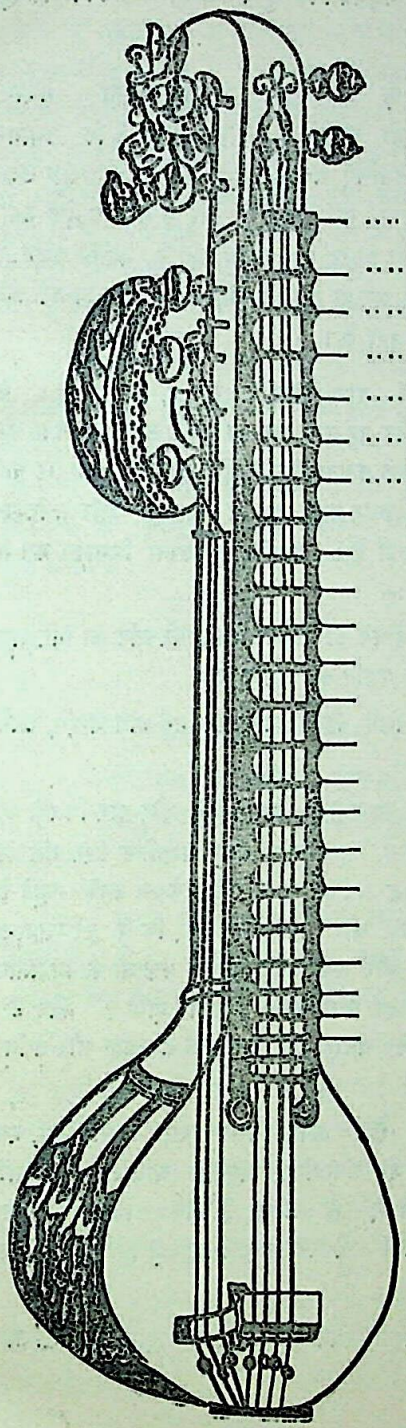

	वीणा का दक्षिण भाग						वीणा का वाम भाग			
सारी संख्या	वास्तविक श्रुत्यन्तर	तन्त्री ४ पर स्वरस्थान	कल्पित श्रुत्यन्तर	तन्त्री ३ पर स्वरस्थान	कल्पित श्रुत्यन्तर	तन्त्री २ पर स्वरस्थान	कल्पित श्रुत्यन्तर	तन्त्री १ पर स्वरस्थान	कल्पित श्रुत्यन्तर
मेरू	०	मं. म.	(?)	मं. ष.	(?)	अ.मं. पं	(१)	अ. मं ष.	(?)
१	२	च्यु. पं.म.	२	शु. ऋ.	३	शु. धै.	३	शु. ऋ.	३
२	२	शु. पं.	२	शु. गां.	२	शु. नि.	२	शु. गां	२
३	२	शु. धै.	३	सा. गां	१	कै. नि.	१	सा. गां.	१
४	१	शु. नि.	२	च्यु.म.गां	१	च्यु.प.नि	१	च्यु.म.गां.	१
५	२	कै. नि.	१	शु. म.	२	शु. ष.	२	शु. म.	२
६	२	च्यु.प.नि.	१	च्यु.पं.म.	२	शु. ऋ.	३	च्यु. पं. म.	२

टिप्पणी—सुविधा के लिए वीणा के वाम भाग में ही दक्षिण तथा वाम दोनों भागों की तन्त्रियाँ दिखा दी गई हैं। वास्तव में दाक्षिणात्य रुद्रवीणा के दक्षिण भाग में ही वाज का तार रहता है।

सांकेतिक स्वर-नामों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है:—

मं. = मन्द्र, अ. मं. = अनुमन्द्र, म. = मध्यम, पं. = पञ्चम, शु. = शुद्ध च्यु. पं. म. = च्युत पञ्चम मध्यम, धै. = धैवत, कै. नि. = कैशिक-निषाद, च्यु. ष. नि. = च्युत षड्ज निषाद, ऋ. = ऋषभ, गां = गान्धार सा. गां = साधारण गान्धार, च्यु. म. गां. = च्युत मध्यम गान्धार।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्राप्त हो सकते हैं, इस भ्रान्ति के जन्मदाता रामामात्यने रुद्रवीणा के पर्दों पर षड्जग्रामिक श्रुत्यन्तरों की जो कल्पना की है, वह संलग्न चित्र में प्रस्तुत है।

उनके इन कल्पित श्रुत्यन्तरों में कितनी अव्यवस्था है, यह एक ही उदाहरण से स्पष्ट हो जाएगा। मध्यम के तार के नीचे मेरु से दूसरे पर्दे पर पञ्चम की स्थापना उन्होंने की है, जो यथार्थ है। हम जानते हैं कि मध्यम-पञ्चम का चतुःश्रुतिक अन्तराल त्रिकालसिद्ध है, जो उन्हें भी मान्य है। इसलिए मेरु और दूसरे पर्दे का अन्तराल उक्त ग्रन्थकारों की स्वर-स्थापना के अनुसार भी चतुःश्रुतिक ही मानना होगा। किन्तु मन्द्र षड्ज के तार के नीचे उन्होंने उसी दूसरे पर्दे पर 'शुद्ध' (षड्जग्रामिक) गान्धार की स्थापना की है जो किसी प्रकार भी यथार्थ नहीं है, क्योंकि षड्ज से षड्जग्रामिक गान्धार का अन्तराल पञ्चश्रुतिक है। इस प्रकार एक ही पर्दे पर दो तारों के नीचे भिन्न २ श्रुत्यन्तरों की कल्पना कितनी असंगत, असंभव और अवैज्ञानिक है, यह कहने की आवश्यकता नहीं है।

(२) जो दूसरी भ्रान्ति कुछ असमंजस एवं अनधिकारी लेखकों द्वारा फैलाई जा रही है, वह यह है। वे कहते हैं कि मध्ययुग से पर्दे बाँधने का क्रम बदल गया है और इसीलिए आज मेरु पर मुक्त तार को षड्ज मानने से वीणा की सारिकाओं पर षड्जग्रामिक श्रुत्यन्तर-क्रम की उपलब्धि नहीं होती। किन्तु उनके कथनानुसार प्राचीन काल में वीणा पर इस प्रकार पर्दे बांधे जाते थे कि मुक्त तार को षड्ज मानने से षड्जग्राम का श्रुत्यन्तर-क्रम प्राप्त हो जाता था और सारिका-स्थापन की उसी प्रणाली को अपनाने से आज भी वह उपलब्धि हो सकती है। उनकी यह कल्पना क्रियागत रूप से अग्राह्य, सैद्धान्तिक रूप से निराधार एवं परंपरा की दृष्टि से त्याज्य है, क्योंकि :—

(क) यह कहना नितान्त असत्य है कि अधुना प्रचलित पर्दे बांधने की प्रक्रिया किसी परिवर्तन का परिणाम है। यह कहना भी सत्य का अतिक्रमण है कि इस प्रक्रिया पर ईरानी मुक़ाम पद्धति का प्रभाव है।

(ख) विश्व भर में प्राकृतिक स्वर-संवाद के अनुसार जहाँ भी जिस किसी वाद्य पर पर्दे बांधे जाएंगे, उनमें यही प्रक्रिया रहेगी जो आज हमें परंपराप्राप्त है।

(ग) पर्दे बांधने की जो संवाद-सिद्ध परंपरा सदियों से चली आ रही है, उसमें पर्दे और तार मिलाने का पूर्ण सामंजस्य है। वादन-सौकर्य के लिए वही सुविधाजनक है। षड्जग्राम, मध्यमग्राम तथा प्राकृतिक स्वरावलि की सहज उपलब्धि का वही माध्यम है। ऐसी समंजस, सर्वसुलभ, और विशुद्ध परंपरा का परित्याग केवल उनके कहने से कैसे किया जाए ? क्यों किया जाए ? हिन्दू-मुस्लिम कलाकारों को कैसे और क्यों कहा जाए कि वे परंपराप्राप्त सत्यमार्ग का अवलंबन त्याग दें ? क्योंकि वे जानते हैं कि उस सहजसाध्य और स्वरसिद्धान्तानुकूल प्रणाली का परित्याग करने से वीणा बेसुरी हो जाएगी और उस बेसुरी, विसंवादी वीणा का वादन भला किसे स्वीकार होगा ? कौन उसे सुनेगा ? अपनी नई परंपरा चलाने के मोह से मूर्छित जनों द्वारा फैलाई जाने वाली ऐसी भ्रान्तियों से सर्वदा और सर्वथा दूर रहना ही श्रेयस्कर है।

(घ) स्वर—संवाद गणित की भाँति अपरिवर्तनीय और अटल है। ऊपर लिखे कारणों के अतिरिक्त, इस सत्य को देखते हुए भी हमें यह दृढ़ता से मानना होगा कि पर्दे बाँधने की जो संवादसिद्ध प्रणाली आज तक चली आई है, या तो वही सत्य है और उसके पूर्व जिस प्रणाली का प्रचार बताया जाता है, वह भ्रान्त है और या फिर जो परंपरा अब तक व्यवहृत होती आई है, वह भ्रान्त है और पूर्व वाली सत्य है। दोनों परंपराएं यदि भिन्न रही हों तो दोनों एक साथ तो सत्य नहीं ही हो सकतीं।

इन सब बातों का निष्कर्ष यही है कि भारत के सभी कलाकार जिस परंपरा के अनुयायी हैं, वही सिद्धान्ततः सत्य, शिव और पूर्ण है; अन्य सब प्रचारित कल्पनाएं भ्रान्त वाग्जाल है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वीणा पर स्वर-स्थापन- संबन्धी ऊपर लिखा शाश्वत सत्य भरत के वचनों—'पंचमेन शुद्धषाड्जी'-'सर्वस्वराणां प्रवरो हि अविनाशी तु मध्यमः'—'मध्यम-स्वरेण वैणेन मूर्च्छनानिर्देशः कार्योऽविनाशित्वान्मध्यमस्य' आदि से भी पूर्णतया सिद्ध होता है। किन्तु जो अनुसन्धानकर्ता भरत के इन वचनों को समझे बिना ही केवल 'संगीत रत्नाकर' अथवा उनके परवर्ती मध्ययुगीय ग्रन्थकारों के लेखन द्वारा ग्रन्थियों को सुलझाने का यत्न करते हैं, वे उन-उन ग्रन्थों में निहित अनेकों उलझनों में से विरले ही मुक्त रह पाते हैं। दूसरी ओर जो लोग आधुनिक प्रकाशनों में से, इधर-उधर से सत्य-सिद्धान्त के कुछ बिखरे हुए अंश उठाकर Musicologists में अपनी गणना कराते हैं, वे उन सिद्धान्तों के पचन के अभाव में कुछ ऐसे असमंजस रूप में इन विषयों का लेखन और प्रकाशन करते हैं कि उन लेखनों-प्रकाशनों के परवर्ती परिणामों को देख कर आत्मा में नितान्त वेदना होती है। फिर भी यह हो रहा है और इस का कोई इलाज नहीं है, क्योंकि मौन रहने की प्रार्थना उन लोगों के समक्ष निष्फल होने वाली है।

तब फिर उपाय क्या ?—सत्य का प्रकाशन, वीणा पर यथायथ रूप से श्रुत्यन्तरों का निदर्शन और इन प्रकाशनों का पुनः पुनः प्रकाशन। इसी पुण्य हेतु से भरत के सनातन स्वर-सिद्धान्त के अनुसार हमारी सर्वसुलभ, सर्वपरिचित किन्नरी वीणा (सितार) पर षड्जग्राम तथा मध्यमग्राम की स्वर-स्थापना नीचे दिखाई जा रही है और साथ ही इन दोनों ग्रामों के साथ आधुनिक शुद्ध या प्राकृतिक स्वर-सप्तक का अटूट संबन्ध भी दिखाया जा रहा है। इन सिद्धान्तों का पुनःपुनः लेखन, प्रकाशन और वाचन आवश्यक है। स्पष्टता के लिए पुनरुक्ति दोषावह नहीं मानी जाएगी ऐसी आशा है।

सर्वप्रथम षड्जग्राम को ले लेते हैं।

षड्जग्राम

षड्जग्राम के स्वरों के श्रुत्यन्तर-क्रम भरत ने इस प्रकार बताए हैं:—

षड्जश्चतुःश्रुतिर्ज्ञेयः ऋषभस्त्रिश्रुतिः स्मृतः। द्विश्रुतिश्चापि गान्धारो मध्यमश्च चतुःश्रुतिः॥
चतुःश्रुतिः पञ्चमः स्यात् त्रिश्रुतिर्धैवतस्तथा। द्विश्रुतिस्तु निषादः स्यात् षड्जग्रामे स्वरान्तरे॥
(ना० शा० २८)

अर्थात् षड्ज चार श्रुति का, ऋषभ तीन का, गान्धार दो का, मध्यम चार का, पञ्चम चार का, धैवत तीन का और निषाद दो का, ये षड्जग्राम के श्रुत्यन्तर हैं। इसी श्रुति-क्रम में षड्जग्रामिक स्वरान्तरों को वीणा पर यथायथ स्थापित करने के लिए निम्नोक्त विधि ही शास्त्रसम्मत है।

हम पहले ही कह आए हैं कि वीणा का बाज का तार जो मध्यम में मिला है, उसे मध्यम ही माना जाए। उस मेरुस्थित मन्द्र मध्यम से एक पर्दा छोड़ कर जो दूसरा पर्दा बंधा हुआ है, वह मन्द्र पञ्चम कहलाता है और वह मेरु से चार श्रुति के अन्तर पर स्थित है, क्योंकि मध्यम-पञ्चम का चतुःश्रुति अन्तराल देश-काल-अबाधित सत्य है। उसी पञ्चम के पर्दे को षड्जग्राम का षड्ज माना जाए। तीन श्रुतियां छोड़ कर चौथी श्रुति पर षड्जग्राम का षड्ज स्थापित करने की विधि ही शास्त्रोक्त है और वीणा का यही एकमात्र स्थान है, जहां से आरंभ करने पर भरतोक्त षड्ज-ग्राम का पूरा श्रुत्यन्तर-क्रम अविकल रूप से प्राप्त होता है।

भरत की मूर्च्छना-विधि में षड्ज से उत्तरमन्द्रा, निषाद से रजनी, धैवत से उत्तरायता, पञ्चम से शुद्धषाड्जी ऐसा क्रम पाया जाता है। चतुर्थ मूर्च्छना की 'शुद्धषाड्जी' संज्ञा ही इस तथ्य की द्योतक है कि षड्जग्राम की मूल स्वरावलि का स्थान इसी चौथी मूर्च्छना में रखा गया है और इस मूर्च्छना का आरंभ पंचम से बताया गया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(पञ्चमेन शुद्धषाड्जी)। यहाँ यह ध्यान रहे कि एक ओर तो षड्जग्राम की पहली मूर्च्छना के लिये 'षड्जेन उत्तरमन्द्रा' यों कहकर उस प्रथम मूर्च्छना का आरंभ-स्थान षड्ज बताया गया है और दूसरी ओर चौथी मूर्च्छना के लिये 'पञ्चमेन शुद्धषाड्जी' ऐसा कहकर षड्जग्राम की मूल स्वरावलि की स्थिति इस चौथी मूर्च्छना में बताई गई है, जिससे यह स्पष्ट है कि इस मूर्च्छना का आरम्भक स्वर पञ्चम ही षड्जग्राम का 'शुद्धषड्ज' है। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि जिस 'षड्ज' से पहली मूर्च्छना का आरम्भ बताया गया है, वह वीणा पर कौन-सा स्थान है और 'पञ्चम' से आरंभ होने वाली चौथी मूर्च्छना का 'शुद्धषड्ज' वीणा पर कहाँ स्थित है ? इस प्रश्न का उत्तर यों तो ऊपर के विवरण में आ ही गया है, किन्तु फिर भी स्पष्टीकरण के लिए उसका पुनः उल्लेख दोषावह न होगा।

भरतोक्त मूर्च्छना-क्रम को ध्यान से देखने पर यह स्पष्ट होगा कि 'शुद्धषाड्जी' में षड्जग्रामिक मूल स्वरावलि की स्थिति तभी सिद्ध हो सकती है जब कि प्रथम मूर्च्छना 'उत्तरमन्द्रा' को मूल षड्जग्रामिक षड्ज से नहीं, अपितु उसके मध्यम से शुरू किया जाए। भरत ने भी षड्जग्राम के मध्यम को 'सर्वस्वराणां प्रवरः' कहकर 'मध्यम' को प्रमुख स्थान देने का विधान दिया है और उस 'मध्यम' को अविनाशी, अविलोपी और अनुल्लंघ्य कहा है। 'मध्यम' के ये सब विशेषण तभी सार्थक हो सकते हैं जब कि क्रिया-पक्ष में उस 'मध्यम' को ही षड्ज का स्थान दिया जाए। उस 'मध्यम' को षड्ज मानते ही षड्जग्राम की चौथी मूर्च्छना शुद्धषाड्जी के आरंभ स्थान की 'पञ्चम' संज्ञा 'पञ्चमेन शुद्धषाड्जी' इस वचन के अनुसार वीणा पर प्रत्यक्ष सिद्ध होती है। वही 'पञ्चम' षड्जग्राम का 'शुद्धषड्ज' या मूल आरम्भ स्थान है। यथा :—

षड्जग्राम के मध्यम से अवरोह-क्रम—म—ग्—रि—सा
मध्यम को षड्ज मानने से प्राप्त स्वरावलि—सा—नि—ध—प

इस प्रकार षड्जग्राम के मध्यम को षड्ज मानकर मूर्च्छना-क्रम आरंभ करने से षड्जग्रामिक मूल षड्ज ही 'पञ्चम' संज्ञा पाकर 'पञ्चमेन शुद्धषाड्जी' इस वचन को सार्थक करता है।

ऊपर के विवरण का निष्कर्ष यह है कि 'षड्जेन उत्तरमन्द्रा' तथा 'पञ्चमेन शुद्धषाड्जी' इन दोनों वचनों का सामंजस्य इसी में है कि प्रथम मूर्च्छना (उत्तरमन्द्रा) का आरंभ स्थान षड्जग्रामिक मध्यम है और उस 'मध्यम' को षड्ज मान लेने से ही षड्जग्राम का मूल षड्ज 'पञ्चम' बन जाता है। एक ओर तो क्रिया-पक्ष में षड्जग्रामिक मध्यम को ही षड्ज का स्थान देना अपेक्षित है, इसलिए 'उत्तरमन्द्रा' के आरम्भ-स्थान को मध्यम न कहकर षड्ज कहा गया है और दूसरी ओर 'पञ्चमेन शुद्धषाड्जी' कहकर यह तथ्य स्पष्ट किया गया है कि 'मध्यम' को षड्ज कहते ही षड्जग्राम का मूल षड्ज 'पञ्चम' बन जाता है; किन्तु क्रियागत स्वरावलि में उसकी 'पञ्चम' संज्ञा होते हुए भी वह वास्तव में षड्जग्राम का 'शुद्ध षड्ज' ही है।

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि कुछ लोगों को ऐसी शंका होती है कि षड्जग्राम का आरंभस्थान और क्रियागत स्वरावलि का आरंभस्थान भिन्न क्यों है ? शास्त्र तथा क्रिया में विरोध कैसा ? ऐसे षड्जग्राम का निर्माण क्यों किया गया जो क्रियागत स्वरावलि से भिन्न था ? शास्त्रकारों की 'कथनी' और 'करनी' में अन्तर क्यों है ? इन प्रश्नों का समाधान निम्नोक्त है।

वास्तव में क्रियागत प्राकृतिक शुद्ध स्वरावलि तथा शास्त्रीय 'ग्राम' दोनों का प्रयोजन भिन्न है। प्राकृतिक स्वरावलि स्वतःसिद्ध वस्तु है, जब कि 'ग्राम' शास्त्रीय वर्गीकरण, सूक्ष्म श्रुत्यन्तरों का प्रत्यक्षीकरण, उनका प्रमाण-निर्धारण, स्वरों के अन्तर्गत 'सा-ग' और 'सा-म' संवाद के आधार पर श्रुतियों की परस्पर संवाद-स्थापना—इन सब प्रयोजनों की सिद्धि के लिए निर्मित परम वैज्ञानिक शास्त्रीय रचना है। जैसे व्यवहार-गत भाषा को नियमबद्ध करने के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लिए 'व्याकरण' शास्त्र की रचना की जाती है, तद्वत् व्यवहारगत स्वरावलियों के वर्गीकरण, उनके सूक्ष्म श्रुत्यन्तरों के प्रमाण-निर्धारण, संवाद-सिद्धि इत्यादि के उद्देश्य से निर्मित शास्त्रीय स्वर-सिद्धान्त के अन्तर्गत 'ग्राम' की स्थापना हमारे शास्त्रों में की गई है। प्राकृतिक स्वरावलि यदि भाषा है तो 'ग्राम' उसका व्याकरण है। साथ ही यह निःसंदेह कहा जा सकता है कि षड्जग्राम तथा मध्यमग्राम—इन दोनों से समन्वित हमारी प्राचीन 'ग्राम'—पद्धति वैज्ञानिकता में, अकाट्य गणित सिद्धि में तथा सरलतम संवाद-प्रक्रिया में विश्व भर की संगीत-पद्धतियों में अद्वितीय है।

जहाँ एक ओर यह सत्य है कि शास्त्रीय 'ग्राम' तथा क्रियागत प्राकृतिक स्वरावलि का प्रयोजन भिन्न होने से वे दोनों भिन्न हैं, वहाँ साथ ही यह भी सत्य है कि दोनों शास्त्रीय 'ग्रामों' का प्राकृतिक स्वरावलि के साथ अटूट संबन्ध है। उस संबन्ध को 'ग्राम' पद्धति में गूंथते हुए दोनों ग्रामों की रचना इस प्रकार की गई है जिससे प्राकृतिक स्वरावलि का आरंभस्थान यानी षड्ज, षड्जग्राम में मध्यम तथा मध्यमग्राम में निषाद का स्थान पाता है। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि प्राकृतिक स्वरावलि के पञ्चम को षड्ज मान कर वहाँ से षड्जग्राम की स्थापना की गई है और पुनः उस षड्जग्राम के पञ्चम को षड्ज मान कर मध्यमग्राम की स्थापना की गई है। षड्जग्राम तथा मध्यमग्राम का परस्पर संबन्ध दिखाने के लिए दूसरे शब्दों में यह भी कहा गया है कि षड्जग्राम के षड्ज को मध्यम मानने से मध्यमग्राम की प्राप्ति हो जाती है। ('षड्जादयो मध्यमादित्वं प्राप्नुवन्ति'—ना. शा. २८)

षड्जग्राम के सभी स्वरों में परस्पर षड्ज-पञ्चम-संवाद विद्यमान है। (सा-प, रि-ध, ग-नि, म-सा) मध्यमग्राम में षड्ज-पञ्चम संवाद के स्थान पर षड्ज-मध्यम-भाव से ऋषभ-पञ्चम संवाद की सिद्धि होती है, जो कि षड्जग्राम में प्राप्त नहीं है। मध्यमग्राम का यह ऋषभ-संवादी पञ्चम प्राप्त होते ही षड्जग्राम के षड्ज-संवादी पञ्चम की अपेक्षा उस की न्यूनता शास्त्रकारों को प्रत्यक्ष कर्णगोचर हुई और उसी न्यूनता के मान में उन्हें 'प्रमाणश्रुति' (कोमा) की उपलब्धि हुई। इसी 'प्रमाण-श्रुति' के आधार पर अन्य श्रुत्यन्तरों का मान-निर्धारण चतुःसारणा-विधि द्वारा संभव हो सका।

इतने स्पष्टीकरण के बाद "षड्जग्राम ही प्रचीन शुद्ध स्वर-सप्तक है" यह भ्रान्ति सर्वदा के लिए निर्मूल हो जानी चाहिए। इसमें भी अब कोई सन्देह नहीं रहना चाहिए कि उभयग्राम (षड्ज-मध्यम) मूल प्राकृतिक स्वरावलि से ही उद्भूत शास्त्रीय रचना है।

मध्यमग्राम

हम ऊपर कह आए हैं कि षड्जग्राम तथा मध्यमग्राम की पृथक् रचना का मूल आधार पञ्चम का स्थान-भेद ही है। षड्जग्राम में पञ्चम षड्जसंवादी है अर्थात् षड्ज से उसका अन्तराल त्रयोदश श्रुति है और तदनुसार मध्यम से वह पञ्चम चार श्रुति के अन्तर पर स्थित है। दूसरी ओर, मध्यमग्राम का पञ्चम षड्जसंवादी न हो कर षड्ज-मध्यम-भाव से ऋषभ का संवादी है। अतः मध्यम-ग्रामिक पञ्चम का षड्ज से द्वादशश्रुति तथा मध्यम से तीन श्रुति का अन्तराल है। दोनों ग्रामों के पञ्चम का यह स्थान-भेद भरतोक्त दो प्रकरणों में दो रूप से समझना चाहिए; तभी मध्यमग्राम के संबन्ध में बनी हुई उलझनें निर्मूल होंगी। भरतोक्त दो प्रकरणों में त्रिश्रुति पञ्चम का स्पष्टीकरण निम्नोक्त है।

१. चतुःसारणा-प्रकरण में—इस सारणा-चतुष्टय में सर्वप्रथम प्रमाण-श्रुति की सिद्धि अनिवार्य है। तन्निमित्त षड्जग्रामिक पञ्चम का एक श्रुति अपकर्ष विहित है। इस त्रिश्रुति पञ्चम को सहज उपलब्धि ध्रुववीणा के त्रिश्रुति ऋषभ के साथ षड्ज-मध्यम-भाव से पञ्चम का संवाद स्थापित करने से होती है। ध्यान रहे कि अपकर्ष द्वारा षड्जग्रामिक पञ्चम को मध्यमग्रामिक बनाने की प्रक्रिया केवल भरतोक्त चतुःसारणा-विधि तक ही सीमित है; उस अपकर्ष-क्रिया द्वारा वीणा पर मध्यमग्राम की स्थापना का विधान नहीं ही समझना चाहिए, क्योंकि यह क्रिया वीणा पर वादन-विधि के लिए नहीं कही गई है; अपितु केवल श्रुत्यन्तर-सिद्धि के लिए बताई गई है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

२. वीणा पर मध्यमग्राम की स्थापना के प्रकरण में। मूर्च्छना और ग्राम का परस्पर सम्बन्ध बताते समय भरत ने जो विधान दिया है, उसी से वीणा पर संज्ञाभेद से प्राप्य मध्यमग्राम का स्थान उपलब्ध हो जाता है। भरत के कथनानुसार षड्जग्राम के षड्ज को 'मध्यम' संज्ञा देने से अन्य सभी स्वरों की संज्ञाएं तदनुसार परिवर्तित हो जाएंगी एवं वीणा पर किसी अपकर्ष क्रिया के विना अथवा वीणा पर कोई विकलता उत्पन्न किये विना केवल संज्ञाभेद से ही मध्यमग्राम की विशुद्ध उपलब्धि हो जाएगी। यथा :—

षड्जग्रामिक स्वर—सा—रि—अं.गां.—म—प—ध—नि—सां
मध्यमग्रामिक स्वर—म—प—ध—नि—सां—रि—ग—म
३ ४ २ ४ ३ २ ४

स्पष्ट है कि षड्जग्राम का 'सा-रि' अन्तर ही मध्यमग्राम में 'म-प' अन्तर बन जाता है और षड्जग्राम का अन्तर गान्धार ही मध्यमग्राम का धैवत बन जाता है। इस प्रकार भरत के 'तुल्यश्रुत्यन्तरत्वाच्च संज्ञान्यत्वम्' तथा 'धैवतीकृते गान्धारे' ये वचन पूर्ण सार्थक सिद्ध होते हैं।

इस विवरण से यह स्पष्ट है कि वीणा पर विना किसी परिवर्तन के मध्यमग्राम की स्थापना तथा उस की मूर्च्छनाओं का निर्माण 'संज्ञा-भेद' से ही भरत को अभिप्रेत है और स्वर-संवाद के सिद्धान्त के अनुसार केवल वही संभव भी है; क्योंकि किसी अपकर्ष-क्रिया द्वारा मध्यमग्राम को गान-वादन-उपयोगी बनाना संभव नहीं है।*

आधुनिक शुद्ध स्वरावलि

दोनों ग्रामों के ऊपर लिखे विवरण से यह स्पष्ट है कि षड्जग्राम तथा मध्यमग्राम की स्वरावलि आज भी वीणा पर यथायथ रूप से विद्यमान है। ग्राम शास्त्रीय रचना है, इस का अर्थ यह नहीं कि वह कोई ऐसी काल्पनिक वस्तु है जो कर्ण-प्रत्यय या चाक्षुष-प्रत्यय से परे हो; अपितु, वह तो वीणा पर सदैव विद्यमान है; सर्वदा और सर्वथा उसका प्रत्यक्ष किया जा सकता है। साथ ही, यह भी उल्लेखनीय है कि प्राचीन काल से आजतक हमारी क्रियागत प्राकृतिक स्वरावलि का दोनों ग्रामों से अविच्छिन्न संबन्ध चला आ रहा है, जो नीचे के विवरण से स्पष्ट होगा।

मध्यमग्राम के निषाद से ही शंकराभरण या बिलावल की स्वरावलि पूर्णरूप से प्राप्त होती है और वही स्थान षड्जग्राम का मध्यम है। हम कह ही आए हैं कि इसी मध्यम से, कर्णाटक प्रदेश को छोड़कर सारे भारत में वीणा-वादन की क्रिया होती है। इसी स्थान से प्राप्त 'शुद्ध' स्वरावलि के आधार पर द्वैग्रामिकी शास्त्रीय रचना की गई है। इसलिए यह समझना कि षड्जग्राम ही प्राचीनों का शुद्ध स्वर-सप्तक था और किसी विदेशी प्रभाव के कारण उसका स्थान शंकराभरण अथवा बिलावल ने ले लिया, नितान्त भ्रान्तिपूर्ण है। वास्तव में हमारी क्रियागत परंपरा में कहीं विच्छेद नहीं हुआ है; प्राचीनकाल से आजतक हमारी क्रियागत प्राकृतिक स्वरावलि का दोनों ग्रामों के साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध चला आ रहा है। हां, यह अवश्य सत्य है कि दोनों ग्रामों का वीणा पर यथायथ स्थान प्रायः एक सहस्राब्दी तक हमारे शास्त्रकारों की दृष्टि से ओझल रहा। इस शोचनीय परिस्थिति के कारणों की तह में जाना यहां अस्थानीय है।

संलग्न चित्र में वीणा पर उभयग्राम तथा क्रियागत 'शुद्ध' स्वर-सप्तक की स्थापना दिखाई गई है।

---

*वीणा पर षड्जग्राम तथा मध्यमग्राम की स्थापनविधि यहां स्पष्ट की गई है। तानपुर पर गान क्रिया में इन दोनों ग्रामों की स्वरालियों का कर्ण प्रत्यय पाने की विधि 'प्रणव-भारती' के पृ० ९१, १०३ पर द्रष्टव्य है। विस्तार भय से उसका यहाँ उल्लेख नहीं किया गया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सारी संख्या (चल थाट के अनुसार	मेरु से श्रुत्यन्तर	परस्पर श्रुत्यन्तर	षड्ज-ग्रामिक स्वर	मध्यम-ग्रामिक स्वर	आधुनिक स्वर-संज्ञा
० ...	मेरु ०	०	नि	गां.	म.
१ ...	२....	....२....	....का. नि.....	...अं. गां.	.. ती म.
२	४....	... २....	... प. ...	... म.	....पं.
३	६....	....२...	.. स्व वि.*...	स्व. वि.	...कों. धै.
४ ...	७...	...१...	... ऋ. ...	. पं.	....धै.
५ ...	९...	...२ ..	... गां. ...	.... ×	को. नि.
६ ...	११....	...२....	...अं.गां....	. धै.	....शु. नि.
७	१३....	....२....	... म. ...	.... नि.	...प.
८	१७....	....४....	... पं.	.. प.	...ऋ.
९	१९...	.. २...	....स्व. वि....	.. स्व. वि.	.. को. गां.
१०	२०....	... १....	... धै.	... ऋ.	...शु. गां.
११	२२....	... २...	.... नि. ...	.... गां.	....म.

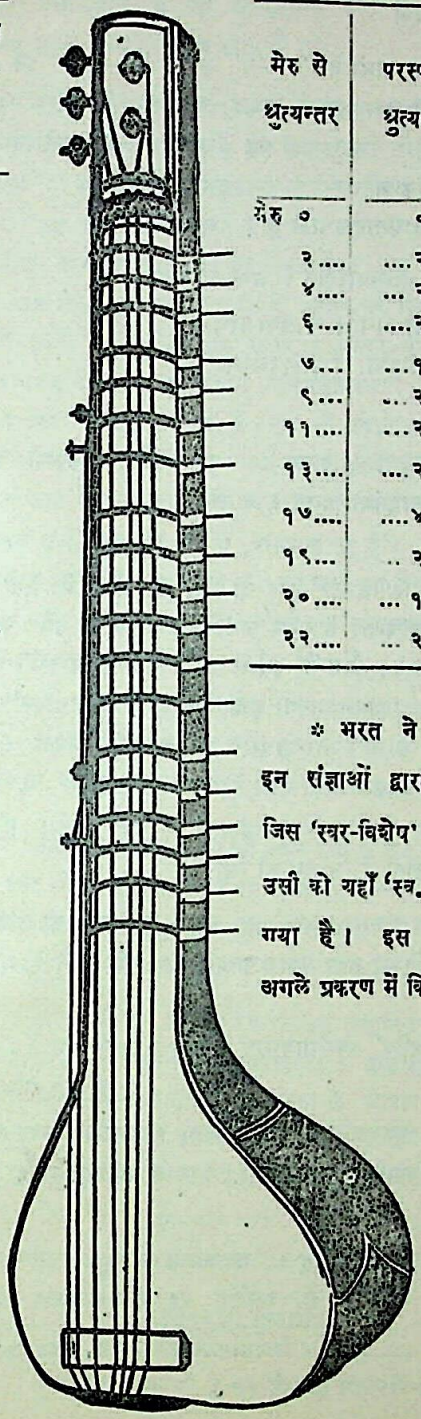

* भरत ने 'षड्जसाधारण' तथा 'मध्यमसाधारण' इन संज्ञाओं द्वारा द्वैग्रामिक त्रिश्रुति अन्तरालों के बीच जिस 'स्वर-विशेष' 'स्वर-साधारण' का निरूपण किया है, उसी को यहाँ 'स्व. वि.' इस सांकेतिक नाम से दिखाया गया है। इस 'स्वर-साधारण' का स्पष्टीकरण अभी अगले प्रकरण में किया जाएगा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्वर-साधारण

भरत ने द्वैग्रामिकी मूल स्वर-व्यवस्था के अतिरिक्त दोनों ग्रामों में 'ग—म' तथा 'नि—सा' इन चतुःश्रुति अन्तरालों के बीच स्वर-साधारण के रूप में अन्तर गान्धार तथा काकली निषाद, ये अन्य दो द्विश्रुतिक स्वर दिखाए हैं। ये दोनों स्वर तथा स्वर-संज्ञाएं आज प्रायः सर्व-परिचित हैं। किन्तु यहां यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि भरत ने दो अनुच्छेदों में दो प्रकार के स्वर-साधारण कहे हैं—एक अन्तरस्वरता तथा दूसरा स्वर-विशेष। अन्तर गान्धार तथा काकली निषाद ये दोनों 'अन्तरस्वरता' वाले स्वर-साधारण के अन्तर्गत आते हैं। यथा :—

साधारणं नामान्तरस्वरता। कस्मात् ? द्वयोरन्तरस्थं तत्साधारणम्। यथा ऋत्वन्तरे।

छायासु भवति शीतं प्रस्वेदो वा भवति चातपस्थस्य।
न च नागतो वसन्तो न च निःशेषः शिशिरकालः॥

इति कालसाधारणम्।

स्वरसाधारणं काकल्यन्तरस्वरौ। तत्र द्विश्रुतिप्रकर्षान्निषादादयः। काकलीसंज्ञो निषादो न षड्जः। द्वाभ्यामन्तरस्वरत्वात् साधारणत्वं प्रतिपद्यते, एवं गान्धारोऽप्यन्तरस्वरसंज्ञो गान्धारो, न मध्यमः।

(ना. शा. २८)

अर्थात्—"अन्तरस्वरता को 'साधारण' कहते हैं, क्योंकि 'अन्तर' स्वर दो स्वरों के मध्य में स्थित होने के कारण 'उभयसाधारण' होता है। उदाहरण के लिए, जैसे ऋत्वन्तर के समय अर्थात् दो ऋतुओं के सन्धि काल में ऐसा लगता है कि छाया में आने से शीत मालूम देता है और धूप में प्रस्वेद होता है, इस से प्रतीत होता है कि अभी वसन्त नहीं आया है और न अभी शिशिर समाप्त हुआ है। जैसे यह 'कालसाधारण' हुआ, वैसे ही 'स्वर-साधारण' भी समझना चाहिए। निषाद और षड्ज के बीच तथा गान्धार और मध्यम के बीच स्वर-साधारण से काकली निषाद तथा अन्तर गान्धार अभिप्रेत हैं। दो श्रुति के उत्कर्ष से 'निषाद' की काकली संज्ञा होती है, षड्ज की नहीं। काकली' निषाद अन्तर स्वर होने के कारण निषाद और षड्ज दोनों से उसका 'साधारणत्व' रहता है। उसी प्रकार गान्धार और मध्यम के बीच स्वर-साधारण होनेपर गान्धार की 'अन्तर' संज्ञा होती है, मध्यम की नहीं।"

ऊपर के उद्धरण से यह स्पष्ट है कि निषाद-षड्ज तथा गान्धार-मध्यम, इन चतुःश्रुति अन्तरालों के बीच 'अन्तर-स्वरता' स्वर-साधारण किया जाता है। इस से काकली निषाद तथा अन्तर गान्धार की सिद्धि होती है और इन दोनों स्वरों का सामान्य नाम 'अन्तर स्वर' है।

ऊपर उद्धृतांश के अनन्तर दूसरे अनुच्छेद में 'स्वर विशेष' स्वर-साधारण के लिये भरत ने कहा है :—

(ना० शा० २८)

स्वर-साधारणं द्विविधं द्वैग्रामिक्यम्। कस्मात् ? षड्जग्रामे षड्जसाधारणं, मध्यमग्रामे मध्यमसाधारणम्। साधारणोऽत्र स्वरविशेष इति स्वर-साधारणम्*। एवं मध्यमग्रामेऽपि साधारणत्वं, अस्य तु प्रयोगसौक्ष्म्यात् कैशिकमिति नाम निष्पद्यते।

अर्थात्—"स्वर-साधारण द्वैग्रामिक (होने से) द्विविध होता है। षड्जग्राम में षड्जसाधारण होता है और मध्यमग्राम में मध्यम-साधारण। यहाँ 'साधारण' से स्वर-विशेष अभिप्रेत है, इसलिए यह स्वर-साधारण कहलाता है।

---

* नाट्यशास्त्र के चौखम्बा संस्करण में 'षट्साधारणं' पाठ है और निर्णयसागर संस्करण में 'षड्जसाधारण' है। इन दोनों पाठों की संगति न बैठ पाने के कारण हमने 'स्वर-साधारणं' पाठ रखा है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस प्रकार मध्यमग्राम में भी साधारणत्व होता है। प्रयोग की सूक्ष्मता के कारण इस 'स्वर-साधारण' का 'कैशिक'* (केशाग्रवत् सूक्ष्म) नाम निष्पन्न होता है।"

'अन्तर-स्वरता' वाला स्वर-साधारण दोनों ग्रामों में चतुःश्रुति अन्तराल वाले स्वरों के बीच बताया गया है, जो दोनों ग्रामों के अन्तर-काकली के रूप में सब को परिचित है। त्रिश्रुति अन्तराल के बीच अन्य स्वर-साधारण के लिए भरत ने 'स्वर-विशेष' संज्ञा का प्रयोग किया है और इस की केशाग्रवत् सूक्ष्मता के कारण इसे 'कैशिक' नाम भी दिया है। हम जानते हैं कि सूक्ष्म से सूक्ष्म स्वरान्तर एक श्रुति का हो सकता है और ऐसे स्वरान्तर एक सप्तक में दो हैं, जो वीणा के परंपराप्राप्त पर्दों पर स्थित हैं। पृष्ठ ४३ पर दिए हुए चित्र में यह दिखाया गया है कि मेरु से चौथा पर्दा अपने पूर्व वाले तीसरे पर्दे से एक श्रुति के अन्तर पर स्थित है, तद्वत् मेरु से १० वाँ पर्दा (चल थाट के अनुसार) अपने पूर्व वाले नवें पर्दे से एक श्रुति के अन्तर पर स्थित है। इन्हीं सूक्ष्म अन्तरालों को दिखाने के लिए भरत ने 'षड्जग्रामे षड्जसाधारणं, मध्यमग्रामे मध्यमसाधारणं' ऐसा कहा है। हम जानते हैं कि षड्जग्राम का षड्ज तथा मध्यमग्राम का 'मध्यम' वीणा के एक ही स्थान पर स्थित हैं। इसलिए षड्जग्राम में जो 'स्वरविशेष' स्वर-साधारण षड्ज और ऋषभ के त्रिश्रुति अन्तराल के बीच होता है, वही संज्ञाभेद से मध्यमग्राम के मध्यम और त्रिश्रुति पञ्चम के बीच स्थान पाता है। षड्जग्राम के षड्ज या मध्यमग्राम के मध्यम के बाद का पर्दा दो श्रुति के अन्तराल पर है और उसके बाद वाला पर्दा एक श्रुति के अन्तराल पर है। इस प्रकार त्रिश्रुतिक अन्तराल के बीच जो स्वर-स्थान प्राप्त होता है उसका अपने पूर्व वाले स्वर से दो श्रुति का अन्तराल है और उस के बाद वाला स्वर उस से एक श्रुति के अन्तर पर है। इस प्रकार जो क्रमिक अन्तराल वीणा के स्वरस्थानों में प्राप्त हैं, उन्हीं का पूर्ण निदर्शन करने के लिए भरत ने षड्ज-साधारण तथा मध्यम-साधारण का उल्लेख किया है। इसी 'स्वर-विशेष' स्वर साधारण का संवादात्मक प्रतिघोष उत्तरांग में इस प्रकार होता है,—षड्जग्राम में प–ध अन्तराल के बीच और संज्ञाभेद से मध्यमग्राम में सा–रि अन्तराल के बीच। पृ०. ४३ का चित्र देखने से यह स्पष्ट हो जाएगा। इस प्रकार भरत ने वीणा के पर्दों पर उपलब्ध एक, दो, तीन और चार श्रुत्यन्तर वाले स्वरों को द्विविध स्वर-साधारण-युक्त द्वैग्रामिकी स्वर-व्यवस्था द्वारा शास्त्र-सिद्ध बनाया है।

भरतोक्त ग्राम-व्यवस्था को स्थूल दृष्टि से देख कर कई लोगों ने यह धारणा बना ली है कि भरत के सिद्धान्त के अनुसार स्वर का न्यूनतम अन्तर दो श्रुति ही है, अतः एकश्रुतिक अन्तर का स्वर हो ही नहीं सकता। किन्तु भरतोक्त 'स्वर-विशेष' स्वर-साधारण में एक श्रुति के स्वरान्तर के ऊपर उद्धृत उल्लेख से यह भ्रान्त धारणा सर्वदा के लिए निर्मूल हो जानी चाहिए कि स्वर के लिए कम से कम दो श्रुति का अन्तराल अनिवार्य है।

वास्तव में एक श्रुतिक स्वरान्तराल प्राकृतिक स्वरावलि में ही निहित स्वतःसिद्ध वस्तु है। यथा—षड्ज से प्राकृतिक गान्धार का (या अन्तर गान्धार का) सप्तश्रुति अन्तराल नैसर्गिक संवाद से सिद्ध है, जिसका मान है $\frac{4}{3}$। जिस प्रकार षड्ज–पञ्चम के संवादी अन्तराल के आधार पर ही पञ्चम–षड्ज के संवाद–संबन्ध में षड्ज–मध्यम–संवाद की प्राप्ति हो जाती है, उसी प्रकार षड्ज–अन्तर गान्धार के संवादी अन्तराल से ही अन्तर गान्धार और पञ्चम के संवाद–संबन्ध में षट्श्रुति संवाद की प्राप्ति हो जाती है। यथा :–

सा–प भाव सा–म भाव

सा ———————— प ———————— सां

१३ श्रुति अन्तराल ९ श्रुति अन्तराल

---

*'कैशिक' संज्ञा को ले कर 'संगीत रत्नाकर' तथा उसके परवर्ती ग्रन्थों में विपुल भ्रान्ति-परंपरा की सृष्टि हुई है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सा–ग भाव		सा–ग् भाव
सा	ग	प
७ श्रुति अन्तराल		६ श्रुति अन्तराल

'ग–प' के इसी षट्श्रुतिक संवादी अन्तराल को षड्ज के आगे जोड़ देने से षट्श्रुतिक तथा सप्तश्रुतिक गान्धार यों एक श्रुति के अन्तर से दो स्वर सिद्ध होते हैं। षड्ज और अन्तर गान्धार का संवाद–संबन्ध स्वीकार करते ही षट्श्रुति गान्धार को भी स्वीकार करना ही पड़ता है; उसे छोड़ा नहीं जा सकता और इस प्रकार एक श्रुति का स्वरान्तर स्वतः सिद्ध हो जाता है। अतः यह कहना दुराग्रहमात्र होगा कि प्राचीनों को षड्ज–अन्तर गान्धार का अन्तराल तो स्वीकार था, किन्तु षट्श्रुति गान्धार का अन्तराल उन्हें अज्ञात था या अग्राह्य था। आज भी हमारे कई रागों में षट्श्रुतिक तथा सप्तश्रुतिक इन दोनों गान्धारों का रञ्जक प्रयोग होता है, तद्वत् एक श्रुति के अन्तर वाले दो निषादों का भी प्रयोग होता है। (यथा काफ़ी में)। द्वैग्रामिक स्वर–विशेष के रूप में यह एकश्रुतिक स्वरान्तर वीणा पर मेरु से षट्श्रुति तथा सप्तश्रुति के अन्तराल पर स्थित 'षड्जसाधारण' अथवा 'मध्यम–साधारण' में ही हमें प्राप्त हो जाता है। उसी षड्ज–साधारण अथवा मध्यम–साधारण का उत्तरांग में जो प्रतिघोष होता है, वही वीणा पर हमारे क्रियागत षड्ज से षट्श्रुति तथा सप्तश्रुति अन्तर पर स्थित दो गान्धारों की निष्पत्ति करता है।

एक श्रुति के अन्तर पर स्थित दो गान्धार अथवा दो निषाद के अतिरिक्त अन्य अनेकों एक श्रुतिक स्वर हमारे आज के रागों में प्रयुक्त होते हैं। तोड़ी के अतिकोमल 'रि–ध', ललित के तीन मध्यम (शुद्ध, तीव्र तथा तीव्रतर*), मारवा का एकश्रुति ऋषभ; विभास की 'सारिसा' 'पधप' इन क्रियाओं के एकश्रुति ऋषभ–धैवत,–इत्यादि एकश्रुति स्वरान्तर के ज्वलन्त उदाहरण है।

एक श्रुति अन्तर के स्वरों की इस चर्चा से श्रुतियों के मान या नाप के बारे में जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। अतः उस विषय का अतिशय संक्षिप्त विवरण नीचे प्रस्तुत है।

श्रुतियों का मान

हम ऊपर कह आए हैं कि दो ग्रामों का मुख्य प्रयोजन श्रुत्यन्तरों की सिद्धि है। उन दोनों ग्रामों के आधार पर भरत ने जो चतुःसारणा–विधि कही है, उस विधि से श्रुतियों का विषम प्रमाण निःसंदेह सिद्ध हो चुका है।† ये श्रुति प्रमाण तीन हैं। यथा :–

१. कोमा $= \frac{८१}{८०} = ५$ सेवर्ट. २. लीमा $= \frac{२५६}{२४३} = २३$ सेवर्ट. ३. लघु अर्धस्वर $\frac{२५}{२४} = १८$ सेवर्ट.

इन तीनों श्रुति–मानों का षड्जग्राम में निम्नोक्त क्रम है :–

सा			रि			ग		अं.गां.			म				प			ध			नि			का.नि.	
को	ल	ली	को	ली	को	को	ल	ली	को	को	ल	ली	को	ल	ली	को	ली	को	को	ल	ली				

को. = कोमा ली. = लीमा ल. = लघु अर्ध स्वर.

* ललित में शुद्ध मध्यम के साथ 'म ऽ म् म' यह क्रिया करते समय शुद्ध 'म' से एक श्रुत्यन्तर वाला तीव्र मध्यम लगता है, तथा 'म्-ध्' या 'गरिम् गरिसा' इन क्रियाओं में शुद्ध 'म' से द्विश्रुति अन्तर पर स्थित तीव्रतर मध्यम लगता है।

† द्रष्टव्य 'संगीताञ्जलि' पञ्चम भाग पृ० ९५–१०३.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हमें यह सदैव स्मरण रखना चाहिए कि षड्जग्राम के श्रुत्यन्तरों का जो क्रम ऊपर निर्दिष्ट किया गया है, उसमें बाईसों श्रुतियों का परस्पर षड्ज–पञ्चम–भाव से संवाद निहित है और षड्जग्राम की रचना की यही विशेषता है।

श्रुतियों के विषम प्रमाण के अनुसार सप्तकान्तर, संवादान्तर, अनुवादान्तर इत्यादि का मूल्य निम्नोक्त है :–

'अन्तर'-का नाम	विषम श्रुति-प्रमाण	कुल श्रुति संख्या	गुणोत्तर-प्रमाण
सप्तकान्तर	१० कोमा + ७ लीमा + ५ लघु अर्ध स्वर	२२	२
संवादान्तर—सा-प	६ ,, + ४ ,, + ३ ,, ,, ,,	१३	३/२
,, —सा-म	४ ,, + ३ ,, + २ ,, ,, ,,	९	४/३
,, —सा-ग	३ ,, + २ ,, + २ ,, ,, ,,	७	५/४
,, —सा-ग्	३ ,, + २ ,, + १ ,, ,, ,,	६	६/५
अनुवादान्तर—(चतुःश्रुति)	२ ,, + १ ,, + १ ,, ,, ,,	४	९/८
,, (त्रिश्रुति)	१ ,, + १ ,, + १ ,, ,, ,,	३	१०/९
विवादान्तर (द्विश्रुति)	१ ,, + १ ,,	२	१६/१५
,, ,,	१ ,, + १ लघु अर्ध स्वर	२	१३५/१२८

ध्यान रहे कि ऊपर जो-जो संवादान्तर, अनुवादान्तर, अनुवादान्तर इत्यादि दिए हैं, उनमें उसी प्रकार के श्रुति-प्रमाणों का रहना अनिवार्य है; तभी वे संवाद या अनुवाद के अन्तर सिद्ध होंगे। इन निश्चित प्रमाणों के बिना चाहे जिस अनिश्चित प्रमाण को श्रुति-संख्या इन संवादी या अनुवादी अन्तरालों को निष्पत्ति नहीं कर सकेंगी। उदाहरण के लिए १३ श्रुत्यन्तर का षड्ज-पञ्चम-संवाद तभी निष्पन्न होगा जब तेरह श्रुतियों में ऊपर लिखे प्रमाण विद्यमान होंगे; केवल तेरह की श्रुति-संख्या से उस संवादी अन्तराल की निष्पत्ति नहीं हो सकती। हाँ, इन निश्चित श्रुति-प्रमाणों के क्रम में अवश्य परिवर्तन हो सकता है, होता ही है। इस क्रम-परिवर्तन का स्पष्टीकरण निम्नोक्त है।

ऐसा कोई भी स्वर-ग्राम नहीं है जिसका श्रुति-क्रम बाईसों श्रुतियों में परस्पर चारों संवादों को एक साथ सिद्ध कर सके। उदाहरणार्थ, षड्जग्राम के श्रुतिक्रम में बाईसों श्रुतियों में परस्पर 'सा–प' संवाद तो है, किन्तु सभी में परस्पर 'सा–म' संवाद या 'सा–ग' संवाद प्राप्त नहीं होता, नहीं हो सकता। इसलिए प्रत्यक्ष गान वादन-क्रिया में जब जो स्वर–संदोह प्रयुक्त होता है, उसमें निहित संवाद-संबन्ध की आवश्यकतानुसार श्रुति-क्रम में परिवर्तन होता रहता है। निम्नलिखित उदाहरणों से यह तथ्य स्पष्ट होगा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

१. भैरव का ऋषभ

'सा–रि' के चतुःश्रुति अन्तराल का श्रुति–क्रम इस प्रकार है—को. + ल. + ली. + को.। भैरव के द्विश्रुति कोमल ऋषभ का मान यदि इसी श्रुति-क्रम के अनुसार देखा जाए तो वह को. + ल, $= \frac{८१}{८०} \times \frac{२५}{२४} = \frac{१३५}{१२८}$ होगा। किन्तु भैरव का ऋषभ शुद्ध मध्यम के साथ सप्तश्रुति संवाद करता है। इसलिए उस संवाद सम्बन्ध के अनुसार उस ऋषभ का मान स्वाभाविक रूप से को + ली $= \frac{८१}{८०} \times \frac{२५६}{२४३} = \frac{१६}{१५}$ यों निष्पन्न होता है। $\frac{१६}{१५}$ मान वाले ऋषभ का ही मध्यम से सप्तश्रुति संवाद सम्भव है। यथा—$\frac{४}{३} \times \frac{१५}{१६} = \frac{५}{४}$। इस प्रकार ऋषभ के मूल श्रुति-क्रम में सहज परिवर्तन द्वारा भैरव का कोमल ऋषभ $\frac{१६}{१५}$ मान का होता है। किन्तु जिन रागों में द्विश्रुति कोमल ऋषभ तीव्रतर मध्यम के साथ नव-श्रुत्यन्तर से संवाद करता है, वहाँ उस ऋषभ का मान को. + ल. $= \frac{१३५}{१२८}$ ही होगा क्योंकि तीव्रतर मध्यम के साथ इसी मान का ऋषभ संवाद करेगा। यथा—तीव्रतर मध्यम $= \frac{४५}{३२}$ तदनुसार रि–म संवाद $= \frac{४५}{३२} \times \frac{१२८}{१३५} = \frac{४}{३}$।

२. मारवा के ऋषभ-मध्यम

मारवा का ऋषभ आरोह-क्रम में अन्तर गान्धार (सप्तश्रुति गान्धार) के साथ षट्श्रुति संवाद करता है एवं अवरोह क्रम में धैवत के साथ सप्तश्रुति-अन्तर से संवाद करता है। ऐसी अवस्था में उस ऋषभ का मान = सा–ग–षट्श्रुत्यन्तर $= \frac{५}{४} \times \frac{५}{६} = \frac{२५}{२४}$ या लघुअर्धस्वर है। ऋषभ के मूल श्रुति-क्रम में प्रथम श्रुति का मान कोमा है, किन्तु मारवा का ऋषभ एक श्रुति होते हुए भी, उसका मान कोमा न होकर लघु अर्ध स्वर है। मारवा के इस ऋषभ के साथ नव-श्रुत्यंतर से संवाद करने वाला तीव्र मध्यम भी सा–म + लघु अर्धस्वर $\frac{४}{३} \times \frac{२५}{२४} = \frac{२५}{१८}$ ही होगा।

इस प्रकार सभी स्वरसन्दोहों में स्वाभाविक संवाद-संबन्ध के अनुसार श्रुतियों का मान-क्रम सहज-रूप से, अनजान ही में परिवर्तित होता रहता है।

उपसंहार

इस विषय को अब अधिक न बढ़ाते हुए अन्त में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि भरत-प्रतिपादित सनातन स्वर-सिद्धान्त, उनकी कही हुई श्रुति-व्यवस्था, ग्राम-विभाजन, प्राकृतिक स्वरों के साथ उन ग्रामों का अटूट संबन्ध इत्यादि सभी सिद्धान्त सत्य की कसौटी पर, आधुनिक यन्त्रों पर भी पूर्ण और खरे उतरते हैं। कम से कम दो सहस्राब्दियाँ बीत चुकने पर भी आज वे पूर्ण हैं और अब तक अपरिवर्तनशील रहे हैं और रहेंगे। यह ऊपर के विवरण से स्पष्ट हुआ होगा।

सत्य सदैव 'सत्य' ही है। प्रकाश और अन्धकार का कोई मेल त्रिकाल में भी संभव नहीं है। 'ऋत' से ही ज्ञान की उपलब्धि होगी—'अनृत' से नहीं। इसीलिए भरत-प्रतिपादित सत्य-सिद्धान्त का यहाँ निदर्शन किया गया है। आशा है इसका पुनः पुनः पठन और मुहुर्मुहुः मनन भ्रान्त धारणाओं का उन्मूलन करेगा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ARYAN AND NON-ARYAN ORIGIN OF SOME INDIAN RĀGAS

SWĀMI PRAJÑĀNĀNANDA

From the history of Indian Music we learn that though ancient musicologists like Kohala, Yāṣṭika, Durgāśakti, Mataṅga, Pārśvadeva and others were recognised as the staunch followers of Muni Bharata of the *Nāṭyaśāstra* fame, yet, when they found that the *gāndharva* type of the post-Vedic music gradually fell out of practice and became unpopular among the artists and lovers of music, they adopted a novel course in the process of Indian music, with a synthetic vision, and this act of renovation was not new in the annals of Indian music. Many of the regional and tribal tunes were formalised with the help of *śāstric* ten essentials (*daśalakṣaṇas*) and they were christined after the places of their origin and also after the tribes accordingly. As for instance, we find that the *rāgas* like *mālava, āndhrī, chevātti, gurjarī, kāmbojī, pulindikā, śāverī* or *śrāverī, bāṅgālī, ṭakka, kauśiki*, etc., were adopted from the current tunes of the songs of those of the tribes of both Aryan and non-Aryan stocks. The *rāga boṭṭa* or *bhoṭṭa* was also a tribal tune of the *Bhotadeśa* or the Tibetan speaking peoples. Mataṅga has said that Rāgas like *ṭakka*, (or *ṭaṅka* or *ṭaṅkī*), *sauvīra* (or *sauvīrī*) and *vesarā, boṭṭa* (or *bhoṭṭa*) originated from the treble clef or *madhyamagrāma* between the 3rd—5th century A. D. But it will be interesting to know as to how the *rāga boṭṭa* (or *bhoṭṭa*) came into being and was included within the fold of the *rāgas* of Indian music. We know that the Buddhist religious and cultural missions crossed many times the borders of India, and travelled far into the lands of Iran, Turkistan, China, Japan, Corea, Indo-China and different parts of the middle and East Asia, and even to the Western countries, from Bengal (Gauḍa) Magadha, etc., through Kashmere, Tibet, Bhotan, Khotan, Samarkand, Yerekand, Sugda, Kutcha, etc. From the Chinese chronicles we came to know that the Buddhist religious missions went to China several times through Central Asia and other places, early in the first century A. D. and that Indian culture, including music, both vocal and instrumental and dancing, were introduced in Kutch, Khotan, Samarkand, China and even in Persia and Arabia. In the eleventh century A. D., during the reign of the Pāla Kings of Bengal, there was a close contact between India and Tibet. Tibet became a powerful kingdom during the reign of Śranga-tsaṅ Gampo, in the seventh century A. D. The Pāla kings helped a good deal towards the propagation of Buddhism in Tibet. The Tibetan monks used to visit the monastries like Nālandā, Vikramśilā and Odantapuri, etc. for studying different subjects including Buddhist scriptures. Atīśā Dīpaṅkara, a monk of Eastern Bengal, visited Tibet in the eleventh century A. D., during the reign of Nyāyapāla of the Pāla Dynasty. Hundreds of Sanskrit manuscripts were translated into Tibetan language,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

of which the famous Tāñjur and Kāñjur are worth mentioning. Through the medium of trade and commerce, religion and culture Tibet and its adjacent countries were intimately connected with India, and in this way it became possible to incorporate the Tibetian tunes into Indian music.

The *rāga ṭakka, ṭaka* or *ṭaku* afterwards modified to *ṭaṅka* or *ṭaṅkī*, was also a tribal tune of the Ṭakka race of the Aṭ-ṭok country. It is said that before the advent of Lord Buddha, Ṭakka or Aṭ-ṭok was situated on the bank of the river Sind. Taxila was one of their cultural centres. Dr. P. C. Bāgchi is of opinion that "the Ṭakkas who lived for some time in the Northern Punjab around Sialkot were most probably of foreign origin". But the *rāga ṭakka* or *ṭaku* was included within the fold of the Aryan music. The ancient musicologists are of opinion that *ṭakka* is an ancient *rāga* like *mālava* and *hiṇḍola*. Kaśyapa, one of the ancient musicologists has assigned a high place to *ṭakka rāga*, and he says that it is a very favourite *rāga* of Devī Lakshmī, the goddess of fortune : "*mukhya-gaḥ Lakśmī-prītikaratvāt*". It has already been said that *ṭakka* is known at present as *ṭaṅka* or *ṭaṅkī*.

Like *ṭakka, boṭṭa* or *bhoṭṭa rāga* is also a regional tune, adopted from the *Bhoṭadeśa*. In 306 A. D. Srang-tsan-Gampo married Bhrukuti Devī, the daughter of the King of Nepal, and was converted into Buddhism. He established political as well as cultural relations with Magadha and Gauḍa, through Nepal. But the *rāga boṭṭa* or *bhoṭṭa* was adopted into the Indian classical stock, long before Sranga-tsaṅ-Gampo, along with other regional *rāgas, ṭakka, sauvira, mālava-panchama, ṣāḍava, hindolaka, ṭakka-kauśika* and *mālava-kaushika*. In Matanga's *Bṛhaddeśī*, written in the 5th-7th century A. D., these *rāgas* have been given honourable position of the *grāmarāgas*, evolved from the *jātirāgas* and their basic scales in the *ṣaḍjagrāma* and the *madhyamagrāma*. The above-mentioned *rāgas*, including *boṭṭa* or *bhoṭṭa*, were used in the *rāga-gītis* like *śuddhā, bhinnā*, etc.

Regarding the Tibetan *rāga boṭṭa* or *bhoṭṭa*, Mataṅga has said that it evolved from the primary clef or *ṣaḍjgrāma* ; "*boṭṭa-rāgaśca ṣaḍjākhye*". While describing the Tibetan tune, he says :

Syāt ṣaḍja-madhyamā-jāteḥ pañchamaśca vinirgataḥ
Boṭṭa-rāgaśca vijñeyaḥ pañcamāt so ('anta)-madhyamaḥ

The Tibetan tune *boṭṭa* manifests itself, by taking the four microtonal units from the fifth note, *pañcama*. Its initial (*graha*) and vital (*aṁśa*) note is *pañcama*, and the final (*nyāsa*) note is *madhyama*. The use of *gāndhāra* and *niṣāda* is frequent. *Niṣāda* is used as a sharp note. It is heptatonic (*sampūrṇa*) in form, and is connected with the sacred ceremonial function. Its emotional sentiments like *śānta*, etc. are used to make it graceful and lustrous. Śārṅgadeva has also followed Mataṅga, and says that the regional *rāga boṭṭa* was used in the sacred memory of the Lord Śiva, the divine consort

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

of Bhavānī Gaurī and the daughter of the mountain Himālayas : *"utsavo viniyoktavyo bhavānīpati-vallabhaṃ."* Śārṅgadeva has composed a song for the *rāga*, with notation, and the Sanskrit-Bengali composition (*sāhitya*) of the song is strikingly similar to that of the mystic poet of Kenduvilva, Jayadeva. The composition of the song runs thus :

Pavana-vilulita bhramita madhukara
jalaja-reṇu-paripiñjarita
Mada-mandagati haṅsa-vadhūr-
vicarita vikaśita-kumuda-vane

which means, the water of the sacred lake on the Himālayan mountain is almost covered with the full-blown water-lilies. The bees being swayed by the wind are humming sweetly, becoming intoxicated with their sweet fragrance, are collecting honey, mixed with the drops of water. The swan-bride (*haṅsa-vadhū*) is sporting in the forest of blooming water-lilies in measured majestic rhythm.

The people of the *Bhoṭadeśa* adopted Tāntricism like the Buddhists sometimes after the 11th-12th century A. D. Āchārya Indrabhūti propagated the Tāntric Buddhism in Bengal probably after the ideal of the Hindu Tāntricism already prevailing in India from ancient times. The Tāntricism of Tibet or *Bhoṭadeśa* may be an admixture of Hindu and Buddhist Tāntric cults. In Tantra and Purāṇa, the Lord Śiva has been given an exalted and venerable position, and perhaps being aware of it, Śārṅgadeva has connected this *rāga* of the mountains with Śiva, the presiding deity of the Himālayas.

The *rāgas*, *bhairava* and *bhairavī* were the ceremonial tunes of the aboriginal tribe, Bhiravā, who lived in the Himālayan Valley with the tribes like Ābhīra, Śavara, Caṇḍāla, Pulinda, and others. Śāradātanaya has mentioned about them in his *Bhāvaprakāśana* in the 14th century A. D. They were non-Aryans. Probably between the 3rd to 11th centuries A. D., these two tunes were adopted into the Aryan stock, determining them with ten essentials. We for the first time come across the *rāgas*, *bhairava* and *bhairavī* mentioned in the *Saṅgītasamayasāra* (vide 3,5,17,70) of Pārśvadeva of the 9th-11th century A. D. The *bhairava* is known at present as the foremost tune *ādi-rāga* (*"śubhrāmbaro jayati bhairava ādi-rāgaḥ"*). But from the historical point of view it is known that the first appearance of the *rāga bhairava*, together with *bhairavī* took place in the 9th-14th centuries A. D., and it was Pārśvadeva who has enunciated both the rāgas in *Saṅgīta-samayasāra*. So it must be taken to mean that *bhairava* has been enumerated as the foremost *rāga* from the aesthetic viewpoint, and not from the historical one. The *rāga bhairava* evolved out of the *grāmarāga* form *bhinna-ṣaḍja*, which in its turn originated from the *jātirāga*, *ṣaḍja-udīcyavatī* (SR. II. 79-82). Bharata and Śārṅgadeva considered the *ṣaḍja-udīcyavatī* to be pentatonic, having its base in the middle clef or *madhyama-grāma*. The rāga, *bhinna-ṣaḍja* was also pentatonic, *ṛṣabha* and *pañcama* being left out. *Bhinna-*

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ṣaḍja was considered a sacred ceremonial *rāga*, and it was sung on the occasion of the *Sārvabhauma* ceremony ("*sārvabhaumotsave geyo*"). The rāga *bhairava* is also pentatonic, and breathes the same spirit, and creates the same sacred atmosphere like *bhinna-ṣaḍja* ("*prārthanāyāṃ sama-svaraḥ*".

The *rāga bhairavī* also evolved out of *bhinna-ṣaḍja*, but it the heptatonic (*pūrṇa*). *Bhairavī* was also considered sacred like *bhairava*, and was practised on occasion of sacred ceremony or worship ("*devādi-prārthanāyāṃ tu bhairavī viniyujyate*"). Again it should be noted according to Śārṅgadeva that *bhinna-ṣaḍja* possessed emotional units or aesthetic sentiments like *śānta, bībhatsa* and *bhayānaka*. Bharata also is of opinion that the parent *rāga* (i. e. *jātirāga*) *ṣaḍja-udīcyavatī* possessed emotional categories like *śṛṅgāra* and *hāsya* (NS. 29.1). We thus find that the emotional qualities of *bhinna-ṣaḍja* were somewhat different from that of its causal *rāga*, and it is probable that in later days *bhairava* and even *bhairavī* came to be manifested with the common qualities of their causal and remote causal rāgas, i. e. they possessed *śānta* (in place of *śṛṅgāra*), *bhāyānaka* and *karuṇa* (in place of *hāsya* and *bībhatsa*). Again it is a fact that the manifestations of sentimental raptures of both *bhairava* and *bhairavī* took some novel courses with the passage of time as we find that the emotive ingredients of *bhairava* and *bhairavī*, *bhayānaka* and *karuṇa* do not generate at all fear and compassion, rather they do help to generate serenity, calmness and peace, and thus bring about balance of mind, in accordance with the peaceful effect of *śṛṅgāra* or *śāntarasa*.

The *Śaka rāga* was also a tribal tune of the Śakas or Scythians. The Śakas were displaced from their home in central Asia by the Yul-chi and were forced to migrate to the South. They were also found to be settled in Southern Afganisthan, in the beginning of the Christian era, and the territory they occupied, came to be known as *Śakasthāna*, and modern Sistan. They were one of the groups of Pahlava, Parthian and Kushan. Some of the Saka-Pahlava kings or *kṣatrapas* used to rule in Kapiśa, near Taxila in the Western Punjab, and some at Mathurā and upper Deccan, and at Ujjain in Mālwā. The Sakas or Scythians and Kushans were a cultured people and different kinds of arts and crafts came into being during their regime and remnants of their art and culture are to be found in the Indian Society. B. N. Dutta has said in the book *Indian Art in Relation of Culture* : "That the art of the Scythian peried was an innovation, and died out after the cessation of the Scythian rule, is not borne out by the latest investigation. There has been a continuity of culture and its tradition." The Saka or Scythian *rāga* manifested itself in two main forms, *śaka-tilaka* and *śaka miśrita*. It is now almost obsolete in the present society. However the *śaka-rāga* has been associated with Śiva the Lord of the Universe : ("*Śiva-priya*", SR. 3. 62).

The *rāga-toḍī* was a pastoral and ceremonial tune of the Turkish people. It is a historical fact that North India was engulfed by the Turkish hordes and in this respect,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

South India, being free from the influence of the Turkish, Islamic and other foreign cultures, could preserve the old traditon, to some extent. Dr. Dutta has said that it is the classical musical system of the heyday of Hindu culture that existed in the time of Vakataka-Gupta period so long as it had been independent of foreign influence. Then came the Turkish invasion. North India was engulfed by it, and the Turkish todi was introduced in the Indo-Aryan musical system. As has already been said originally it was the pastoral tune of the Turkish people. In Subandhu's *Vāsavadattā* we get its hint in the "*samāsanna-kinnari-gīta. Śravana-rasamana-ruru-visareṇa*", which means 'the deers were mad with joy when they heard the song of a *kinnari* i. e. a young maiden standing near by'. In the *Kathā-sarita-sāgara* too, this incident has been mentioned several times: "*Śatena gīta-śabdena śrutena hariṇo yathā ākṛṣṭaḥ*'. Hemchandra has also mentioned this fact when he described about Kuṇāla, the son of the Emperor Aśoka. Hemchandra has said,

Pāṭaliputra-nagare yatra yatra yayau sa tu
Tatra tatra yayuḥ paurāḥ gītākṛṣṭa kuraṅga-vat

So we find that in the mediaeval time, the hunters used to hunt deers, singing a charming tune, that attracted them. Alberuni has also mentioned it in his itinerary, wherein he has observed that he witnessed the hunters hunt the deers with songs, without using any weapon or trap. Prof. O. C. Gangoly says that there is a beautiful allusion in the *Nāgānanda* of Śri Harṣa that whenever the deers heard the charming tune of any song or *veeṇā*, with closed eyes, the half chewed green grass used to fall down from their mouths. It is said that the farmer.maidens used this tune to attract the minds of the deers, in order to prevent the spoiling of the corns in their fields by them. Now, being inspired by this beautiful imagery painters of medaeval India portrayed the rāga todi as a young maiden, *veeṇa* in hand, surrounded by a herd of deer. The tune afterwards got the honourable position in Indian classical music under the nomenclature or *toḍī* and Parśva-deva has included it within the fold of the *upāṅga-rāgas*.

The rāga *kāmbojī*, *kāmbodhī*, *khāmbāj* or *khāmāich* was the national tune of the people of Kāmbuja, Kāmboja, Kāmbodiā. The Chinese itinerant monk Houen Tsang has said that the people of Kāmboja were non-Aryans, and this fact has been corroborated by the *Bhuridatta jātaka*. The Kāmbojians have been mentioned in the *Viṁśa-brāhmaṇa* of the Sāmaveda. Yāska has determined the language of the Kāmbojians as different from that of the Aryans. Prof. Zimmer is of opinion that the Kāmbojians were closely related to the people who lived in the *Uttarāpatha* or north-Western Province of India. Prof. Grearsan has spoken of the similarity between the Kāmbojians and the Indians. The term 'Kāmbojian' is also found in the ancient rock inscriptions of Persia. Dr. Lakṣmaṇa Sarūpa has observed that Yāska has classified the Aryans and the non-Aryans on the linguistic basis of spoken Sanskrit and Prākrit, and he is of opinion that

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

both the Kāmbojians and the people of the East used primary Sanskrit while the Aryans and the Northerners used provincial Prākrit. This leads us to believe that though the Kāmbojians were a Sanskrit speaking people, yet they were not included within the Aryan clan, and as such the national tune of the Kāmbojians, Kāmboji was originally known as the non-Aryan one. This view also finds support of Mataṅga in his *Bṛhaddeśī* and when it was included into the fold of the Indian classical music, it came to be regarded as an Aryan tune or *rāga*.

The rāga baṅgāl or baṅgālī was a tribal i. e. national tune of Baṅga or Bengal. The *rāga gauḍa* or *gauḍī* also evolved from Bengal just as the literary style of *gauḍī* (*gauḍīrīti*) evolved from Bengal. Gauḍa was once the capital of the Greater Bengal. The term 'Baṅga' is to be found in the *Aitareya-Brāhmaṇa*, 2.1.1., along with the names of Bagadh, Chera and other birds. Bagadh is another name for Magadh. With regard to the term 'bird' Dr. Pushalkar has said that probably it signifies that the people were of non-Aryan stock, and so the languages they spoke, were not intelligible to the Aryans. The name Aṅga along with Baṅga occurs in the *Baudhāyana-Dharmasūtra*, *Mahābhārata* and other epics and literature. Prof. Oldenberg has called the peoples of Aṅga and Baṅga as the ancient Aryans, but Dr. Pushalkar does not support this view. So it is a matter for investigation whether the rāga bangala or Bangali of the *Baṅgadeśa* is of the Aryan or non-Aryan origin.

The *rāga gāndhāra* or *gāndhārī* was a tune of the Gāndhāradeśa, modern Kāndhāra. It has been said in the Epics that the music-loving semi-divine Gāndharvas were the inhabitants of Gāndhāra. The North-Western Province of India once came under the influence of the culture and civilisation of ancient Greece, and Gāndhāra too came within their orbit. But most of the historians are of opinion that the races like Gāndhāra, Śavara, Niṣāda, Pulinda, etc. were not really included in the Aryan group, and so the *rāga gāndhāra* or *gāndhārī* may be regarded as non-Aryan in its origin.

The ancient *rāga pulinda* or pulindikā was a tribal tune of the Pulindas. The Pulindas have been mentioned in the *Mahābhārata*. They are also mentioned along with the Andhras in the Asokan inscriptions. The capital of the Pulindas was called the *Pulinda-nagara*. Probably the *Pulinda-nagara* was situated to the south-east of Darśāṇā or Vidiśā, modern Bhilsā. Again Darśāṇā was the former name of *Rupnāth*, where Asoka's pillar was found, and this Darśāṇā and its adjacent areas were really the seat of culture of the Pulindas. The *rāga pulinda* or *pulindikā* was, therefore, a tune of the non-Aryan people, with a developed culture.

The *rāgas*, āndhrī, śavarī or śāverī or śrāverī and ābhīrī were also the tribal tunes of the Andhras, Śarvaras and Abhiras. The historians are of opinion that the Andhras, the Śavaras and the Abhiras were partly under the Aryan influence and partly under

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

the non-Aryan. In the Brāhmaṇic literature they were known as the *Dasyus* or robbers. The Andhras lived in the area between the rivers Krishnā and Godāvari. Dr. H. C. Roy Choudhury is of opinion that the Śavaras were a branch of the Śaura races of the hill tracts of Vizāgāpattam. The historian Plini has mentioned a race '*Suyeri*' by name. The Śavaras had their abode in Gwalior and even in the border of Orissā and Vindhyān forest. They were non-Aryans, and so the *rāga śāverī* or *śrāverī* can be regarded as the non-Aryan tune of the Śavaras. The Ābhīras being the most important of the succeding powers in Deccan like the Vakatakas, Pallavas and Kadambas, the tribal tunes andhri and abhiri of the Andhras and Abhiras can similarly be regarded as the non-Aryan tunes though afterwards they were included within the fold of Indian classical music.

The *rāga gurjarī* is also known as a foreign tune, as it was adopted from the *Gurjara-deśa*. The Gurjaras entered India long after the Śakas or Scythians, Yavanas, Bahlīkas and Palhavas. Some are of opinion that the Gurjaras were a nomadic pastoral tribe, who lived in the central Asian desert. They entered Āryāvarta by the North-West border of India. In the 7th century A.D., The Chinese traveller Hiun Tsang has mentioned about the Gurjaras. Some say that as the *rāga* was prevalent among the Gurjaras, it was known as *gurjarī*: "*Gurjarīya-deśa-pracārāt gurjarī*". Nānyadeva, the king of Kashmere* mentions *gurjarī as a* regional tune: "*deśākhyā dākṣinātyā ca saurāstrī gurjarī tathā*". Yāṣṭika takes *gurjarī* as a subordinate tune (*janya-rāga*) of *ṭakka*, and according to some, it is a subordinate one of *mālava-kauśika*.

The *rāga kānaḍā* was formerly a tune of elephant hunting in the *Karnāta-deśa*. Prof. Gangoly has given a graphic description of the *rāga karṇāṭa* in his illuminating article on the secret of the names of the *Rāgas* and *Rāgiṇīs*. He has said that ancient Karnāṭa was famous for hunting of the elephants. The king of the country, accompanied by soldiers, attendants, and singers was accustomed to hunting, and it was a common custom of the royal family of the period. It is said that a peculiar tune used to be sung when the elephant was killed, and while its tusks were presented to the king as a token of his triumphant hunting. That tune used to signify two things, one the pathetic sound of the last breath of the dying elephant, and the other a sound of extreme joy of victory in hunting. In the contemplative composition (*dhyāna mantrams*) of *kānaḍā*, as depicted in the *Sāṅgīta-darpaṇa* of Dāmodara, we find the following description:

Kṛpāṇa-pāṇiḥ gaja-danta-khaṇḍaṃ
ekaṃ vahan dakṣiṇa-hastakena /
Samstūyamānaḥ sura-Cāraṇaughaiḥ
Karṇāta-rāgaḥ Kṣitipāla-mūrtiḥ //

Thus the *rāga kānaḍā* or *karnāta* may be said to be a 'hunting melody'. But, afterwards when the *Karnāta-deśa* came under the influence of Vaisnivism in the mediæval

*Nānyadeva is known as the king of Mithila—Editor.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

time, the hero of the hunting, i. e. king came to be conceived as Śrī Kṛṣṇa, and the story of slaying of the Gajāsura was interpolated in the factual episode of elephant hunting. The result was that the hunting tune came to be associated with the name of Śrī Kṛṣṇa in a mutilated form as Kāṇa and karaṇa, and lastly *kānaḍā*, though the real name of *kānaḍā* is *karnāta*, which commemorates the regional tune of the *Karṇāta-deśa*. But whether the people of *Karnāta-deśa* were Aryan or non-Aryan, that question requires to be resolved. Besides, we find the *rāgas*, āndhri, *śaverī* or *śrāverī*, *pulindikā*, *mahārāstrī*, *mālava* etc., which evolved out of the regional and national tunes of those tribes. Matanga has given full description of those tunes, and they were adopted in the stock of the Indian classical music, either during his time or prior to it.

Persian tunes also received honourable position in the domain of Indian music. As for example, though Pundarika Viṭṭhala has called *hijej* or *hejjej* as '*parad*' or '*paradatta*', i. e. of foreign gift, yet he has included it in the *āśāvarī* scale and has said in the *Rāgamañjarī* : *deśikāra vākharejaḥ āśāvaryām jijejakaḥ*. He has further mentioned fifteen foreign *rāgas*, in his *Rāgamañjarī*, including *nisāvara*. It is said that the *rāga nisāvar* was devised by Emperor Akbar. Similarly Lochanakavi has mentioned in the *Rāgataraṅginī* that the foreign *rāga phirdosta* evolved out of the combination of *varāṭī*, *Bāṅgālī* and *vibhāsa*. In this connection the names of the following tribal and regiona, tunes or *rāgas* are also worth-mentioning. They are : *Mahārāstra-gurjarī*, *dakṣiṇa-gurjarī*l *Kāmodasiṁhala*, *dākṣiṇātya*, *karnāta-gauḍa*, *drāviḍa-gauḍa*, *sautrāstrī*, *dvitīya-sautrāstrī*, *drāviḍī*, *māngalī*, *kālindī*, etc. Besides them, there are other regional *rāgas* like *varāṭī* and its variants, and *paṅcami*, *saindhavī*, *gauḍi* etc. The rāgas like *tumburu*, *poṭa* (*potta*), *dhvani*, *kandarpa*, *kolhāsa*, *raktahaṁsa*, *kokila-pañcama*, *kiraṇāvalī*, *vegharatī*, *nadyā*, *paurālī*, *kacchali*, *mādhurī*, *khañjanī*, *kauśali*, *dohyā*, *tānā*, *ravicandrikā*, *śālavahanī*, etc. are also of the mixed elements, and they evolved during the renaissance period. The rāga *hārmaṇa* or *hammāṇa* seems to be of foreign tune (*rāga*), which was taken from the national tune of the Armenians. I would like to quote the lines from Dr. Bāgchi's article : *On the Diffusions of Indian Music in Ancient Times*, in this connection. He has said : "The other name, *Harmāṇa* seems to be of great interest. Mataṅga mentions it only once as *Harmāṇa* (p. 84) but in another place as *Bhammāṇa* (p. 100). The *Saṅgīta-Ratnākara* mentions it as *Bhammāṇī* (p. 225), but as the author of this work did not live before the 13th century A. D. he was simply reproducing mistakes of his predecessors. It seems that *Harmāṇa* (Prākrit *Hammāṇa*) was the correct form of the name and *Bharmāṇa* came to bh. in Indian script. Even *Harmāṇa* is unknown, but it is not quite unreasonable to suggest a connection of this name with the ancient name of Armania—*Arminā*. The Armenians like the Inranians of Central Asia were famous in the world of trade and were as such the intermediaries through which many traits of culture were carried to other countries".

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Now it is found that musicologists and historians have traced back to the sources, origin of some of the *rāgas* and their real significances as well. Though they have considered them as different structures of notes or tones, surcharged with emotional sentiments and moods, yet they believe that the *rāgas* of India are full of spirit, and transcend the limitations of names and forms, and shine supreme in undying glory and exquisite beauty. They also consider the ragas as the means to a supreme end. The poets of the 16th-17th century have composed the contemplative compositions (*dhyāna-mantrams*) and the intuitive painters have drawn colourful pictures for helping in the ways of concentration and meditation upon the divine forms (*devemaya rūpa*) of the *rāgas*, for spiritual illumination and upliftment. The *jātirāgas*, as depicted in the Great Epics like the *Rāmāyaṇa*, the *Mahābhāratā* and the *Harivaṁśa* (400-200 B. C.) evolved out of sacred remnants of the Vedic music, *sāmagāna*, and so they contained within them the sacred spirit and solmen ideal of the Vedic music. We know from the history of Indian music that from the *jātirāgas* evolved the *grāmarāgas*, and from the latter, different *bhāṣārāgas*, having in them the identical ideal and spirit. Intermingling and fusion of art and culture among different nations and different countries are inevitable in all ages, and the process enriches the domain of art and culture.

Again it may be remembered that India always maintains with her a broad outlook and synthetic vision. This has been maintained throughout the ages,—from the Vedic period down to the present time. She is prone to embrace and include all that comes unto her in the shape of wisdom and culture, and thus enriches her own priceless treasure of art and literature, religion and philosophy. The tunes of the songs of the non-Aryan and the aboriginal tribes of India, and even of countries beyond its pale, were all absorbed and included within the fold of her system of music, and some more notes were probably added unto them to make them suitable for and worthy of the *rāga* forms. Mataṅga (5th-7th century A.D.) has said in his *Bṛhaddeśī* that songs with four or less than four notes should not be considered as the *mārga* (or *gāndharva*) type of music: "*catuḥ svarāt prabhṛti no mārgaḥ*", and it is probable that when the tunes of the aboriginal peoples with lesser notes were adopted into the system of formalised *deśī* music, they were reformed (*samskṛita*) and moulded into some new and novel forms. So far as the history of Indian music is concerned, this work of reformation commenced just after the time of Muni Bharata of the 2nd century A.D., i.e. during the 3rd-5th century A.D., and Kohala, Yāṣṭika, Durgāśakti, Mataṅga and others had their hands in this task of rectification *cum* adaptation. It is, therefore, the fact that both the Aryan and non-Aryan elements of music helped to build the grand architecture of Indian classical music. The period of intermixture of the elements of different systems of music may be considered as the dawn of renaissance, and this renaissance took place in India several times and ushered forth an era of new life and vigour into the whole system of Indian music.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विश्वकर्मा

[डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल]

समस्त विश्व जिसका कर्म है, यह विराट् जगत् जिसकी रचना है, उस देवाधिदेव के लिये वेदों में विश्वकर्मा यह सुन्दर संज्ञा प्रयुक्त हुई है। काव्य, संगीत, कला, नृत्य, चित्र, शिल्प वास्तु आदि समस्त सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का जो एक मात्र छन्दोमय स्रोत है वही विश्वकर्मा का विधान है। विश्वकर्मा को ऋग्वेद में 'परमा संदृक्' कहा गया है। संदर्शन का जो परम रमणीय रूप है उसका प्रवर्तक विश्वकर्मा है। रूप दो प्रकार के हैं—मानस और चाक्षुष। समस्त रूप पहले मन में जन्म लेते हैं अथवा चित्त में चित्रित होते हैं और फिर तदनुसार वे भूतों के मूर्त धरातल पर उतरते हैं। विश्वकर्मा की रचना में मूर्त और अमूर्त दोनों रूपों का विधान पाया जाता है। जहाँ एक ओर शब्दमयी वाक् उसकी सृष्टि है वहीं दूसरी ओर मौन या तूष्णीम् भी उसी का रूप है। जहाँ एक ओर अनेक वर्णों की चित्र-विचित्र व्यंजना विश्वकर्मा की कृति है वहीं दूसरी ओर सब वर्णों की समष्टि या जिसे उपनिषदों में अवर्ण सृष्टि कहा है उसी का रूप है।

वैदिक भाषा में दृश्य जगत् को "इदं सर्वम्" कहते हैं। "इदं सर्वम्" विश्व में नाम और रूपों की अनन्त कृतियाँ हैं जिन्हें हम मन और इन्द्रियों से जानते हैं। जो कुछ भी उत्पन्न हुआ है और जानने योग्य है उस सबका पूर्व अस्तित्व विश्वकर्मा में विद्यमान था। कहा है—

य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वद् ऋषिर्होता न्यसीदत्पिता नः।
स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आ विवेश॥

ऋक् १०–८१

विश्वकर्मा सबका पिता है। वह सर्व प्रथम है। वह सारे विश्व को आशीर्वाद दे कर सोंचता है और फलस्वरूप वहाँ समस्त रत्नों की सृष्टि होती है। विश्वकर्मा का सूत्र सब में पिरोया हुआ है। उसने इस विश्व यज्ञ में जो आहुति पूर्व युग में डाली है, उस आहुति में सब रूप, सब गति और सब वर्णों का सन्निवेश है। विश्वकर्मा इस सृष्टि का ऋषि है। जो कर्म करते हुये असंग या निर्लिप्त रहता है उसे ऋषि कहते हैं। प्रत्येक कर्म में विश्वकर्मा की स्थिति इसी प्रकार की है। विश्वकर्मा इस विश्व यज्ञ का होता है। होता वह शक्ति है जो निरंतर आहुति का विधान करती है। इस विश्व में जितने भी यज्ञ हैं उनके दो रूप हैं एक व्यष्टि और दूसरा समष्टि। व्यष्टि रूप सान्त और सीमित होता है, समष्टि रूप अनन्त, असीम और अमृत की संज्ञा है, वही विश्वकर्मा का भागदेय है। पुराणों में जिस दक्ष यज्ञ का विध्वंस कहा गया है वह व्यष्टि या एक व्यक्ति का यज्ञ है। इस यज्ञ में जब शिव और उनकी महती शक्ति सती को भाग नहीं मिलता तब यह यज्ञ खंडित हो जाता है। शिव समष्टिगत सत्ता है। वही विश्वकर्मा है। यज्ञ के अखंड अमृत भाव के लिये समष्टि की आराधना निरंतर आवश्यक है। कलात्मक जीवन का यही रहस्य है। एक श्वास जो भीतर जाती है क्षण भर में व्याकुल होकर विराट् के साथ मिलने के लिये फिर बाहर आती है और आकाश में भरे हुये अमृत प्राण का पान करके फिर लौटती है। यही अमृत और मृत्यु का, समष्टि और व्यष्टि का, अनन्त और सान्त का प्रेंख या झूला है जिस पर हम सब चढ़े हुये गति का अनुभव कर रहे हैं। इसमें जो अमृतमय समष्टि रूप है वह जीवन के लिये पदे-पदे आवश्यक है। जितनी मूर्त और सरूप कला की अभिव्यक्ति है सबके मूल में विश्वकर्मा का अरूप या परम रूप विद्यमान है, जिसे ऊपर "संदृक्" कहा है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विष्णुसहस्रनाम के शब्दों में भगवान् विष्णु ही विश्वकर्मा हैं। सब रूप उन्हीं में लीन है और उन्हीं की प्रेरणा से व्यक्त होते हैं। रूप को ही लक्ष्म कहते हैं। जहां रूप या लक्ष्म है वहीं देवी लक्ष्मी का अस्तित्व है। विष्णु और लक्ष्मी एक दूसरे के बिना नहीं रहते। इनका सतत साहचर्य है। यही देव और देवी का सहयुक्त रूप है। भगवान् विष्णु के दो रूप इस प्रकार हैं :—

तच्च विष्णोः परमरूपमरूपाख्यमनुत्तमम्
विश्वस्वरूपं वै रूपलक्षणं परमात्मनः।

(विष्णु पुराण ६।७।५४)

जिस प्रकार ब्राह्मण ग्रंथों में प्रजापति के अमूर्त और मूर्त, अनिरुक्त और निरुक्त, परोक्ष और प्रत्यक्ष दो रूप कहे गए हैं, ऐसे ही विष्णु के दो रूप हैं। उनका जो अरूप या अव्यक्त रूप है उसकी संज्ञा परम रूप है यह विश्व-रचना से पूर्व की स्थिति है। विष्णु का जो दूसरा विश्व में आया हुआ रूप है उसे रूप-लक्षण कहा गया है। रूप ही उसकी सत्ता का लक्षण या प्रमाण है, इन्द्रियों से परिगृहीत होने वाले रूप ही उसके चिन्ह हैं। प्रत्येक कलाकार के लिए आवश्यक है कि विष्णु के दोनों स्वरूपों की उपासना करे। जिसे विविध रूपों के निर्माण में रुचि है उसे ध्यानस्थ होकर विष्णु के अरूप या पर रूप का भी चिंतन करना चाहिए। विविध प्रकार की छन्दित गतियों की संज्ञा नृत्य है। नृत्य की सम्यक् आराधना के लिए गति के मूल में जो स्थिति तत्व है उसकी भी भावना आवश्यक है। वस्तुतः जिसे हम ब्रह्मसूत्र कहते हैं उसी की ऊर्ध्व अविचाली स्थिति की परिक्रमा से नृत्य और अभिनय की गतियों का जन्म होता है। नृत्यरूपी गति के मूल में स्थिति की प्रतिष्ठा है। वाक् के मूल में तूष्णीम् की सत्ता है। वर्णों के मूल में अवर्ण है। नानारूप या वैरूप्य के मूल में अरूप या पररूप है। इसी को ऋग्वेद में यों कहा है—

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। (ऋक् ६।४७।१८)

विश्व में जितने रूप हैं वे सब किसी मूल रूप के अनुसार उत्पन्न हुए हैं। वह नमूना सबका प्रतिरूप है। उसे तत् या तथा कहते हैं। उस "तत्" के अनुसार ही यह विश्व या "एतत्" अस्तित्व में जा रहा है। इसी का नियामक सूत्र है—

एतद् वै तत्

यह व्यक्त विश्व उस अव्यक्त प्रजापति के अखण्ड या समष्टिगत मूल रूप के अनुसार है। इसी का दूसरा समीकरण यों समझना चाहिए।

यथा = तथा

"यथा या जैसा" यह संकेत इस दृश्य स्थूल विश्व के लिए है। "तथा या वैसा" यह संकेत उस मूल अव्यक्त कारण के लिए है जहां से यह व्यक्त विश्व प्रकट होता है। जिसे अव्यक्त कहते हैं वही विष्णु का परम रूप है, वही बीज या रेतस् है सो व्यक्त सृष्टि का हेतु है। प्रजापति के द्वारा समस्त अर्थों या मूलों की रचना, "यथा = तथा", इसी नियम के अनुसार हुई है और हो रही है। इसे ही उपनिषद् के विज्ञानसम्मत शब्दों में इस प्रकार कहा है—

याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः। (ईश)

विश्वकर्मा की सृष्टि देव शिल्प है। वह रचना देश और काल में अभिव्यक्त होते हुए भी शाश्वत है। काल का परिवर्तन उसके नित्य कर्म में बाधा नहीं डालता। देव शिल्प का रूप–रंग, आकृति, गति, लय, और स्पंदन सदा–सदा के लिए समान है। उसकी एकरसता काल से कुंठित नहीं होती। जहां देश और कालकृत कुण्ठा नहीं, वही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आनन्द की भूमिका है। प्रत्येक कलाकार को उस धरातल का पुनः पुनः दर्शन करना चाहिए। प्रत्येक रसिक या सहृदय के लिए विष्णु के उस वैकुण्ठ अमृत धाम का दर्शन अनिवार्यतः आवश्यक है, जिससे उसके हृदय में रस का स्रोत सदा हरा-भरा बना रहे। इसे वेदों में विष्णु का परम उत्स कहा गया है जिसके जल में अमृत या मधु का मिठास है। जो रसिक केवल बाहरी रूपों में आनन्द पाना चाहता है उसकी कलागत उपासना अधूरी है। कला में जो व्यक्त माधुरी है उसकी स्वतंत्र सत्ता नहीं। वह तो मानस के उसी उत्स या स्रोत से जन्म लेती है जो एक ओर कलाकार के और दूसरी ओर सहृदय के अन्तःकारण में विद्यमान है। यदि हमें उस आभ्यंतर स्वाद का आनन्द नहीं मिला तो कस्तूरिया हिरन के समान बाहरी स्वाद में भटकने से भी मन को शान्ति नहीं मिलती।

भारतीय कला के निर्माताओं ने इस तथ्य पर पर्याप्त बल दिया है। समस्त कला कृतियों का जन्म कलाकार के ध्यान और चिन्तन की शक्ति से होता है। कला में जो श्रेयोरूप या कल्याण है उसका हेतु शिव की समाधि, विष्णु की वरद शान्ति और बुद्ध का अनुत्तर ज्ञान या संबोधि है। वही तीर्थंकर की अविचल ज्ञान निष्ठा और देवों का देवत्व है। इन्हीं की सत्ता से कला में अमृत रस का झरना झरता है। इन्हीं से जीवन में आनन्द और आशा, उत्साह और प्रेरणा का जन्म होता है। इन्हें प्राप्त करके मनुष्य अंधकार, निराशा और मृत्यु के पाशों से बचता या उन्हें जीतता है।

जिस वस्तु का हमें ज्ञान होता है अथवा जिसकी रचना की जाती है उस सबको मूर्ति कहते हैं। मूर्ति का ध्यान हमारे मन के लिए आवश्यक है। बिना मूर्ति के मन क्षण भर भी रिक्त नहीं रहता। यह मूर्त विश्व ही तो कला का क्षेत्र है। चित्त में अंकित मूर्ति को चित्र कहते हैं। चित्रकार या शिल्पी के मन में जो मानसी सृष्टि होती है उससे ही शिल्प और चित्र का जन्म होता है। जो कुछ यहां है वह सब विष्णु की मूर्त रूप है (मूर्तमेतद् हरेः रूपम्)। सूर्य और चन्द्र, नक्षत्र और पशु, पर्वत, नदियां, और समुद्र, वृक्ष और वनस्पति, जड़ और चेतन जितना भी कला का विषय है, कलाकार के लिए सबकी आराधना मन के द्वारा आवश्यक है। प्रत्येक का रूप कलाकार पहले अपने मन में उतारता है और फिर भौतिक माध्यम में उसे बुलाता है। यही कला की विशेषता है। सच्ची कला कभी भी फ़ोटो जैसी अनुकृति नहीं बन सकती। कला का मूर्त रूप तो एक प्रतीक या संकेत मात्र है। वह हमें उस अव्यक्त रूप तक ले जाती है जो देश और काल की परिधि में विजड़ित नहीं होता, जो अमृत है, जो रसवान् है।

भारतीय कला की यही शैली और परिभाषा है। इन्द्रियग्राह्य कला कला-सर्जना का अपर रूप है। मानस प्रत्यक्ष ही कला का पर रूप है। जो धीर या बुद्धिमान है वह स्थूल रूप में रमण नहीं करता, चाहे वह कितना भी सुन्दर हो। धीर व्यक्ति विशेष या उच्च मन वाला होता है। विशिष्ट मन का तात्पर्य उस प्रज्ञा से है जिसे प्राप्त करके इन्द्रियां मूर्त रूप की अनुगामिनी नहीं बनतीं। धीर पुरुष के लिये प्रत्येक रूप विश्वकर्मा के महनीय कर्म की एक रश्मि बन जाता है। यही विश्वकर्मा प्रजापति का विश्व में आभास या प्रतिबिम्ब है। स्थूल रूपों के मूल में जो इस आभास को देखता है वह स्थूल से मोहित नहीं होता। उसके लिये विश्वकर्मा का सौन्दर्य ही सुन्दरता का हेतु है। वही सबके पीछे छिपा हुआ निदान है। वही प्रत्येक रूप-लक्ष्मी को जन्म देने वाला सुधा-समुद्र है।

मूर्ति की पूजा भी एक कला है। विषय की परिधि में मूर्ति को खींच लाना उसकी प्रतिष्ठा की हानि है। जैसा विष्णु पुराण में कहा है (विष्णु० ६।७। ७५-९५)—'आरंभ में विष्णु के भिन्न-भिन्न मूर्त रूपों का ध्यान करना चाहिये और मूर्ति के दर्शन से अपने मन को दृढ़ या शक्तिसंपन्न करना चाहिये। यही मूर्ति की आराधना का लाभ और फल है। योग के शब्दों में यही धारणा है। जो इस प्रकार की साधना में सफल हो उसे फिर स्थूल रूपों से मानसिक भावों की ओर जाना चाहिये। शंख, चक्र, गदा, पद्म आदि बाह्य अंगों से ऊपर उठकर उसे विष्णु के प्रशान्त रूप का ध्यान करना चाहिये। वही भगवान् का शान्तानन्द है। शान्ति ही आराधना का लक्ष्य है। भिन्न मूर्त रूपों को पीछे छोड़ देने से हमारा मन उस भूमिका में चला जाता है जो भगवान् का एकावयव या एक, अखण्ड समष्टिगत रूप है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यही ध्यान की अवस्था है। अन्त में ध्यान करने वाला उस स्थिति को प्राप्त करता है जो योग की सबसे ऊँची भूमिका है और जिसमें ध्याता और ध्येय दोनों एक हो जाते हैं। वहाँ ध्यान करने वाला अपने ध्येय के स्वरूप में लीन हो जाता है।' यही विष्णु का परम रूप है। इसे प्राप्त कर लेने वाला योगी समाधि का अनुभव करता है। इस प्रकार मूर्ति उपासना का लक्ष्य वही है जो योग साधना में योगी का है :—

तस्यैव कल्पनाहीनं स्वरूपग्रहणं हि यत्।
मनसा ध्याननिष्पाद्यं समाधिः सोऽभिधीयते ॥ (विष्णु० ६-७-९२)

भारतीय कला में मूर्त रूप का पर्याप्त गौरव है। चित्र, शिल्प, नृत्य, संगीत सबके रूपों में सौन्दर्य और सरसता का आवाहन आवश्यक है। किन्तु प्रत्येक कला की रचना शास्त्रानुमोदित होनी चाहिये। कला का मूल शास्त्र है। कला व्यक्ति की रचना है। शास्त्र उसके समष्टिगत रूप का विधान है। शास्त्र कला का प्रतिपक्षी नहीं, उसका सहयोगी है। जैसे कला के निर्माण के लिये, वैसे ही कला के परिज्ञान के लिये भी शास्त्र आवश्यक है। शास्त्र-समष्टि की संज्ञा वेद है। वेद सब कलाओं का मूल आधार है। जो मन से कला रूपों को निश्चित करते हैं उनके ध्यान की शक्ति उस मंत्र के बल से युक्त है जिससे वेद के स्वरूप का निर्माण होता है। जो मन से सृष्टि करता है वह ऋषि है। मनन से मंत्र का जन्म होता है। मनन की शक्ति ही मंत्रद्रष्टा की शक्ति है। शिल्पी पहले मन से सृष्टि करता है और फिर स्थूल प्रतीकों द्वारा उसे मूर्त रूप देता है।

मनन की शक्ति से हम जिस मंत्र की रचना करते हैं वही देवता का स्वरूप है। भूत और भविष्य के जितने देवता हैं वे सब विश्वकर्मा के रूप हैं। देवों के अनेक नाम हैं, पर सबका मूल एक है—

यो देवानां नामधा एक एव (ऋ० १०।८२।३)।

विश्वकर्मा एक है। वही देवों को भिन्न-भिन्न नाम देता है। भिन्न नाम ही रूपों के भेद उत्पन्न करते हैं। ऋग्वेद में विश्वकर्मा को साधुकर्मा कहा गया है। वह विश्वशम्भु या विश्व का कल्याणकर्ता है (विश्वशम्भू रवसे साधुकर्मा, ऋ० १०।८१।७)। जिसने इन सबको उत्पन्न किया है कौन उसे आज तक जान पाया है ? वह एक संप्रश्न या पहेली है। विश्व की कला के समस्त रूप एवं ध्यान करने वालों के समस्त चिंतन उस प्रश्न का उत्तर ढूंढ रहे हैं। पर उसे ढकने वाला नीहार या कुहासा हटता नहीं। वह सबके भीतर है, वह अजन्मा और एक है। उसी को आराधना समस्त कलाओं का लक्ष्य है। उसके परिचय के लिए कलाओं की विभिन्न स्थितियां आवश्यक है। उस अरूप को विश्वरूप में ही पहचानना होगा। विश्व में अनुप्रविष्ट उसका विश्वचर रूप ही सरस और सुन्दर है। प्रजापति, विश्वकर्मा या भगवान् विष्णु जिस कला में विद्यमान हैं वही सच्ची कला है। उसी की आराधना कल्याण करती है। उसी की उपासना से आनन्द प्राप्त होता है।

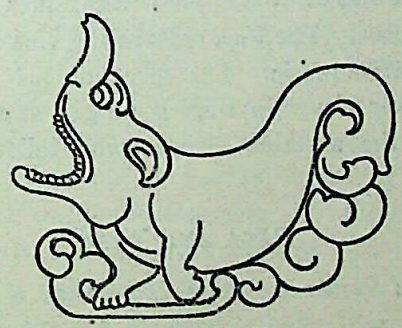

By M. V. K.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

TRADITIONS IN MUSIC

PROF. P. SAMBAMOORTHY

India, in the course of her long musical history has evolved many healthy traditions. Though many of these have not been recorded, they are still observed by votaries of art. These traditions reflect the concentrated wisdom of centuries. The opinions, doctrines and practices of the musical intelligentsia based on sound aesthetic experience provided the foundation for the development of rich traditions. In important seats of music like Tanjore, musical wisdom got concentrated. Methods for the development of raga alapana and pallavi were evolved there and canons of art for the guidance of the future were also laid down. The Pallavi tradition ushered in by Pachchimiriyam Adiyappiah (18th cent.) has since remained supreme. The tradition is that in every branch of manodharma sangita, viz. alapana, tana, pallavi exposition, niraval and svara kalpana the one ideal to be borne in mind is the presentation of the colourful aspects of the rāga in all its variegated aspects has been productive of very good results. Tyagaraja's kritis not only reflect the various visages of ragas, but also provide fascinating themes for the development of niraval and kalpana svara.

VAIṆIKA TRADITION

The Karnatic style of musical presentation has grown largely round the *Vaiṇika sampradāya.* In fact, almost all the noted South Indian musicians and composers of the past have been Vainikas. The idea behind the continuous curve of Indian classical music grew out of the Vainika style. It is this pleasing style that gives a distinctive colouring to Karnatic music. A distinguished band of Vainikas from Bobbili, Vizianagaram, Tanjore, Mysore and Travancore not only contributed to the building up of the Vainika sampradaya but also evolved special techniques and styles of vina play like *Chakrabandham* and *Banda tanam.* The *Veyi sadhakam* in vina play is of interest even from the point of view of comparative music. The force of the Vainika tradition is so great that a gifted singer however clever in singing 'brigas' at even electric speed, is assigned only a place next to that of the sustained singer who follows the Vainika sampradaya in his style of exposition.

RĀGA AND RASA

The *Adi Nata-Antya Surata* tradition i. e. that a concert should be begun with Nata raga and concluded with Surati raga is based on a sound psychological and

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

aesthetic experience. The Nata raga with its tivra svaras easily creates the requisite musical atmosphere (Mela prāpti) at the commencement of a concert. Once this atmosphere is created, the full enjoyment of the subsequent part of the concert becomes easy. The idea behind the starting of a concert with a tana varna is also the same. Subjectively such a commencement helps the performers to get into form and objectively, the collective and the impressive performance of the varna by the principal and accompanists helps in the creation of the musical atmosphere. Surati is an auspicious raga and is eminently suited as the *Finale* for concerts. It is even now the custom in some of the big shrines for the nagaswaram players to conclude the midnight temple rituals with Surati raga.

The tradition that Ahiri raga should not be sung after sunrise has much force and logic in it. Apart from the legend about the sufferings of a certain musician who, though unconciously, experimented with this raga by singing it in the morning, there is the signal fact that Ahiri is a pathetic raga. There is no meaning in starting the activities of the day with such a raga. Inspiring and joyous ragas like Bhairavi and Kedaram are very apt for morning hours.

There is also the tradition that if Varali raga is taught, strained relations ensue between the teacher and the taught. Due to this tradition, unfortunately the music of many of the valuable compositions in Varali raga have been lost to us. The melodic individuality of the Varali raga as also a few pieces in it have however survived due to the dexterity of some of the pupils who carefully listened to their masters' expositions of the raga and the rendering of pieces in it.

Dance Drama

An interesting tradition is seen in the dance dramas enacted in Merattur, Uttukkadu, Sulamangalam and Saliyamangalam in the Tanjore District. These dance dramas have been annually performed in front of the local temples through voluntary effort for more than a century. Each family enjoyed the inalienable and hereditary right to supply a particular character. Thus if the play to be enacted was *Prahlada Charitram*, one family supplied Prahlada, another Hiranya, another Lilavati, another Narasimha and so on. The tradition is so deep-rooted that no member of a family would consent to appear in the role of a character which was the prerogative of another family. This hereditary right passed on from generation to generation. For one thing, this tradition not only ensured the corporate life of the community but there was also the guarantee that all the characters required for a play were available on the particular occasion. This also helped the actors who appeared in the same role year after year to become thorough with

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

their respective libretto, acting and dancing and the performances were thus maintained at a high level of excellence. Each character had also an understudy who stepped in at times of need.

This tradition had also this snag. In the play *Prahlada Charitram* for example, there should be an appropriate difference in the ages of Prahlada and his mother. When the mother, due to old age or other cause retired from the scene, a younger person from the same family stepped in. This resulted in disparity in age between the grown-up Prahlada and the new Lilavati.

MUSIC CONCERT.

The traditional manner of seating performers in concerts of music is based on sound principles. The sequence of times to be rendered in concerts of music, dance and bhajana is again governed by healthy principles. There is the tradition of *Chana-naya-desya* in the sequence of ragas to be rendered in concerts and the tradition of *Nritta-nritya-abhinaya* in the sequence of times to be rendered in dance concerts. There is also the tradition regarding the minimum number and maximum number of accompanists that should find a place in concerts of music, dance, kalakshepam and bhajana.

There is the tradition that artists should always adjust their programmes to suit the level of appreciation of their audiences. *Maximum effect with minimum strain* has always been the traditional motto. A concert should not be an endurance test for an audience. The times given should be characterised by variety in style and musical construction.

In the development of kalpana swaras, there is the tradition that one should sing or perform a number of examples of the length of half avarta, one avarta and two avartas in duration if the theme chosen is in adi tala. Then he may follow with examples in 4 avartas and multiple avartas and conclude with a makuṭam. Kalpana svaras based on the patterns of wellknit jati sequences have been viewed with disfavour. Kalpana svaras should not be sung to chiṭṭa swaras. The tradition is to attempt kalpana svaras only for kritis in rare ragas in the pre-pallavi part of the concert programme.

Niravals should be attempted only for apt themes in the anupallavi and charana of a kriti and not to the pallavi of a kriti.

CONCERT PROGRAMME.

There is also the tradition that the alapana preceding a kriti in concerts should bear a just proportion to the length of the composition The alapana preceding a pallavi exposition can legitimately be long and detailed but not so alapanas preceding Kritis.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Alapanas as a prelude to padams are taboo, since padams themselves are long drawn-out alapanas (in a rhythmical form) of the particular ragas.

In concerts given on the occasion of marriages, there is the strong tradition that songs on the theme of *vairagya* and *virakti* should not be sung. When the bride and the bridegroom are about to start family life, it is not in taste to sing songs like (1) Ennattukkudavi Ikkayam. (Suddha saveri raga) (2) Paraloka sadaname (Mandari raga) (3) Etunanminavo (Saveri raga) which harp on the theme of the fleeting nature of human existence, the illusion of the worldly life etc. It is on record, that such songs sung by careless musicians have spelt disaster on the careers of the newly wedded couples.

The *Ganakala niyama* pertaining to ragas has always been regarded in South India as an *advisory rule* and not as a *mandatory rule*. If the latter was the case, responsible composers would not have composed ragamalikas, wherein ragas to be sung during different parts of the day and night are intended to be sung *seriatim*.

BHAJANA

In a Bhajana, besides the leader called the Bhagavatar and singers and performers on musical instruments, there are the other members present who derive spiritual bliss through *sravanam* i. e. listening. When namavalis are sung, the entire congregation can join but when kirtanas are sung, only those who know them well can join. Visitors, if they happen to be eminent musicians will get a chance to sing after the purva bhaga is over and before the uttara bhaga commences with the Divyanama Sankirtanam. It is during this interval, that Shatkala Govinda Marar got the opportunity to sing with his seven-stringed tambura before Tyagaraja in the year 1843. It is well-known how Marar's music captivated Tyagaraja and how it earned for him the historic praise from the great composer.

DUETS

There are healthy traditions with regard to jodi ganam and jodi natanam. When two people sing or perform, their combined music should nicely blend and give the effect of a single melodic stream. Two disciples of the same master, two sisters, two brothers, the guru and sishya, two dancers trained by the same nattuvanar will all prove successful duet-performers. In the case of jodi natanam, there should not be a glaring disparity in the ages of the two performers.

KALAKSHEPAM.

In a Kalakshepam there is the tradition that the Bhagavatar should not waste the time of the audience by digressing into too many upakathas. The upagayakas

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

likewise should not indulge in too much of alapana and dilute the fine atmosphere of devotion.

When bhagavatars are engaged to perform during marriage occasions, they should choose themes like *Sita Kalyanam* and *Rukmini Kalyanam* and not themes like *Rama's going to forest or Lanka dahanam.* A dancer engaged to perform on marriage occasions should avoid performing abhinayas to padams like *Bayyeda paijeri* (Nadanamakriya raga) and *Mogudochchi pilachedu* (Sahana.)

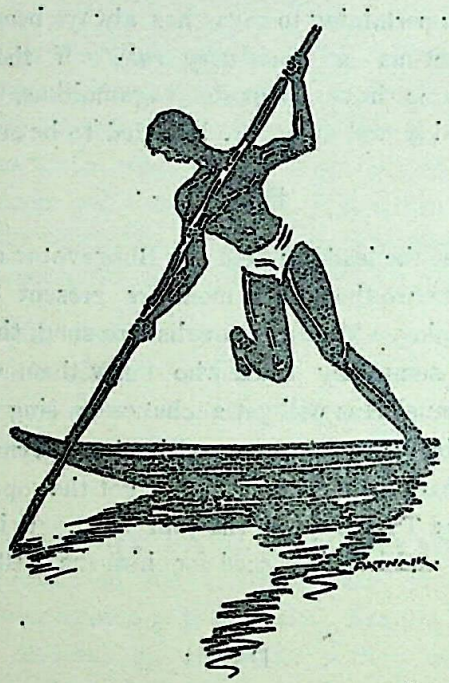

D. Patnaik.

नाट्यं सर्वजनप्रमोदजनकं धर्मार्थकामप्रदम्
धैर्यौदार्यविलासकीर्त्तिकरणं तापत्रयोन्मूलनम् ।
नानादुःखनिवारणं त्रिभुवने खेदार्त्तिशोकापहं
सञ्जह्रे कथमन्यथा किल मनः श्रीनारदादेरपि ॥

(रसकौमुदी पूर्वखण्ड ५।६)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संगीत विद्या

ब्रह्मर्षि श्री दैवरातजी

मङ्गलमन्त्र

ॐ गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः।
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे॥
(ऋक् १।१०।१) मधुरछन्दाः

॥ मङ्गलपद्यम् ॥

श्रीमद्भारतमातृभूमिविजयस्वातन्त्र्यसन्धायिनी
श्रीशात्मामृतसद्रसस्वरकलास्वानन्दसन्दोहिनी।
वीणा-पुस्तक-मालिका ऽभयकरा सौभाग्यदा भास्वती
श्रीसङ्गीतकलासुधावितरणात् सम्राजते भारती॥

आप लोग जानते ही हैं कि संगीत कला इस जगत् में अन्यान्य सभी कलाओं से ऊँची है और सबसे पहला स्थान भी रखती है अर्थात् अपने ही प्रभाव से सबकी अग्रगण्य बनी हुई है; सामरस की वह देवता मानी गई है, इसलिये सभी प्रकार की सभाओं में, विवाह आदि शुभ महोत्सवों के अवसर पर मंगलरूप से सबसे पहले संगीतदेवता की ही उपासना की जाती है। यह योगविद्या, ब्रह्मविद्या और देवविद्या की तरह अलौकिक, दिव्य-सत्व से पूर्ण एक महाविद्या ही है, ऐसा कहने में कुछ अतिशयोक्ति नहीं होगी। वेद ही इस संगीतविद्या का मूलस्थान माना गया है, उसमें भी सामवेद, जो कि स्वर और रस–प्रधान है; क्योंकि बिना स्वर के वेद में एक भी मंत्र नहीं पाया जाता, प्रत्येक शब्द में और अक्षर में स्वर है।

पूर्ण बिन्दु ही सभी स्वरों और अक्षरों का मूलबीज है, जिसे अनुस्वार कहते हैं। मुख बन्द करके केवल नासिका द्वार से ही उस अनुस्वार का उच्चार हो सकता है। नासिका द्वार का वह अनुस्वार एक ही वर्ण है जिसे भाषा में 'सुर' कहते हैं और उस अनुस्वार का द्वार एकमात्र नासिका ही है। इसी से संगीत में सबसे पहले सुर ही लिया जाता है। इसी पूर्ण बिन्दु से सभी अक्षरों का आविर्भाव हुआ है। उन अक्षरों में अकार ही पहला है जो कि सभी वर्णों में मौजूद है। उसका स्थान कण्ठ है, 'अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः'। अतः संगीत के लिये कण्ठ ही प्रधान इन्द्रिय है। यह कण्ठ शुद्ध और सुस्वर होने से ही संगीत कला की शोभा है।

सभी वर्णों के उच्चारण के लिये आठ स्थान माने गये हैं। यथाः—

अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरःकण्ठःशिरस्तथा।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च॥ (वेदाङ्ग शिक्षा)

स्वर ही इन सभी अक्षरों का मूल है जो कि 'नादब्रह्म' माना गया है। उस नाद का मूलबीज 'पूर्णबिन्दु' है। उस पूर्णबिन्दु की 'माता' ही कला है जो कि 'अमात्रा' मानी गई है। जैसे पूर्णबिन्दु की मात्रा नहीं हो सकती, उसी तरह कला की भी मात्रा नहीं होती। वह कला ही सबको नाप सकती है, उस कला को कोई नहीं नाप सकता।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इन 'नादबिन्दु कलाओं' से अतीत ही परब्रह्म है, उसी की वाचक शक्ति परावाणी है। उस वाणी का मूल स्वरूप ही अव्यक्त शब्द है। 'णद् अव्यक्ते शब्दे' यह अव्यक्त अत्यन्त सूक्ष्मनाद ही वीणा का मूलतत्व है जो कि आकाश में सदा गुप्तरूप से सर्वत्र व्याप्त है। वह विद्युत्शक्ति के अर्थात् तेज के योग से व्यक्त होता है। उस एक ही नाद में तीन तत्त्व हैं--स्वर, रस और प्रकाश। वस्तुतः यह चेतनाशक्ति का ही सत्त्व है। वह वाणी ही 'अनुष्टुप्' मानी गई है। "आत्मानं अनुस्तौतीति अनुष्टुप्" ठीक यही अनुस्वार का भी स्वरूप है। "आत्मानं अनुस्वरतीति अनुस्वारः" इसी को 'अनुज्ञाक्षर' भी मानते हैं। वह वाणी की सांकेतिक संज्ञा है, वाचक संज्ञा नहीं।

वह अव्यक्त नाद जैसे आकाश में गुप्तरूप से व्याप्त है, उसी प्रकार प्राणियों के शरीर में, शिरोदेश (सिर) में भी व्याप्त है। वह 'अनाहत' नाद माना गया है, वह बिना बजाये बजने वाला नाद है। उसका सम्बन्ध spinal-chord अर्थात् कुण्डलिनी तथा dynamic यानी गतिशील नाड़ी सुषुम्णा के साथ है, क्योंकि वही दैवीवीणा मानी गई है।

यह संगीत छन्द से बद्ध है। संगीत का स्वर छन्द से छिपा रहता है, छन्द ही उसका आच्छादन (ढकना) है। स्वर की रक्षा के लिये कवच की तरह छन्द ही स्वतःसिद्ध है। 'यदच्छादयत् तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्" इस बारे में एक रूपक कथा उपनिषद् में सुनाई गई है।

देव और असुरों के युद्ध में मृत्यु के भय से देव छिप जाते थे। असुरों ने अनेक बार उन्हें ढूंढ लिया। बाद में वे ऋक्, यजु, साम इन वेदों के अन्दर छिप गये, किन्तु वहाँ भी वे पकड़े गये। अन्त में वेदमन्त्रों के स्वर में प्रवेश करके वहाँ अत्यन्त गुप्त भाव से छिप गये। तब उनको असुर ढूंढ नहीं सके अर्थात् उस छन्द के स्वर से ही देवों की रक्षा हो गई। वेदों की भी रक्षा छन्दों से होती है। छन्दों की रक्षा स्वर से ही हो सकती है। वह स्वर छन्द में छिपा हुआ एक गुप्त रस है, वह अमृतरस ही है। यह बात सामवेद के छान्दोग्य उपनिषद् में एक कहानी की तरह रूपक से सुनाई गई है। यथाः

"देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशन्, ते छन्दोभिरच्छादयन्, यदेभिराच्छादयन् तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्"। (छां. उ. १।४।१-४) वही ॐकार रूपी नाद नादब्रह्म माना गया है, जिस नाद की उपासना से देवों ने भी अमृतत्व को प्राप्त किया और अभय बन गये।

वह छन्द अनेक प्रकार का है—उसमें गायत्री छन्द ही पहला है। वेदाङ्ग छन्दःसूत्र के दर्शनकार पिङ्गल मुनि का प्रतिज्ञासूत्र है। "छन्दो गायत्री दैव्येकम्" अर्थात् वह छन्द सबसे पहली गायत्री है। एक अक्षर से ही शुरू होती है। एक अक्षर का छन्द 'दैवी गायत्री' मानी गई है। नारायण उपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है "ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म। अग्निर्देवता ब्रह्म इत्यार्षम्। गायत्रं छन्दं परमात्मं सरूपम्, सायुज्यं विनियोगम्"। ॐ यह एकाक्षर रूप प्रत्यक्ष परब्रह्म है। इसकी देवता अग्नि है, परब्रह्म ही इसका द्रष्टा ऋषि है, गायत्री ही छन्द है, परमात्मा ही इसका सरूप है अर्थात् परमात्मा का रूप ही इस अक्षर का स्वरूप है, उस परब्रह्म वस्तु के साथ सायुज्य के लिये अर्थात् उसमें मिल जाने के लिये इस प्रणव अक्षर का विनियोग किया जाता है, उद्गीथ आदि गुण से उपासना की जाती है।

"ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत"। (छां. उ. १।४।१.) इसी भाव से ऋग्वेद में गाने का उपदेश किया गया है। "गायन्ति त्वा गायत्रिणः" अर्थात् "हे शतक्रतो इन्द्र! गायत्री छन्दवाले तुझको गाते हैं और इतर ऋचांत्र वाले लोग उन ऋचाओं से तेरा अर्चन करते हैं, इस प्रकार गायन और अर्चन रूप साधन से प्रत्यक्ष ब्रह्मरूप वेदमन्त्रों को पढ़ने वाले ब्राह्मण लोग तुझको झण्डे की तरह सबसे ऊंचा मानते हैं।" इसीलिये वेद में उस इन्द्र के लिये साम गाने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का उपदेश किया गया है। "इन्द्राय साम गायत" जो इन्द्र ज्ञानी और महान् है, जिसने गाने के लिये ही सस्वर वेदमन्त्रों का आविष्कार किया है और जो उनका तत्त्ववेत्ता भी है, उस इन्द्र के लिये 'बृहत् साम' अर्थात् बड़ा व्यापक पूजनीय गीत गाने का विधान दिया गया है।

इस सामगान का अर्थ बहुत ही विचित्र है, अन्यान्य सभी वस्तुओं तथा विषयों से विलक्षण है, अत्यन्त गूढ़ भी है। ऋचाओं में जो स्वर है, उसका गायन ही सामगान है। सामवेद के सभी मन्त्र मूलतः ऋग्वेद के ही हैं। उसमें उदात्त, अनुदात्त और स्वरित ये तीन स्वर प्रसिद्ध हैं। इन स्वरों में गायन का मूलसत्त्व भरा है, जिसके अवलम्बन से सारे संसार को गा सकते हैं और परब्रह्म वस्तु तक पहुँच सकते हैं। उन ऋचाओं में ही वह सामस्वर प्रगाढ़, गम्भीर रूप से निगूढ़ है। "तस्माद् ऋचि अध्यूढं साम गीयते" वह स्वर प्रणवाक्षर में ही है; उस स्वर में अवान्तर सातों स्वर छिपे हुये हैं इसीलिये इस एक ही अक्षर से उन सातों स्वरों का गायन किया जाता है। "अक्षरेण मिमते सप्तवाणीः" (ऋ० १।१६४।२४)।

जो उन छन्दों को बरसाने वाला विश्वरूप है वह इन्द्र उन छन्दों के अमृतरस से ही प्रकाशित हुआ है अर्थात् छन्दोमय वेदवाणी के मुख से ही उस इन्द्र का ज्ञान हो सकता है। "यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः, छन्दोऽभ्योऽध्यमृतात् सम्बभूव। स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु"। (तै. शि. उ. ४।१)।

जिन ऋचाओं के अक्षरों में सामस्वर और समरस भरा है उन सभी ऋचाओं का मूलबीज ही वह प्रणवाक्षर है जिसका अनुकरण ॐ ऐसा होता है। "ॐ इत्येतदनुकृति ह स्म वा अप्योश्रावयेत्याश्रावयन्ति। ओमिति सामानि गायन्ति। (तै. शि. उ. ८।१)।

इस प्रकार वह ॐकार सभी वेदों का सार है, सभी तपस्या का मूल है, ब्रह्मचर्य आदि सभी व्रतों का निचोड़ है।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति, तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति, तत्ते पदं सङ्ग्रहेण ब्रवीमि ॥ ओमित्येतत् (कठ. उ. १।२।१५)।

अन्तरात्मा और परमात्मा का ध्यान भी इसी ओंकार से ही करने का उपदेश है।

"ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात्"। (मु. २।१६)।

इस प्रणव की उपासना में एक और विचित्र कला है। जैसे कि लक्ष्य के वेध में, बन्दूक वग़ैरह सीखते समय अथवा लड़ाई में अपना जो लक्ष्य है, उसको साधने के लिये वह हथियार ही प्रधान साधन बनता है, ठीक उसी तरह इस उपासना में भी प्रणव ही एक धनु माना गया है, आत्मा ही बाण है, परब्रह्म ही लक्ष्य है; प्रमादरहित होकर साधक ज्ञानपूर्वक इस प्रणवाक्षर के द्वारा उस ब्रह्मवस्तु को पा सकता है। यथा :—

"प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत् तन्मयो भवेत् ॥"

इसका सच्चा अर्थ यह है कि इस प्रणवाक्षर को गाते २ उसमें लीन हो जाना चाहिये। उसीसे वाणी का रस, आत्मरस, ब्रह्मानन्द-रस—इन सभी का समरस—अनुभव मिल सकता है अर्थात् एक ही 'सुर' (प्रणवगान) से समकाल में सामरस्य-योग सिद्ध हो सकता है।

वह अनुभव कैसा है ? ऐसा पूछने पर कोई भी कुछ कह नहीं सकता। उसका स्वाद और अनुभव तो स्वयं ही लेना होगा। वाणी से कहने पर भी—'वह मधुर है, मीठा है" आदि कथन शब्दमात्र ही रह जाएंगे। जैसे कि शहद, शक्कर, गुड़ आदि पदार्थों का स्वाद केवल शब्द से ही बोलना पड़ता है—"न खलु इक्षुक्षीरगुडादीनां मधुररसभेदाः शक्याः सरस्वत्याप्याख्यातुम्"। ब्रह्मसूत्र शारीरक-भाष्य की 'भामती' टीका में वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि यद्वि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

व्यावहारिक पदार्थों के प्रतिदिन चाखे हुए रस के बारे में ही ऐसी दशा हो तो उस परमानन्दरस के विषय में क्या कहना है, जहाँ वेदमाता भी स्वयं मौन-सी रह जाती है।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन॥

(तै. ब्र. उ. ८। अनुवाकः)

उस रस की अनिर्वचनीयता और पराकाष्ठा मानी गई है। वह व्याख्या द्वारा समाप्त होने वाला नहीं है; या दूसरे शब्दों में, उसकी कभी पूर्ण व्याख्या नहीं हो सकती। किन्तु सङ्गीत-विद्या का दीर्घकाल तक अभ्यास करके श्रद्धापूर्वक उस रस का अनुसन्धान करते हुये प्रेम से गाते हुये वह परमरस चाखना होगा। अस्तु।

वह रस ही सबका सार माना गया है। उसका एक लेशमात्र यहाँ बताना चाहता हूँ। जिस पृथ्वी पर हम लोग रहते हैं, वह धरित्री आकाश, वायु, तेज और जल इन सभी भूतों का सार है। इस पृथ्वी का सार है जल, उस जल का सार है औषधि, क्योंकि जल से ही औषधि की पोषण होता है। उन औषधि-अन्न आदि पदार्थों का सार ही यह पुरुष माना गया है, क्योंकि अन्न के परिपाक से वीर्य द्वारा पुरुष उत्पन्न होता है। इस पुरुष का सार वाग्रस है, क्योंकि पुरुष के जो-जो ज्ञान और अनुभव हैं, वे सभी वाणी के द्वारा ही प्रकाशित किये जा सकते हैं। सभी वाणियों का सार ही 'ऋचा' है और उस ऋचा का रस या सार ही 'साम' है। उस साम का रस ही उद्गीथ है। यह सभी रसों का निचोड़ है; वही परम रस है जो आठवाँ रस 'उद्गीथ' नाम से दिखाया गया है। सामवेद के छान्दोग्य उपनिषद् में यह रस-वर्णन उपलब्ध होता है। यथा ;—

(१) एषां भूतानां पृथिवी रसः, (२) पृथिव्याः आपो रसः, (३) अपाम् ओषधयो रसाः, (४) ओषधीनां पुरुषो रसः, (५) पुरुषस्य वाग्रसः, (६) वाचः ऋग्रसः, (७) ऋचः साम रसः, (८) साम्नः उद्गीथो रसः, स एष रसानां रसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथः। इति (छां. उ. १।१;१–३)।

वही परा वाणी का स्वरूप है जो कि ज्ञान, चेतना और ज्योतिर्मय-तत्त्व से पूर्ण है। "तस्या सप्त ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदाना इति वाग् हि अष्टमी ब्रह्मणा संविन्ते" (बृ. उ.) सात प्राणों की सात मात्राएं हैं; उन मात्राओं से अतीत परावाणी ही आठवीं है, वह अमात्रा मानी गई है।

इस ब्रह्माण्ड में बाहर वह आदित्य ही उद्गीथ का देवता है। हम सब प्राणियों के अन्दर वह मुख्य प्राण ही उद्गीथ माना गया है। वेद में इसी का इन्द्र के रूप में वर्णन किया गया है। उसी को "अङ्गिरस्" कहते हैं, जो कि सभी अङ्गों का मूल सारभूत रस है। उसी को 'बृहस्पति' कहा गया है; वाणी ही 'बृहती' है; उस वाणी का अधिपति ही 'बृहस्पति' है। यह छान्दोग्य उपनिषत् में स्पष्ट किया गया है ;—

अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवः स उद्गीथः, इति, (छां. उ. १।७।१) असौ वा आदित्य उद्गीथः एष प्रणवः ओमिति हि एष स्वरन् एति। अथाध्यात्मं—य एवायं मुख्यः प्राणः तमुद्गीथमुपासीत ओमिति होष स्वरन्नेति॥

एत मु एवाङ्गिरसं मन्यन्ते अङ्गानां यद्रसः, एत मु एव बृहस्पतिं मन्यन्ते वाग् हि बृहती तस्या एष पतिः॥ इति॥ (छां. उ. १।२।१०–११)।

वस्तुतः 'साम' शब्द का अर्थ केवल सामवेद के शब्दराशिमात्र ही नहीं, किन्तु 'समरस' से सभी स्वरों और वर्णों के साथ सामरस्ययोग से सिद्ध पूर्ण बिन्दु का ही सत्त्व है, जो कि पूर्णविरामरूपी एक अलौकिक पूर्ण वस्तु है। उसके स्थान, मान और नामरूप नहीं हो सकते; उसके परे और कोई चीज नहीं हो सकती। "बृहस्पते न परः साम्नो विदुः"–इति

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(ऋक्. २।१६।२३) इस विश्व का और सभी वृत्तियों का जहां पर पूर्णरूप से विलय या विराम होता हो वहीं साम है, उसी का देवता इन्द्र है। "इदि परमैश्वर्ये" इस धात्वर्थ से "जिसमें परमैश्वर्य है, वही इन्द्र है", ऐसा सिद्ध होता है। इसीलिए "परमैश्वर्य से पूर्ण इन्द्र के लिए परम-रस-रूप साम से गायन करो" ऐसा उपदेश किया गया है। "इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत्। धर्मकृते विपश्चिते पनस्यवे॥" (ऋ० ८।९८।१) अर्थात् इन्द्र के लिये साम गाओ, जो कि प्रकाशक है और विश्व-व्यापक भी; उस बड़े इन्द्र के लिये बड़ा 'बृहत्' साम-गान करो। बृहदिन्द्राय गायत मरुतो वृत्रहन्तमम्। येन ज्योतिरजनयन् ऋतावृधो देवं देवाय जागृवि॥ (ऋ. ८।२८।१) इस मन्त्र में मरुद्देवता को उपदेश किया गया है—"इन्द्र के लिए बृहत् साम का गायन करो, जो कि उस इन्द्र के अनुरूप गुणानुवाद करने योग्य हो। इससे ज्ञात होता है कि इस सामगान का पति अधिष्ठाता देवता इन्द्र ही है। वह इन्द्र सभी देवताओं का, सभी इन्द्रियों का अर्थात् इन्द्रियरूप प्राणों का राजा, सभी तत्त्वों से ज्येष्ठ और गुणों से श्रेष्ठ है, सभी का अध्यक्ष है। हम लोगों के अन्दर वह मुख्य प्राण ही गाने वाला है। चेतनरूप अन्तरात्मा से चिताई हुई परा वाणी के अवलम्बन से प्राण ही गाता है। इसीलिए प्राण ही 'गय' यानी गायक माना गया है "गायन्तीति गयाः"—जो इस प्राण से गाई जाती है वह वाणी ही इन प्राणों की रक्षा करती है। इसी तात्त्विक अर्थ से वह वाणी "गायत्री" मानी गई है। "गायन्तं त्रायसे यस्माद् गायत्री त्वं ततः स्मृता॥" (ना. उ.) "प्राणा वै गयाः तद् यद् गयाँस्तत्रे तस्माद् गायत्री॥" (बृ. उ. ५।१४।४) "सैषा गायत्री अध्यात्मं प्रतिष्ठिता"—इत्यादि। जिस कारण से वह गायत्री ही गाने वालों की रक्षा करती है, अतएव उस गायत्री के मुख से ही इस मुख्य प्राण के द्वारा उस पूर्णात्मरूप इन्द्र को गाते हैं—'गायन्ति त्वा गायत्रिणः, गायत्रेण प्रतिमिमीते अर्कम्' (ऋ. १।१६४।२४) यह प्राण भी उस इन्द्र के सत्त्व से ही पैदा हुआ है। "ऐन्द्रः प्राणो अङ्गे अङ्गे विबोध्यत्"॥ (तै. सं.) सर्वान्तरात्मरूपी इन्द्र की वाणी ही अनुष्टुप् मानी गई है, क्योंकि "आत्मानं अनुस्तौतीति अनुष्टुप्"—आत्मा का अनुसरण करके ही वह गाती है। उस अनुष्टुप् नाम की गाने वाली अपनी वाणी का अनुसरण करके चरने वाला अन्तरात्मा चेतनरूपी इन्द्र है, उसको ज्ञानी लोगों ने बुद्धि से देखा है, उसका साक्षात्कार किया है।

"बीभत्सूनां सयुजं हंसमाहुरपां दिव्यानां सख्ये चरन्तम्।
अनुष्टुभमनु च चूर्यमाणमिन्द्रं निचिक्युः कवयो मनीषा॥ इति

(ऋ. १०।१२४।९)

इस मन्त्र की व्याख्या ऐतरेय आरण्यक में है। "वाचि वै तदैन्द्रं प्राणं न्यचारयन् इत्येतदुक्तं भवति" इति (ऐ. आ.) इसी प्रकार उस वाणी को गाने वाली मानते हैं और उसे गायकों का रक्षण करने वाली भी कहते हैं। 'गायत्री' इस छन्द-नाम का अर्थ ही है—गाने वालों का त्राण करने वाली। "गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किञ्च, वाग् वै गायत्री, वाग् वा इदं सर्वं भूतं गायति त्रायते च॥" इति॥ (छां. उ. ३।१२।१)। इसकी मीमांसा ब्रह्मसूत्र में की गई है—"ज्योतिश्चरणाभिधानात्"। "छन्दोऽभिधानात् नेति चेत् न, तथा चेतोऽर्पणनिगदात्, तथाहि दर्शयति"। उस परब्रह्म वस्तु की उपासना में गायत्री छन्द का साम्य-दृष्टि से योग दिखलाया गया है। "पादोऽस्य सर्वा भूतानि, त्रिपादस्यामृतं दिवि"—इस मन्त्र से त्रिपाद और चतुष्पाद तत्त्वों के योग से गायत्रीरूपी परा वाणी और परब्रह्म वस्तु का साम्य है और सभी अर्थों का साम्य भी है। ऐसा निर्णय ब्रह्मसूत्र के शारीरक आदि भाष्यों में किया गया है।

यह गाने वाला प्राण ही गन्धर्व माना गया है, जो कि सब प्राणियों के हृदय में उस वाणी को गा रहा है, जो उस वाणी को चेतनरूपी अन्तरात्मा (मन) से धारण करता है। उस ज्योतिर्मय वाणी को ज्ञानी लोग अपने हृदय में रक्षण करते हैं, जो कि आकाश की तन्मात्रा है, जो भीतर से बुद्धि को भी प्रेरणा देने वाली है। यह वाक् तत्त्व ऋग्वेद में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain. Digitizagtion by eGangotri

प्रसिद्ध है; पतङ्ग ऋषि उसी के द्रष्टा हैं। "पतङ्गो वाचं मनसा बिभर्ति तां गन्धर्वो अवदद् गर्भे अन्तः। तां द्योतमानां स्वर्यं मनीषामृतस्य पदे कवयो निपान्ति ॥" इति (ऋ. १०।१२९।३)।

यही वाणी 'मध्यमा' भी मानी गई है। उस मध्यमा के दो प्रकार हैं, एक बाहर ब्रह्माण्ड में मध्यमलोकरूप अन्तरिक्ष में रहने वाली है और दूसरी मध्यमलोक के अधिपति "वायु, इन्द्र और रुद्र" इन वैद्युत् ज्योतिर्मय देवता-विभूतियों के साथ मिली हुई है। वही (मध्यमा) 'भारती' नाम से ऋग्वेद में प्रसिद्ध है। उसका वर्णन दस भिन्न २ स्थानों पर सूक्तों में पाया जाता है। "तिस्रो देव्यः सरस्वतीळाभारत्यः।" उनमें से 'इळा'—यह पृथिवी के अधिपति अग्नि की शक्ति है, वह अग्नायी मानी गई है। 'भारती' अन्तरिक्षाधिपति इन्द्र की शक्ति है, जो कि इन्द्राणी मानी गई है। वही रुद्र के योग से गौरी मानी गई है। 'सरस्वती' द्युलोक के अधिपति सूर्य की शक्ति है जिसे वरुणानी भी कहा गया है। सूर्य को सरस्वान् माना गया है। इस प्रकार सरस्वती, इळा और भारती इन तीनों का क्रमशः द्युलोक, पृथ्वी और अन्तरिक्ष के साथ संबन्ध है। ये तीनों वाग्देवता की विभूतियां हैं। भारतीळे सरस्वति या वः सर्वा उपब्रुवे। तानश्चोदयत श्रिये ॥ (ऋ. १।१८८।८)।

इहेन्द्राणीमुपह्वये वरुणानीं स्वस्तये। अग्नायीं सोमपीतये ॥ (ऋ. १।२२।१२)।

वाग्देवता के इन तीनों रूपों का मेरे ग्रन्थ 'वाक्सुधा' में विस्तृत वर्णन किया गया है। यहाँ केवल उदाहरण स्वरूप दो श्लोक उद्धृत करता हूं, जिनमें 'भारती' का वर्णन है;—

या विद्युन्-मरुद्-इन्द्ररुद्रमहसां भासा सुभाषा प्रभा
तद्योगान्निरताऽन्तरिक्षसदने सा भारती वैद्युती।
तस्मान्मध्यमलोकदैवतसती भातीह भाषोद्यती
सिद्धा माध्यमिका सती भगवती वाग्देवता भारती ॥

नाभेरूर्ध्वमुखा, हृदन्तरुदिता प्राणैः स्वरैः सस्वरां
सूक्ष्मां मध्यदशां निजामुपगता सा मध्यमा संज्ञिता।
वाग्वै सा हृदि मध्यमेन मरुता प्राणेन्द्ररुद्रात्मना
वक्तुं संयतये स्वयं स्वरसतो ज्ञातार्थदा भारती ॥

अर्थात् सभी प्राणियों के अन्दर हृदय में प्राण के स्वर के साथ स्फुरने वाली वाणी ही मध्यमा मानी गई है। परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी,—इन चारों में से वह तीसरी है और पहली परावाणी को छोड़ कर पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी, इन तीनों में से वह 'मध्यमा' है जो कि प्राण के साथ मिलकर स्वरयुक्त बन जाती है।

इसी वाणी में मङ्गलमय लक्ष्मी देवता भी है—"भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताऽधि वाचि"। छलनी से जैसे आटे को छान कर शुद्ध बनाते हैं, उसी प्रकार मन से वाणी का संशोधन करते हुए विद्वान् लोग जहाँ उस सत्यरूप वाणी का उच्चार करते हैं, वहाँ उस भाषा के जानकार लोग उसका अर्थ समझ जाते हैं। अतः उस वाणी में अर्थज्ञान का प्रकाशन करने की जो शक्तिरूपी सात्त्विक कला है, वही भगवती लक्ष्मी श्रीदेवता है।

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताऽधि वाचि ॥ (ऋ. १०।७१।२)

संगीत में नवरसों का सत्त्व

सङ्गीत में सभी रसों का सत्त्व भरा है, फिर भी शाब्दिक और व्यावहारिक दृष्टि से उन रसों की नव संख्या में परिगणना की गई है। यथाः—

शृङ्गारवीरकरुणाद्भुतहास्यभयानकाः।
शान्तो रौद्रश्च बीभत्सो वाचो नव रसाः स्मृताः ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ये सभी रस वाणी में, स्वर और नाद में, शब्द-साहित्य में विद्यमान हैं। एक वाणी के मुख से ही उन सभी रसों का आविष्कार हो सकता है। इन रसों के अतिरिक्त ज्ञान-रस, विद्या-रस, योगानन्द-रस, आत्मशान्ति-रस, ब्रह्मानन्द-रस इत्यादि भी वेदों और उपनिषदों में बताए गए हैं। परम-रस के लेशमात्र से आज भी सारे संसार के प्राणिमात्र जीवित रहते हैं। यदि उस पूर्णानन्द परम-रस का लेश इन प्राणियों में न होता तो ये प्राणी कभी जी नहीं सकते। यही याज्ञवल्क्य का उपदेश राजा जनक को मिला था। एष एव परम आनन्दः, अन्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति इति। (बृ. उ.) अखण्ड नादब्रह्मरूप उस दिव्य वाणी से ही यह सारा समुद्र रूप से भरा हुआ रस झरता है। उसी रस से ये प्राणी जीवित रहते हैं, उसी से सभी अक्षरों का आविर्भाव हुआ है और इस वाक्शक्ति से ही वह निर्गुण ब्रह्म वस्तु भी सगुण बना है और 'अक्षर-सत्य-ब्रह्म' आदि नामों द्वारा बताया गया है। अधिक क्या कहें? उस वाग्रस से ही यह सारा विश्व जीवित है। यही प्रत्यक्ष ब्रह्मरूप वाणी का रस है।

गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षती, तस्याः समुद्रा अधिविक्षरन्ति।
तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः, ततः क्षरत्यक्षरं तद् विश्वमुपजीवति॥ इति. (ऋ. १।१६४।४२)

इस प्रकार वह ब्रह्मवस्तु ही एकरस माना गया है। उस ब्रह्मवस्तु का ज्ञान भी रसरूप ही है। "रसो वै सः, रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति। को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति॥ इति. (तै. ब्र. ३, ७ अनु.)

इसी सङ्गीत से वह ब्रह्मानन्दरस भी मिल सकता है, यदि योग और तपस्या के रूप में यानी सङ्गीत को योग और तपस्या मान कर इस सङ्गीत की उपासना की जाय। अलौकिक और निर्व्याज श्रद्धा से निरन्तर, अविच्छिन्न रूप से उस परम वस्तु के अनुसन्धान से, दीर्घकाल तक तपस्या से इस संगीत का अभ्यास करने से उस परम रस का अनुभव अवश्य ही मिलता है। इसमें दृष्टि-भेद और उद्देश्य ही कारण है। जो-जो काम जिस-जिस उद्देश्य से किया जाता है, उस के अनुसार ही फल मिलता है। भक्ति-मार्ग की आराधना में भी ऐसा ही होता है, अर्थात् उद्देश्य के अनुरूप फलप्राप्ति होती है। उदाहरण के लिए, प्रह्लाद ने तो पूर्ण भक्ति-भाव से नारायण का नाम गाया था; नाटक में प्रह्लाद का 'पार्ट' लेने वाला कलाकार भी प्रह्लाद की तरह वही 'नारायण' नाम गाता है; किन्तु उसका उद्देश्य भगवद्भक्ति न होकर कुछ और ही होता है। या तो प्रेक्षागृह में बैठे हुए दर्शकों को ख़ुश करने के लिए, अथवा कोई प्रमाणपत्र या पारितोषिक आदि फल पाने के लिए या "वाह-वाह" कहलाने के लिए वह प्रह्लाद का अनुकरण करता है। उस अभिनेता का भगवन्नाम-गान 'नकली' हो है, 'सकली' नहीं; इसीलिए उसे फल भी उतना सा ही मिलता है। यदि वह प्रह्लाद के पूर्ण भक्ति-भाव से उस करुणा-रस में पहुँच कर सचमुच भगवान् का नाम गाता तो आज भी भगवान् वैसे ही प्रसन्न होते जैसे प्रह्लाद पर हुए थे, सभी प्रेक्षकों के अन्तर्यामी परमात्मा भी तल्लीन हो जाते, तब 'सामरस्य' का आनन्द मिल सकता था।

राम राम सब कोउ कहे, ठग ठाकुर अरु चोर।
जिस नाम से ध्रुव प्रह्लाद तरे, वह नाम है कुछ और॥

यह प्रसिद्ध है। सचमुच प्रह्लाद की भी वह करुणाजनक पुकार रोना नहीं, गाना ही है। उसी भाव से रोदन भी गायन हो जाएगा और उस भाव के बिना गाना भी रोना हो जाएगा। यह सब कुछ नई बात नहीं; इसे सब लोग जानते हैं। फिर भी मैंने स्मरण मात्र दिलाया है।

नादब्रह्म-रूपा सरस्वती

अन्यान्य देव-देवियों के हाथ में धनुष, बाण, तलवार, त्रिशूल आदि शस्त्रास्त्र दिए गए हैं। वे सभी उन-उन शक्तियों के तात्त्विक स्वरूप के बोधक सङ्केत हैं। सरस्वती के चारों हाथों में जो 'शस्त्रास्त्र' दिए गए हैं, वे पराशक्ति रूप

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri.

वाणी के ही प्रतीक हैं और रूपक भी हैं। निर्गुण और नामरूपातीत पूर्णब्रह्मवस्तु जितना व्यापक है, उतनी ही व्यापक उस की वाचकशक्तिरूपा वाणी भी है। "यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्" (ऋ० १०।११४।८) इसकी व्याख्या से यही अर्थ और भी स्पष्ट होता है—"यत्र क च ब्रह्म तद्वै वाक् यद्वै वाक् तद्वै ब्रह्मेत्येतदुक्तं भवति।" (ऐ. आ. १।२।८) उस परब्रह्मवस्तु के जो नाम हैं, वही वाणी के भी हैं। यथा 'सत्य, अक्षर, ब्रह्म' प्रसिद्ध ही हैं। वह पूर्ण-ब्रह्म-वस्तु बिन्दु के रूप से बतलाया जाता है, वही वाणी का अनुस्वार है। वस्तुतः 'ब्रह्म' यह नाम वाणी का ही मुख्य है, नामरूपातीत निर्गुण वस्तु के लिए गौण है, अर्थात् गुणभूत है। "वाग् वै ब्रह्म, तस्या एष पतिः ब्रह्मणस्पतिः" (बृ० उ० १।३।२१) प्रत्यक्ष ब्रह्म ही वाणी है, उसका वाच्यार्थ-रूप वस्तु ही परोक्ष ब्रह्म है। इसी प्रकार ॐ यह भी वाणी का ही प्रधान-स्वरूप है। "ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्" (ऋ १।१६४।) इस मन्त्र में जो 'अक्षर' शब्द है, वह वाणी का ही है, और वाणी के वाच्यार्थ का भी वही 'अक्षर' वाचक है, इन दोनों के समन्वय से ही पूर्ण ज्ञान हो सकता है। इसीलिए यास्कमुनि ने इसी मन्त्र के व्याख्यान के अवसर पर "ओमित्येषा वागिति शाकपूणिः" ऐसे स्पष्ट कहा है।

ॐ यह भी उस परा वाणी के नाद-ब्रह्म का अनुकरण है—"ओमित्येतदनुकृतिः" (तै० शो० उ० ६।२) उस आकाश में तन्मात्रा के रूप से भरा हुआ जो शब्द अथवा नाद है, उसी का अनुकरण यह अखण्ड नादरूपी ॐकार है।

उसी नाद की गुप्त शक्ति का स्वरूप है "ई"। वही पराशक्ति का नाम है; परब्रह्म वस्तु का भी वही नाम है। "य ईं चिकेत गुहा भवन्तम्" (ऋ. १) "य ईं चकार न सो अस्य वेद" (ऋ. १।१६४) "त्रिसो मातॄस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ न ईं अवग्लापयन्ति (ऋ १।१६४) ऐसे सैंकड़ों मन्त्रों में ईंकार का निर्देश है। यह ईंकार नाद-ब्रह्मरूप अक्षर माना गया है। वह गुप्त प्रणव होने के कारण अभी तक गुप्त ही रह गया है। "ईङ्काराय स्वाहा ईङ्कृताय स्वाहा" (तै. सं. ७।१।१९ (९)) (कृ. य. सं. वैश्वदेवकाण्डे अश्वमेधे) ऐसे यजुर्मन्त्र में स्पष्ट ईंकार सुनाया गया है। यह स्वतन्त्र विषय होने के कारण यहाँ उस का विस्तार प्रासंगिक नहीं है। नादब्रह्म का यह एक गुप्त तत्त्व है।

ब्रह्म वस्तु को समझने और समझाने के लिए भी वाणी ही एकमात्र प्रमाण है। वेदवाणी ही एक प्रत्यक्ष प्रमाण है। उस ब्रह्मवस्तु को नापने-वाली होने के कारण वह वाणी "मा, माता, माया" आदि नामों से कही गई है। वाग्देवी ने ही उस परम-वस्तु को बताया, 'ब्रह्म' इस नाम से पुकारा और सिखाया; तभी पता लगा कि वह ब्रह्म है। उसी प्रकार वाणी ने वेदों के मुख से उस वस्तु का वर्णन किया, किन्तु उसका सच्चा वर्णन न हो सका, तब वह निवृत्त हो गई। अर्थात् उस ब्रह्म-वस्तु के निर्वचन में वाणी को भी मौन धारण करना पड़ा। "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन" इति (तै. ब्र. उ. ९ अनु.) यह ब्रह्मानन्द-रस अनिर्वचनीय ही है, ऐसा सिद्ध होता है। श्री शङ्कराचार्यजी ने उस मौन का वर्णन किया है—"मौनव्याख्याप्रकटित-परब्रह्मतत्त्वं युवानम्"। इति ॥

मौन धारण करके कुछ न बोलते हुए भी ब्रह्म वस्तु का अस्तित्व सुनाने के लिए वाणी ने वीणा ली है। उस वीणा में जो तन्तु या तन्त्री है, वही ज्ञान का रूप है अथवा चेतना का रूपक है। वाग्देवी ने स्वयं बिना बोले हुए उस चेतना-तन्तु को प्राणशक्ति के योग से चिताया, सरस्वती ने उस तन्तु को छेड़ा; उसी से एक ऐसा नाद निकल पड़ा जो कि 'अं' अनुस्वार माना गया है। यही ध्वनि पूर्णबिन्दु-तत्त्व का प्रतीक रूप है। उसी नाद से पता चला कि कुछ न कुछ एक चेतन वस्तु है, जिस से यह नाद निकलता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वाग्देवता के चार हस्तों के प्रतीकों का गूढ़ार्थ इस प्रकार है :—

(१) तन्तु या तन्त्री के नाद से ब्रह्मवस्तु का बोध कराने के कारण वाणी का नाम 'दैवी वीणा' पड़ा है। उस 'वीणा' से ही वाणी को "वीणापाणि" की पदवी मिली है। इस पदवी का प्रधान अर्थ है—'बिना बोले हुए बताने वाली'। यही नाद-ब्रह्म का तत्त्व है; उसी में एक अलौकिक रस है, जिसको सुनने से, "श्रवण-मात्र" से उस रस का अनुभव होता है।

(२) सरस्वती के हाथ में जो माला है, वह अक्षरों की है। 'अकार' से 'हकार' तक जो वर्ण हैं, वह रुद्र भगवान् के डमरू से निकले हुए हैं। "नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नवपञ्चवारम्"—रुद्र के ताण्डव नृत्य के बाद डमरू के नाद से निकले हुए 'अइउण्हल्' आदि चौदह सूत्र प्रसिद्ध हैं। 'अकार' से आरंभ कर 'क्षकार' तक के अक्षरों की माला से ही जप करने का विधान है।

(३) सरस्वती के हाथ में पुस्तक शब्दशक्ति का स्वरूप है; उन्हीं अक्षरों के योग से जो शब्द बने हैं, उन से ही अर्थ-ज्ञान होता है। 'पुस्तक' के प्रतीक में जैसे शब्द-वाक्य आदि गद्यरूप हैं, वैसे ही पद-पाद-पद्य-आदि छन्दोमय रूप भी है। यह सभी वाणी का ही स्वरूप है। इसी तत्त्व का उल्लेख कवीन्द्र कालिदासजी ने किया है :—

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतां पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥

(४) सरस्वती का चौथा हाथ 'अभय' मुद्रा में स्थित है। इसका तात्पर्य यही है कि ऊपर लिखे तीनों साधनों के शक्तिरूप 'शस्त्रों' से सरस्वती जिस ज्ञान-रस का वितरण कर रही हैं; उसी ज्ञान से अभयरूप शान्ति-रस का भी वितरण करती हैं। इस प्रकार सरस्वती के करस्थित वीणा, माला, पुस्तक और अभयमुद्रा का प्रतीकार्थ स्पष्ट किया गया।

सङ्गीत से सभी पुरुषार्थों की प्राप्ति

सङ्गीत ही संसार, प्रपञ्च और परमार्थ आदि सभी पुरुषार्थ प्राप्त करने का प्रधान साधन है। इसी सत्य का स्वल्प विवरण नीचे प्रस्तुत है।

इस संसार में सुख-शान्ति से जीवनयात्रा बिताने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को अपनी-अपनी अनेक कामनाएं होती हैं। उन कामनाओं की पूर्ति में कोई एकाकी समर्थ नहीं हो सकता। अतः स्त्री और पुरुष—इन दो का निर्माण हुआ है। वे ही इस संसार के विश्व-चक्र के संचालक माने गये हैं। उन्हीं के योग से 'दम्पती' बनते हैं। उनका मुख्य उद्देश्य है—"हम, दोनों के योग से, परस्पर आनन्द-रस पाएंगे और सत्संतान के द्वारा आचन्द्रार्क बढ़ते जाएंगे तथा इस प्रकार अमृतत्त्व भी प्राप्त करेंगे।" 'प्रजाभिरग्ने अमृतत्त्वमस्याम्' (ऋ. ५।४।१०) आनन्द से, सुख शान्ति से शरीरयात्रा बिताने में और इस असार संसार को सुसार बनाने में सङ्गीत-विद्या की उपासना एकमात्र साधन है। यदि पति-पत्नी दोनों सङ्गीत के प्रेमी, रसिक, सङ्गीतव्यसनी बनेंगे तो वही एक आदर्श जोड़ा हो सकेगा। तभी "समानविद्याव्यसनेषु सख्यम्" इस वचन के अनुसार उन दोनों का सच्चा सखित्व स्थिर हो जाएगा; वे दोनों गायन करते हुए इस संसार यात्रा को स्थिर बना सकेंगे। उनके योग से उत्पन्न सन्तान बीज और क्षेत्र के संस्कार से निर्मल और वीर्यवत्तर बनेगा। संतान को गर्भ से ही सङ्गीत का संस्कार दिया जाये तो उसका असर कई पीढ़ियों तक चलेगा और इस प्रकार अपूर्व, अलौकिक संगीत का एक वंश-वृक्ष ही तैय्यार हो जाएगा।

बालक का जन्म होते ही महोत्सव मनाया जाता है और वैदिक जातकर्म संस्कार भी किया जाता है। उस संस्कार में सद्योजात शिशु के दाहिने कान में "वाक्, वाक्, वाक्" यह मन्त्र सुनाने का विधान है और दही, शहद घी मिलाकर सुवर्ण को घिसकर पिलाने का भी विधान है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अथास्य दक्षिणं कर्णमभिनिधाय वाग् वाग् वाग् इति त्रिः, अथ दधिमधुघृतं संनीय अन्तर्हितेन ज़ातरूपेण प्राशयति ॥ (बृ. उ. ६।४।२५)।

यह सब कुछ बालक की वाणी में माधुर्य, वीर्यवत्ता, तेजस्वी स्वर और रस का सञ्चार करने के लिये हीं है। यह प्रथम संस्कार संगीत के साथ ही किया जाए तो वही संस्कार आगे चलकर बालक को गायन में प्रेमी रसिक बनाने में सहायक होगा।

जातकर्म-संस्कार के पश्चात् बालक को स्तनपान कराया जाता है। उसके लिए सरस्वती के मन्त्र का विनियोग है। "अथैनं मात्रे प्रदाय स्तनं प्रयच्छति"। यस्ते स्तनः शशयो यो मया भूर्येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि। यो रत्न धा वसुविद् यः सुदत्रः सरस्वति तमिह धातवेऽकः ॥ इति (ऋ. १।१६४।४९) अर्थात् हे सरस्वति ! सभी रसों से पूर्ण जो तेरा स्तन परम सुख देनेवाला है, तू जिस स्तन से सभी प्राणियों का पोषण करती है, जो स्तन रमणीय, वरणीय और प्राण को चेतन बनाने वाला है, जो सभी ऐश्वर्य और सत्त्वगुण को धारण करता है, उस परम रस से पूर्ण स्तन को प्राणियों को पिलाने के लिये तू धारण करती है।

इस प्रथम स्तनपान के समय ही यदि सुस्वर से वैदिक मन्त्रों का गायन कराया जाए तो वह स्तनपान प्राण-सञ्जीवन मात्र ही नहीं, ज्ञान-सञ्जीवन आदि सभी सत्त्वगुणों को चिताने वाला होगा। इस प्रकार का प्रयोग (रिसर्च) संशोधन कोई नहीं करता। वह प्रयोग केवल किताब से या लेखन से पूरा नहीं हो सकता; उस संस्कार का प्रसाद कुछ अलौकिक ही होगा।

बालक जब रोता है, तब कुछ मीठा पदार्थ खिलाते हैं जिससे चुप हो जाए। उससे भी चुप न हो तो मां कुछ गीत सुनाती है, तब चुप हो जाता है। यदि मां गीत न जानती हो तो वह गाली-गुस्सा करके बालक को पीटने लगती है। तब वह और भी रोने लगता है; उसके साथ-साथ माता-पिता को भी रोते-रोते समय बिताना पड़ता है। सचमुच रोनेवालों को शान्त करने में संगीत एकमात्र सञ्जीवनी 'मात्रा' (औषधि) है।

उसी प्रकार कभी पति भी रुष्ट हो जाता है, स्त्री को छोड़ कर इधर-उधर भटकते फिरने का मौक़ा भी किसी को आ जाता है, वैसी अवस्था में यदि सङ्गीत का शान्तिमय और प्रेममय 'शस्त्र' हो तो मीठी बात से, साम से, सौम्य स्वर से, सावधान मन से पति को क्या, शत्रु को भी रिझा सकते हैं। सङ्गीत की साधना हो तो दम्पती का दिल एक हो जाएगा; उनके कामुक हृदय सभी कामनाओं के रस से पूर्ण हो जाएंगे और निष्काम, निर्व्याज प्रेम से पूर्ण बनेंगे। उनके लिए यह असार संसार भी सुसार बन जाएगा।

प्रपञ्च-यात्रा में भी सभी लोगों को अपनाने में और आत्मसात् करने में यह सङ्गीत ही रामबाण है। प्रापञ्चिक सभी प्रकार के ऐश्वर्य इस संगीत कला में पूर्ण हैं। धन आदि प्राप्त करने का सामर्थ्य भी इसमें है।

अन्यान्य सभी विद्याओं का ज्ञान पुस्तकों में लिख कर रख सकते हैं, किन्तु यह सङ्गीत विद्या की कला तो साधक के साथ ही रहेगी; दूसरे विद्यार्थियों में रखने से ही वह सजीव रह सकती है। फिर भी "तुका म्हणे पदवी ज्याची त्याला"—ऐसे सन्त-वचन के अनुसार "जिसकी पदवी, उसी की है"।

और एक बात विशेष रहस्य की है और वह यह कि सङ्गीत को चिकित्सा के रूप में भी प्रयुक्त किया जा सकता है। इससे बड़े-बड़े रोगों की भी शान्ति हो जाती है। चाहें तो इसका प्रयोग कर के अनुभव ले सकते हैं।

इन सब प्रापञ्चिक विषयों के अतिरिक्त "परमार्थ" भी एक सबसे बड़ा विषय है, जिसे परम पुरुषार्थ माना गया है; धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, इनमें अन्तिम है मोक्ष। वह मोक्ष क्या है ? विषय, बन्धन, अज्ञान, अन्धकार;

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उपाधि, भय, प्रमाद, व्यसन, मोह, मद, अहङ्कार, मृत्यु आदि अनेक प्रकार के बन्धनों से छूटना, अलग होना और नैसर्गिक आत्मस्थिति में रहना ही मोक्ष है। वह ब्रह्म-विद्या, अध्यात्मविद्या, पराविद्या, रसविद्या, आनन्दविद्या, अक्षर-विद्या इत्यादि अनेक नामों से वेदों और उपनिषदों में प्रसिद्ध ही है। उन सभी का लक्ष्य एक ही है। उसी के लिए कर्म, उपासना, भक्ति, ज्ञान, यज्ञ, योग, तपश्चर्या इत्यादि साधनों का भी विधान है। सङ्गीत भी इन्हीं साधनों में अन्यतम है। इसलिए अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष भी सङ्गीत से सुलभ है।

सङ्गीत-विद्या का स्वरूप

वेदमन्त्रों में उदात्त, अनुदात्त, स्वरित—ये तीन स्वर होते हैं। उनका उच्चारण कैसे किया जाता है, यह गुरु के मुख से सुन कर ही, उनके अनुकरण से ही सीखना होगा; केवल किताबों में देख कर नहीं सीखा जा सकता है। उसी प्रकार गायन का भी है। षड्जादि स्वरों का उच्चार किताब से नहीं समझा जा सकता है। इसलिए क्या वेदपाठ और क्या गायन—दोनों के स्वर अनुकरण द्वारा ही सीखे जा सकते हैं, समझे जा सकते हैं। इसीलिए प्रातःकाल, मध्यान्ह, और सायंकाल,—इन तीनों सवनों में जो सामगान का स्वर है, वह पशु पक्षियों के स्वरों के अनुकरण से ही समझना पड़ेगा, दूसरी गति ही नहीं है। यह बात वेदाङ्ग-शिक्षा में पाणिनि आचार्यजी ने स्पष्ट कही है :—

प्रातः पठेन्नित्यमुरःस्थितेन स्वरेण शार्दूलरुतोपमेन।
मध्यन्दिने कण्ठगतेन चैव चक्राह्वसंकूजितसन्निभेन॥
तारं तु विद्यात् सवनं तृतीयं शिरोगतं तच्च सदा प्रयोज्यम्॥
मयूरहंसान्यभृतस्वराणां तुल्येन नादेन शिरःस्थितेन॥ इति (पाणिनि-शिक्षा)

अर्थात् प्रातःसवन में शार्दूल (सिंह) के स्वर का,* मध्याह्न-सवन में चक्रवाक के स्वर का तथा सायंसवन में मयूर, हंस आदि के स्वर का अनुकरण करना चाहिए। इस प्रकार मन्द्र, मध्य और तार स्थानों को अनुकरण द्वारा समझाया गया है। इसी प्रकार सङ्गीत के षड्जादि स्वरों के उच्चारण में भी पशु पक्षियों का अनुकरण ही मुख्य है। ऋक् मन्त्रों को ही गायन के नियम से गाने का विधान है—'तस्मात् ऋचि अध्यूढं साम गीयते' इति (छां. उ.) उस सामगान में पांच-सात-दस, यों अनेक भेद हैं। "लोकेषु सप्तविधं साम उपासीत।" १. हिंकार, २. प्रस्ताव ३. आदि ४. उद्गीथ, ५. प्रतिहार, ६. उपद्रव, ७. निधन ये सात साम के भेद प्रसिद्ध हैं। १. गायत्र, २. रथन्तर ३. वामदेव्य, ४. बृहत्, ५. वैरूप, ६. वैराज, ७. शाक्वर ८. रैवत ९. यज्ञायज्ञीय और १०. राजन। ऐसे इन नामों से दस प्रकार के साम भी अलग होते हैं। "गायन्ति त्वा गायत्रिणः", "रथन्तरं सामभिः पात्वस्मान्" "बृहत्-सामक्षत्रभृद् वृद्धवीयम्" इत्यादि ऋग्वेद के मन्त्रों में इन गायनों का उल्लेख किया गया है।

कर्मकाण्ड में होम वग़ैरह विनियोग में वेदमन्त्रों का प्रयोग स्वरसहित करना ही शास्त्रीय है। ज्योतिष्टोमादि यज्ञों में सामगान का विधान है; उसके ऋत्विज भी अलग ही होते हैं—उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्ता, सुब्रह्मण्य वग़ैरह सामवेद के ऋत्विज हैं।

मुख्य प्राणादि उपासना में उद्गीथ वग़ैरह विद्याओं का विधान है। "ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत" (छां. उ.) "ओमिति सामानि गायन्ति" (तै. शि. उ.)।

---

* स्वर साधक जानते हैं कि आज भी सूर्योदय से पूर्व मन्द्र-साधना की जो परंपरा है, उसमें सिंह की हुंकार जैसा ही मन्द्र और गंभीर कण्ठ-स्वर रहता है। :—संपादक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भक्तिमार्ग के भजन, स्तोत्र, नाम-स्मरण, जप, गीत, नृत्य आदि साधनों में शब्द-ब्रह्म और नाद-ब्रह्म की ही उपासना की जाती है। योगशास्त्र में प्रणव का जप, नादानुसन्धान, श्वासोच्छ्वास में 'हं सः' इस मन्त्राक्षर का अनुसन्धान करने का विधान है।

प्रत्येक मनुष्य के सिर के भीतर प्रतिक्षण एक विचित्र, विलक्षण नाद, विना बजाए, अपने-आप बजता रहता है। उसका नाम है "अनाहत नाद"।

घनगर्ज्जितमिव यच्छ्रुतमभितः, मूर्धन्यनुहत मिहगतमन्तः।
घटयति गीतमिवैव हि चेतः, परमिदमनुजानीहि सुचेतः॥

वह भीतर का नाद होने के कारण भीतर के सूक्ष्मेन्द्रिय से ही उसका श्रवण हो सकता है।

इस गायनरूप वाणी में एक दिव्य रस भी है। सिर से अन्दर मुख में जीभ के ऊपर टपकने वाला जो अमृतरस है, योगशास्त्र में जो सोमरस माना गया है, उस अमृतरस के योग से वाणी में भी एक रस-तत्त्व का उदय होता है। "ओष्ठा पिधाना नकुली दन्तैः परिवृता पविः। सर्वस्यैवाच ईशाना चारु मामिह वादयेदिति वाग्रसः॥ (ऐ. आ.)

मूलाधार से निरन्तर स्फुरने वाली परा वाणी की उपासना अहंस्फूर्ति के योग से की जाती है। वह अहङ्ग्रहोपासना मानी गई है। इस 'अहं' स्फूर्ति में अकारादि हकारान्त ('अ से ले कर 'ह' तक) सभी वर्णों का अन्तर्भाव होता है और उन अक्षरों का मूलबीजरूप पूर्णविन्दु भी उसी में है। यही आत्मगायन भी है।

हृदय में मध्यमावाणी के अनुसन्धान से गायन करने से लय-योग सिद्ध होता है। उस में सभी इन्द्रियों की वृत्तियां अन्तर्मुख बन जाती हैं और उस केवल 'स्वर-रूप' में लीन हो जाती हैं। मध्यमावाणी को 'मध्यमा' इसलिए माना गया है कि अत्यन्त सूक्ष्म परा वाणी की अपेक्षा वह कुछ-कुछ स्थूल-रूप से स्वर के स्वरूप में आ जाती है। दूसरी ओर अकारादि वर्णरूप से निकलने वाली वैखरी वाणी से वह मध्यमा सूक्ष्म है। इस प्रकार मध्यम दशा के स्वरूप में उसकी स्फूर्ति होती है। इस मानसिक आभ्यन्तर गान में मध्यमा वाणी का अवलम्बन लिया जाता है। जो सङ्गीत का सच्चा रसिक होगा और पूरा पहुंचा हुआ ऊंचा गायक होगा, वही इस मध्यमा वाणी के गायन में तन्मय हो सकेगा। वैखरी वाणी से तो साक्षात् षड्जादिक सातों स्वरों के योग से गाया जा सकता है, जिसे और लोग भी सुन सकते हैं।

वाणी, मन, प्राण, श्रोत्र, नेत्र—इन पांचों इन्द्रियों के योग से सङ्गीत देवता की उपासना होती है। बुद्धि पूर्वक स्वर का ज्ञान, उसमें वाणी की योजना, मन से उसका अर्थानुसन्धान रखना, प्राण के स्वर से उच्चार करना, कान से सुनना, ज्ञानप्रधाननेत्रेन्द्रिय से साक्षी के रूप में उसके स्वरूप का निरीक्षण करना, यही इस योग का पूर्ण स्वरूप है। इस योग से सङ्गीत-विद्या की साधना और उपासना करने से वह सङ्गीत-देवता प्रसन्न होती है, उस गायक के अन्तरात्मा में स्वयं ही प्रकट होती है और आनन्द-रस का अनुभव दिलाती है। इस में स्वरज्ञान, जागृति, अप्रमाद, आन्तर्य-स्फूर्ति, कण्ठ का सुस्वर नाद, जिह्वा को शुद्धि, स्वरमात्रादि उच्चारण में चपलता, दांत और ओंठों की स्थिरता, आकुञ्चन प्रसारण करने का सामर्थ्य, बुद्धि और प्राण को दृढ़ता तथा शान्ति, वाणी का बल और धैर्य इत्यादि भी इस सङ्गीत-विद्या के साधन में प्रधान अङ्ग हैं।

माधुर्यमक्षरव्यक्तिः पदच्छेदस्तु सुस्वरः। धैर्यं लयसमर्थं च षडेते पाठका गुणाः॥ (पा. शि.)
गीती शीघ्री शिरःकम्पी तथा लिखितपाठकः। अनर्थज्ञोऽल्पकण्ठश्च षडेते पाठकाधमाः॥ (पा. शि.)
इस प्रकार पाणिनि ऋषि ने 'पाठकों' के गुण और दोष बताए हैं।

ब्रह्मविद्या में सङ्गीत ही सबसे प्रधान साधन है और पूर्ण फल भी है। केवल शब्द ज्ञान से उस ब्रह्म वस्तु का पूर्ण अनुभव नहीं हो सकता। अनुभव के लिये वार-वार अनुवृत्ति से साधना करनी होगी। उस वस्तुज्ञान के योग से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उद्गीथ आदि सभी उपासनाओं में यदि सङ्गीत विद्या का योग हो तो वह ब्रह्मात्मनिष्ठा आसानी से मिल सकती है। इसीलिए ब्रह्मविद्या की भाँति यह सङ्गीत विद्या भी एक विशिष्ट प्रकार की ऊँची अलौकिक विद्या है। इसमें बाहर की किसी भी चीज की अपेक्षा और आवश्यकता नहीं है। अपने ही अन्तरात्मा, मन, बुद्धि, प्राण आदि से स्वतन्त्र साधन ही इसमें प्रधान है। यही साधन एक प्रकार का यज्ञ भी है; अतः इसे आन्तर्य विद्वद्यज्ञ माना गया है। इस यज्ञ में पाँच ऋत्विज हैं—वाक्, प्राण, मन, श्रोत्र और नेत्र। "तस्यैवं विदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः, श्रद्धा पत्नी—दक्षिणा वाग् होता, प्राण उद्गाता, चक्षुरध्वर्युः, मनो ब्रह्मा, श्रोत्रमग्नीत् (आग्नीध्रः) यावद् ध्रियते सा दीक्षा" ॥ (नो. उ.)

साधनावस्था के फल स्वरूप ब्रह्मज्ञान होने के बाद भी उन ब्रह्मनिष्ठों के लिये यह सङ्गीत उस समरस का पूर्ण अनुभवरूपी फल माना गया है। इसीलिये जब यह पूछा गया कि वह ब्रह्मनिष्ठ पुरुष क्या करता है—क्या कहता है, कैसे रहता है, अपनी जीवन-यात्रा को किस प्रकार बिताता है, तब इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए बताया गया है कि वह ज्ञानी पुरुष ब्रह्मज्ञान की समाधि में, नादब्रह्म की धुन में लीन होता है, बाहर भीतर के सभी विषयों को भूल जाता है; इतना ही नहीं वह अपने को भी भूल जाता है, अपनी ही आत्मस्थिति में जागता रहता है, कभी भी प्रमाद, आलस्य आदि वृत्तियों के वश में नहीं होता; इस अन्नमय शरीर और इन्द्रियों की वृत्ति से हट जाता है और प्राणमय वृत्ति से भी भीतर निकल जाता है; उससे भी सूक्ष्म और आन्तर्य मनोभूमिका को कामना-भावना आदि वृत्तियों से ऊपर बढ़ जाता है, 'मैं फलाना हूँ' इस बुद्धि के विज्ञान से और वैषयिक ज्ञान से भी भीतर गहरे चला जाता है, विषयानन्द के रस से मुक्त हो जाता है, केवल आत्मानन्द के रस का अनुभव करता हुआ भी उसमें लिपटता नहीं है, "मैं आनन्दरस चाख रहा हूँ" इत्यादि उस आनन्द की अनेकानेक ऊर्मियों से परिवर्तनशील तरङ्गों का भी अतिक्रमण करता है, उस अन्तरात्मा और परमात्मा के योग से 'जीव, जगत् और ईश' इनके सामरस्य में पहुँच जाता है, 'ज्ञान, भावना और क्रिया' इनके सामरस्यपूर्ण योग से उस समरस के अनुभव गाता हुआ उस सामरस्य में लीन हो जाता है तथा उसी परमानन्द-रस में तल्लीन होकर रहता है। यह बात तै. उ. में भृगुवल्ली में स्पष्ट सुनाई गई है। "एतत् सामगायन् आस्ते"। हाउहाउहाउ। अहमन्नमहन्नम्। अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः। अहँ श्लोककृदहँ श्लोककृदहँ श्लोककृत्। अहमस्मि प्रथमजा ऋता३ स्यापूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाभा इ। यो मय ददाति स इ देव मा ३ वाः। अहमन्नमन्नमदन्तमा३द्मि। अहं विश्वं भुवनमभ्यभवाम् सुवर्न ज्योतीः ॥ इति ॥

अर्थात् वह ब्रह्मनिष्ठ पुरुष साम गाता रहता है; 'सामगान' की रूपरेखा इस प्रकार बताई गई है;—"मैं यह भोग्यरूप अन्न हूँ, खानेवाला भोक्ता भी मैं ही हूँ। यह जो सामगान हो रहा है, इसका कर्ता साक्षी भी मैं हूँ। इतना ही नहीं, उस परम सत्य वस्तु से जिसने प्रथम आविर्भाव पाया है—वह हिरण्यगर्भ भी मैं हूँ। सभी देवताओं से प्राचीन अमृतरस का नाभिरूप मूलस्थान भी मैं हूँ। जो मुझे इस समरस की प्रेरणा करता है, वही ऐसा गा रहा है—'मैं भोग्यरूप अन्न हूँ, अन्न खानेवाले भोक्ता को भी मैं खा जाता हूँ; मैं स्वयं अभोक्ता होने के कारण भोक्तृरूपी जीव को और जीव-भाव को भी निगल जाता हूँ। मैं इस सारे विश्व को पूरा भर कर व्यापक बन चुका हूँ, जैसे कि सुवर्न ज्योतीः—(ज्योतिः स्वः इव) यह ज्योति आकाश में पूर्ण है।"

यह उस सामरस के गायन की पराकाष्ठा है। गानेवाला, गेय वस्तु और गान, ये तीनों ही एक तत्त्व में लीन हो जाते हैं। "मैं गाता हूँ, यह मेरा गायन है; यह इस गायन का विषय है अर्थात् फलाने को मैं गा रहा हूँ"—इसका भी अलग भान न रहे, तब वह पूरा गायन होगा। यही सङ्गीत विद्या की पराकाष्ठा है, यही पूर्णता है; बस इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। "बृहस्पते न परः साम्नो विदुः"। (ऋ० २)

(अपूर्ण—आगामी अंक में समाप्य]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ON THE EFFECT OF MUSIC AND DANCE ON PLANTS

By

Prof. T. C. N. Singh

Music : A Physical Phenomenon :

Music is something like a "garland" of harmonic sounds dexterously wreathed in a variety of permutations and combinations which when operated reach the human ear as *swaras*, *rasas*, *ragas* and *rayinis*, while on the other hand, it is an axiomatic truth that SOUND like light, heat and electricity etc. is a definite measurable physical phenomenon cenvertible into energy waves, the physics of which is very well known.

It is no new knowledge to be told that light, humidity, temperature, and wind etc. *do* affect the metabolism of plants. Then why not SOUND which *too* is a physical phenomenon of similar status ?

Earlier Experiments by Darwin and Pfeffer :

Over a century ago in 1857, CHARIES DARWIN of the Evolution—Theory fame, made repeated experiments to stimulate *Mimosa pudica* (sensitive plant) by playing bassoon in its close proximity to bring about seismonastic movements of the pinnae. But he failed in his attempt. Similarly twenty years later, in 1877 the great German plant Physiologist PFEFFER has reported in his celebrated classical book on the physiology of plants, that an effort to stimulate the stamens of Cynararae by sound was like-wise without any success. In fact, prior to 1950, there is no record of any experiment where sound has ever been utilized in relation to the phenomenon of growth in plants, by dosing them for a fixed period daily, with a view to study their response regarding the cumulative effects of excitation of sound-waves like that of light, gravity and temperature etc. on plants.

The Historic Past :

When the historic past is delved in, the enchanting flute of LORD KRISHNA is reputed to have promoted enthralling growth and be-witching verdure in the *kunjavan* of Mathura and Vrindaban. And in the recent past TANSEN one of the *navaratnas* of the court of the great Moghal Emperor Akbar, could vernalise plants and indnce them into blossom by singing the *raga vasant bahar*. On the other hand there are references in the TAMIL literature to the effect that the "eyes" buds) of sugarcane grow vigorously in response to the mellofluous buzzing sound of the speckled beetles, wasps and bees. And further a profuse oozing of the sugary nectar could be induced from the golden yellow flowers of *Cassia fistula* (*amaltas*) by playing heart melting musical tunes.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Recent Experiments at Annamalai School of Botany :

Since December 1950, however, the Annamalai School of Botany has been busily engaged in conducting experiments both in the laboratory and the field ; and have proved beyond any shadow of doubt that harmonic sound waves do affect the growth, flowering, fruiting and seed-yields of plants. The claim of these results have been further supported and strengthened by the recent successful results obtained by the Annamalai School of Botany while conducting fundamental experiments on transpiration, carbon assimilation and respiration of plants. Thus, therefore, there should be no wonder or doubt that sound properly dosed, can spur plants into enhanced growth and greater yields.

The Method of Excitation of Plants :

Healthy potted plants of the same age and vigour are placed in a semi-circle within a radius-distance of ten feet from the place of excitation. Similar number of potted plants of the very same species is maintained as control far away from the spot of excitation. The excitation to the plants is dosed for exactly half-an-hour daily after sun rise in the morning between 7 A.M.—8 A.M. with the very same musical sound throughout the growth period of the plants. The excitation is carried on by instrumental music with the aid of *veena, flute, violin, nadeswaram,* harmonium etc. scaled at a high pitch between 4 and 5 with frequency between 100 to 600.

Swaras & Ragas Used in the Experiments :

The following *swaras* and *ragas* have so far been experimented on plants : viz.

Single note *Pa* Three notes *Sa pa sa* Bhairavi raga Bilahari raga Charukesi raga Dhanyasi raga Kharaharapriya raga Maya-malva-gaula raga Simhendra Madhyama raga Todi raga

Plants Experimented upon :

Numerous series of pot-culture experiments have been conducted during the past several years on :

(a) Wild plants viz. Chara Limbgya Pithophora Spirogyra Salvinia Ceratophyllum Lagrosiphon Najas Otellia Vallisneria Hydrilla Sensitive plant Telegraph plant Tulasi

(b) Ornamental plants viz. Pothos Urgenia White spider lily Angelonia Aster Balsam Cosmos Eupatorium Gaillardia Marigold Petunia

(c) Economic plants viz. Onion Paddy Ragi Sugarcane Brinjal Chillies Gingelly Lady's finger Radish Sweet potato Tapioca Tobacco

In each of the above cases it was found that the experimental plants were very much more vigorous, produced darker green leaves, flowered earlier and yielded more than the control batch of plants. The best results have been found with the sound-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

waves of violin, flute and *nadeswaram*. Vocal music was also experimented upon and it was observed that the female voice alone could excite plants. This was because of the higher pitch of the female voice than that of the male voice. In fact instruments played at a lower pitch than 4, do not have satisfactory effect on plants.

Field-Trial Experiment with Crops :

The pot-culture experiments with original music were later extended to even crop-plants on field-scale with the aid of recorded music. The crops were excited by playing recorded music on a gramophone and was relayed in the field through loud-speakers.

During the past 3 years six varieties of early, medium and late paddy have been tried in seven villages in Pondicherry and Madras states under the excitation of *Charukesi* raga piped through *nadeswaram* expressing yields ranging from 25% to 60%,

Under the excitation of the same *raga*, groundnut has yielded 45% more kernel than the control.

Experiments on wheat at Ontario (Canada) carried on under the influence of European music played on violin and broadcast in the field, yielded 66% more grain than the control plot.

Chewing tobacco seedlings when subjected to the excitation of sound-waves for half-an-hour daily by playing the single note *pa* (at frequency of 360) for a period of 30 days, and transplanted under field conditions, yielded cured tobacco to the tune of between 50% to 65% during the past 3 years.

Experiments with Dance on Plants ;

There was a lively discussion when the experiments on sound-percussions transmitteed through the earth affecting plant growth was presented before the 15th International Horticultural Congress held at Nice-Printemps (France) in April 1958. It has been demonstrated that when *Bharat Natyam* was executed without trinkets on the ankles from a distance within 10 feet radius of potted plants of Michaelmas Daisy, Eupatorium, Marigold, Gaillardia and Petunia, the growth of plants was very much accelerated and had generally grown taller by about 50% over the control and had flowered about a fortnight earlier.

Concluding Remarks :

Experiments conducted during the past one decade in India, U. S. A. and Canada have conclusively demonstrated that audible sound-waves transmitted through air, water or earth, do affect plants expressing enhanced vegetative growth and seed yield.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

No. 1

No. 3

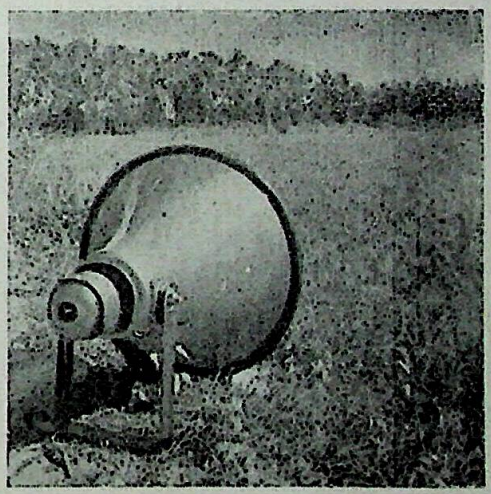

No. 4

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

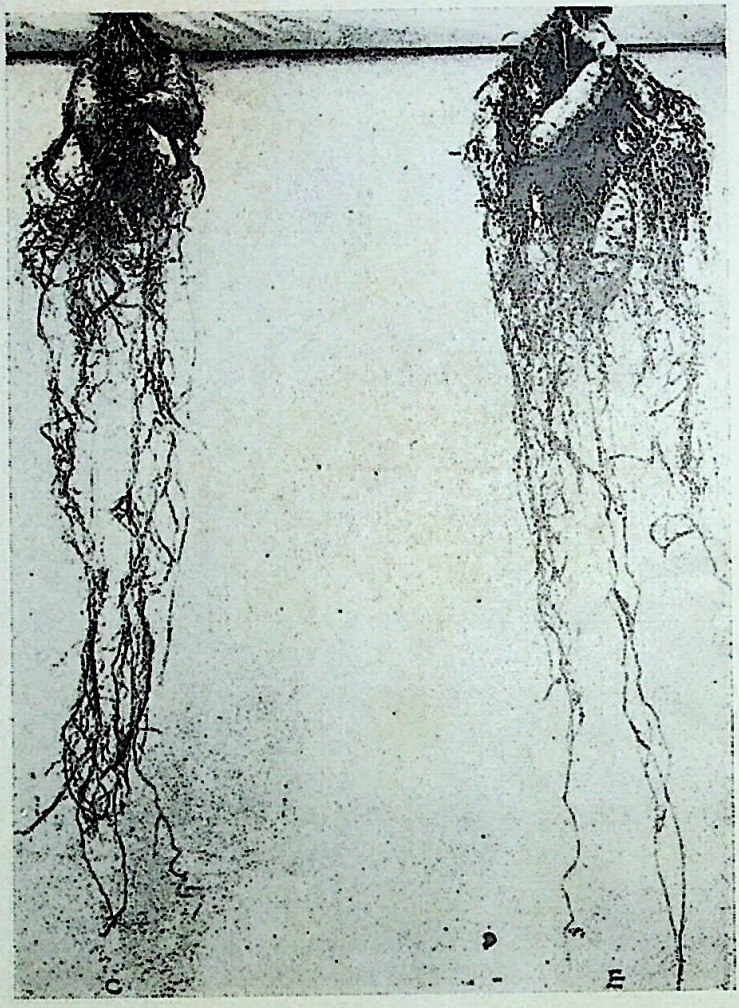

Left No. 2 Right

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

No. 5

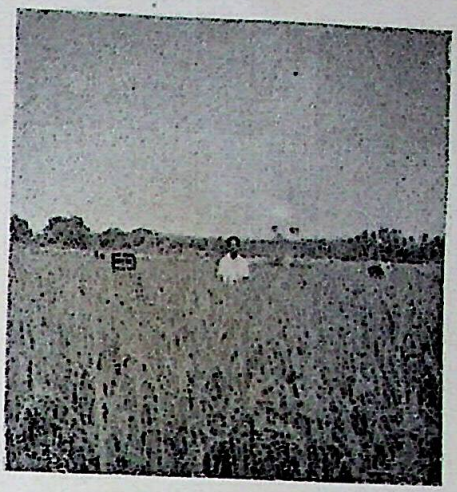

No. 6

No. 7

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

No, 8

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

The question which naturally bristles up is, as to how these changes are brought about ? This has now been amply answered and proved through the recent very careful and well planned experiments conducted in the Botanical Laboratory of the Annamalai School of Botany where it has even visually been demonstrated that the fundamental metabolic processes of plants in relation to transpiration and carbon-assimilation under the excitation of musical sound, are very much accelerated and become enhanced to over even 200% as compared to the control. The stimulated plants thus, therefore, are energised to synthesise greater quanta of food during a unit time, naturally leading to more vigorous growth, earlier maturity and greater yields than the control plants not excited by music.

———:o:———

EXPLANATION OF PHOTOGRAPHS

PHOTOGRAPH No. I: Shows the method of excitation by the original musical sound of violin. The potted plants under excitation have been justaposed round the source of excitation in a semi-circle.

PHOTOGRAPH No. II: Shows the comparative sizes of the tuber of the excited (right) and non-excited (left) sweet potato (*shakarkand*). Note the remarkably bigger size of the tubers on the right side.

PHOTOGRAPH No. III: Shows the comparative vigour and growth of gingelly (*til*) plants. C_1 = the control plant not excited by music; E_1 = the experimental plant dosed with music showing more vigorous growth and profuse branching.

PHOTOGRAPH No. IV: Showing the method of excitation of Paddy crop under field condition with the aid of loud speaker.

PHOTOGRAPH No. V: Showing paddy crop (Variety Co–19) without the excitation of music. Note the height of the crop in comparison to the man standing in the field.

PHOTOGRAPH No. VI: Showing paddy crop of the same variety (Co–19) grown under the excitation of *Charukesi raga*. Compare the height of the crop with that of the control in Photograph No. V.

PHOTOGRAPH No. VII: One of the various poses while executing the *Bharat-Natyam* dance for exciting potted plants, Note the movement of the feet, ankles being free of trinkets. A few of the experimental pots have been removed from the fore-ground to show the movement of the feet.

PHOTOGRAPH No. VIII: Showing the effect of sound-percussion of the *Bharat Natyam* dance on the plants of Michaelmas Daisy. Note the superior growth performance and earliness of flowering of the experimental plant on the right side marked with a white cross; and compare it with the control plant on the left marked with three white dots.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कलाक्षेत्र में सत्य

महागुजरात के कलागुरु पं० रविशंकर म० रावल

कलाक्षेत्र में सत्य का व्यापक अर्थ ऐसा हो सकता है कि प्रकृति के किसी भी स्वरूप का यथावत् परिचय यानी उसका ऐसा प्रामाणिक निरूपण या आलेखन हमें देखने को मिले कि जिससे हम ऐसा समझें कि सत्य का दर्शन हुआ।

किन्तु यह समझ लेना चाहिए कि सत्यदर्शन का अर्थ प्रकृति का अनुकरण-मात्र नहीं है। नक़ल या अनुकरण में पदार्थ का बाहरी साम्य दिखाया जा सकता है, किन्तु सत्यदर्शन में तो पदार्थ के गुण अथवा उसकी प्रकृति के भाव, पदार्थ का परिचय तथा अन्तर्गत विचार—इन सभी का समावेश होता है।

सत्यदर्शन के लिए प्रतीतिजनक आलेखन की प्रथम आवश्यकता है। तदुपरान्त पदार्थ या वस्तु या पात्र के विषय में उद्भूत होने वाली भावना की आवश्यकता है। जैसे कि, पदार्थ चिकना, खुरदरा, कठोर या मृदु है, इसका भी भान या बोध होना चाहिए और फिर उसमें से स्फुरित होने वाली विचारसृष्टि और तरंगें भी जागृत होनी चाहिए।

पाषाण का भोंडापन अथवा धारदार होना जैसे जाना जाए, वैसे ही पृथ्वी के सृजन में वह कहाँ और किस प्रकार रखा गया है, यह भी स्वाभाविक लगना चाहिए। वृक्ष हो तो जलवायु और भौगोलिक स्थिति में उचित स्थान पर होना चाहिए। उदाहरण के लिए एक चित्रकार ने एक बड़े वटवृक्ष के नीचे खड़ी हुई सुन्दरी के पास सूर्यमुखी का पौधा चित्रित किया था। आलेखन शुद्ध और सुरेख था, किन्तु सूर्यमुखी का पौधा वृक्ष की छाया में जो चित्रित किया गया, वह चित्रकार का असत्य था। उसने चित्रकला में कर-कौशल प्राप्त किया था, किन्तु सत्य समझने की दृष्टि नहीं पाई थी।

इसी प्रकार जब शिव, विष्णु, बुद्ध वग़ैरह देव-स्वरूपों के चित्र कोई ऐसे लोग चित्रित करते हैं, जिन्हें उनके प्रति भक्ति या श्रद्धा नहीं होती, तब उनमें चाहे जितनी कार्य-कुशलता हो, किन्तु फिर भी तत्त्व का दर्शन नहीं होता। इस प्रकार भी कला में सत्य का लोप होता हुआ प्रतीत होता है।

साक्षात्कार या तन्मयता के बिना सत्य प्रतीत नहीं होता। कलाक्षेत्र में आत्मप्रतीति और स्वानुभवजन्य कृति में ही सत्य देखने को मिलता है। इसलिए कलाकृति द्वारा प्रकट होने वाली विचार-सृष्टि का महत्त्व हज़ार दर्जे श्रेष्ठ है।

अनुकरण-क्रिया पदार्थ के बाह्य स्वरूप का ही अंकन करती है, किन्तु कला का व्यापक धर्म तो सौंदर्यपूर्ण सत्य की प्रतीति है।

ऐसा सत्य बहुत बार पदार्थ के पूर्ण स्वरूप या आलेखन पर आधार नहीं रखता, किन्तु प्रेक्षक को समझ में आ जाएं अथवा उसे विशुद्ध सौन्दर्यपूर्ण संकेत दे सकें, ऐसे प्रतीकों अथवा चिह्नों का वह उपयोग कर लेता है। इसमें कोई 'प्रतिमा' या वस्तु का हूबहूपन नहीं होता। चित्र में बहुत बार मूल वस्तु के साथ साम्य न होने पर भी उसके आकारों और रंगों के प्रभाव से देखने वाले के मन में अपेक्षित भाव और विक्षोभ उपजाए जा सकते हैं; और जो विचार की प्रेरणा या दर्शन दे सके वह अविकृत सत्य स्वरूपवाली कला गिनी जाती है।

अनुकरणशील कला में पदार्थ का तद्वत् बोध होता है, किन्तु वह आंख को ही संतुष्ट कर सकता है, यद्यपि आलेखन में भी सत्य और ऊपरी सतह ऐसे दो प्रकार होते हैं। बहुत से चित्रकार जो चित्र बनाते हैं, उन में रेखा सुस्पष्ट

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

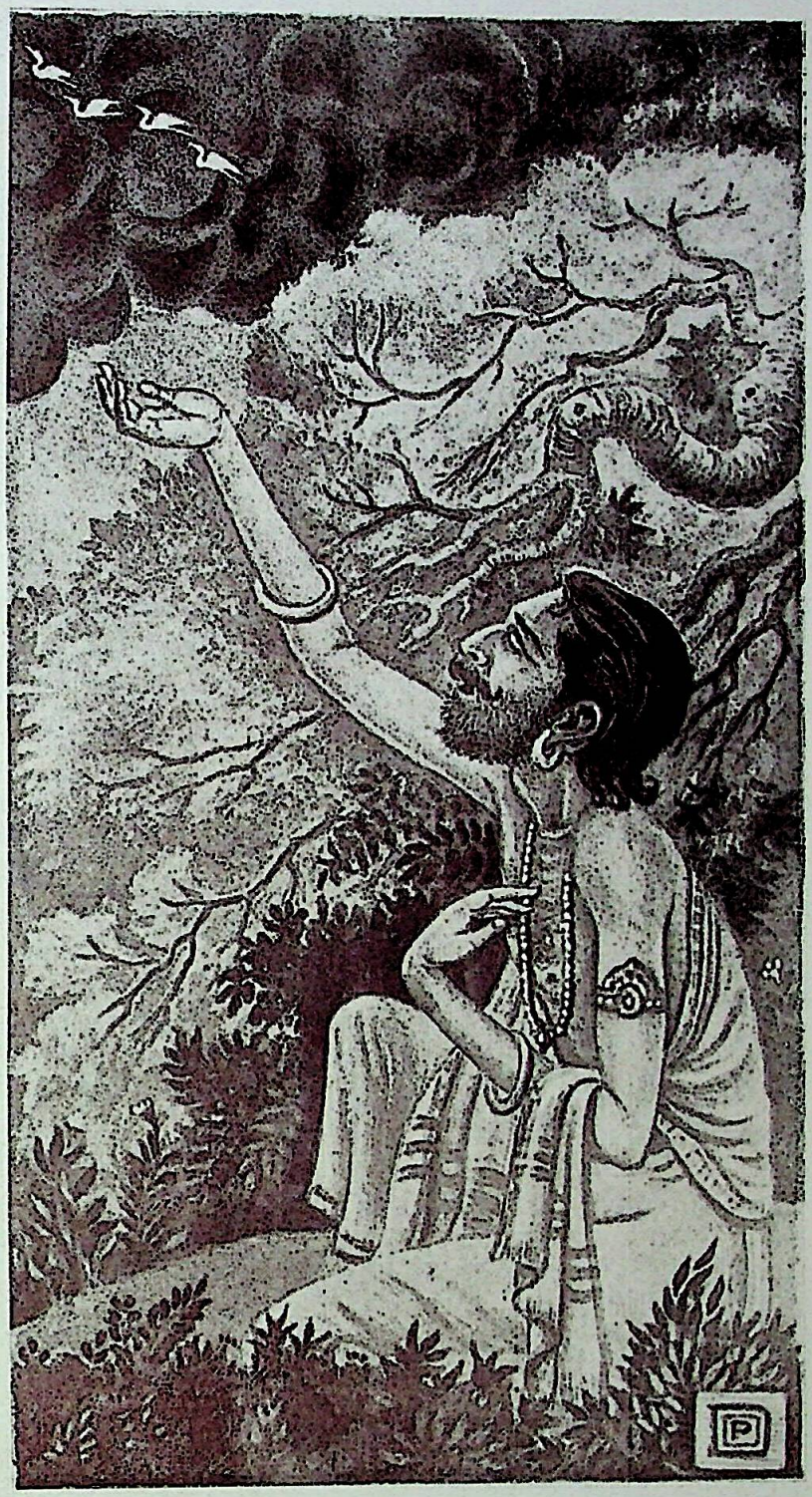

मेघदूत श्री दुर्गाप्रसाद पटनायक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रतीक्षा —श्री विजयबहादुर थापा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और स्वच्छ होती हैं, किन्तु फिर भी उन में पदार्थ के गुण–धर्म, आवेग, संवेग, और प्रतीतिजनक व्यवहार दिखाई नहीं देते। प्राचीन चित्रसूत्रों में जैसा कहा गया है तदनुसार वायु की गति, धूम्र का लहराना, पानी की तरंग, मृत-जीवित के भेद, अग्निज्वाला इत्यादि को जो ठीक से दिखा सके, वही चित्रविद् गिना जाता है। बहुत से लोग मानते हैं कि सत्य के प्रभाव की अपेक्षा 'प्रत्यक्षता' को अधिक श्रेष्ठ गिनना चाहिए। किन्तु दृष्टि के मार्ग में आने वाले सभी आकारों और आकृतियों को पूर्ण यथार्थ रूप से और सूक्ष्मता से याद रखना या उनका संग्रह करना प्रत्येक मनुष्य की शक्ति के बाहर की बात है। इसलिए वह अधिकतर वस्तु के मुख्य सत्यों को ही पकड़ लेता है। नृत्यकार मोर का नृत्य करने के लिए मोर का स्वरूप धारण नहीं करता, किन्तु उसके अंगों के 'हलन-चलन' को प्रत्यक्ष करता है। उसी प्रकार चित्रकार अपनी रेखाओं की अनेक लीलाओं में वस्तु के विविध स्वरूप चित्रित करता है और उन के द्वारा सत्य को ही प्रकट करता है।

अतएव कला की साधना में सत्यदर्शन अथवा वस्तु का तत्त्वदर्शन आवश्यक 'पाया' अथवा आधार है। केवल अनुकरण अथवा नक़ल व्यर्थ और विनाशकारी होती है। किन्तु कला के सत्य को पाने के लिए अन्तर्ज्ञान की अपेक्षा रहती है। हमारी दृष्टि की इन्द्रियशक्ति और बुद्धि की भावगम्यता पर सत्य की सृष्टि का आधार है। प्रयत्नपूर्वक अभ्यास से ये साधन हमें तीव्र संवेदनशील बना सकते हैं। प्रेम, सद्विवेकपूर्ण निर्णय, सन्निष्ठा, संकल्पशक्ति वग़ैरह की प्राप्ति हम में अनुभूति का उदय करा सकती है।

रूप के दृश्य सत्यों के लिए सघनता, आकृति-विधान, स्थिति, गति अथवा अंग-उपांगों की स्पष्टता आवश्यक होती है। साथ ही हमारी इन्द्रियाँ तथा मन जब पदार्थों के गुण–धर्म और विचारों के प्रभाव उपजाने की शक्ति से प्रेक्षक पर ऐसी छाप डाल सकें जिस का उसे पहले कभी अनुभव न हुआ हो, तब कला में निहित सत्य प्रतीत होता है। जितने अंश में कलाकृति द्वारा यह संक्रमण-कार्य सफल होता है, उतने अंश में चित्रकार की सत्य के लिए सन्निष्ठा स्थापित होती है।

(मूल गुजराती लेख से हिन्दी अनुवाद डॉ० प्रेमलता शर्मा द्वारा)

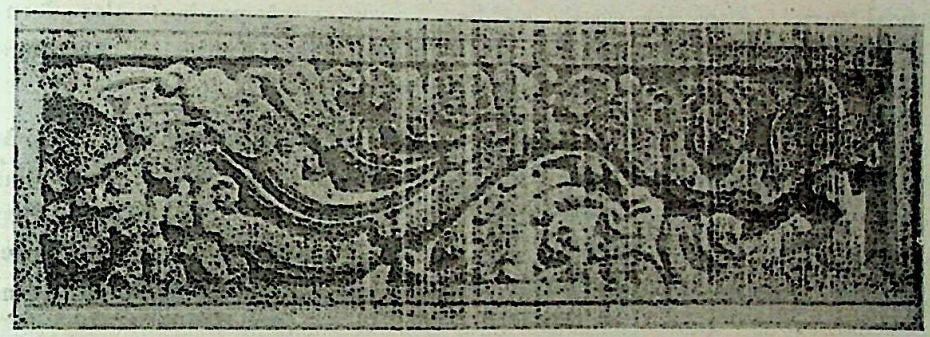

श्री जगरनाथ मिस्त्री द्वारा प्रस्तर पर उत्कीर्ण

देवर्षिक्षितिपालपूर्वचरितान्यालोक्य धर्मादयस्तद्भावाश्रितभूमिकाभिनयने स्यादर्थसिद्धिः परा।
सङ्गीताहृतचित्तवृत्तितरला वश्या भवन्त्यङ्गना ज्ञानं शङ्करसेवयेति कथितं नाट्यं चतुर्वर्गदम्॥

(सङ्गीतदामोदर तृतीय स्तवक)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

TANSEN'S DESCENDANTS IN VĀRĀṆASĪ

By

Birendra Kishore Roy Choudhury.

Vārāṇasī is the holiest of all holy cities of India. It is regarded as the abode of the "Mahādeva" the great lord of the universe who is also the world teacher or the "Jagadguru". Śāstra's say that all divine and mundane knowledge emanated from "Mahādeva". As the teacher of all beings he imparted the divine knowledge and other learnings including the "Gāndharva Vidyā" the musical art to the various gods and goddesses, the celestial beings and the "Ṛṣis". With this tradition glowing throughout the ancient period and the middle ages, Vārāṇasī has always been a great centre of spiritual culture, learnings and arts. It has also been a centre of the highest type of classical musical culture. Most of the historians say that Mian Tansen, whose name was Rāmatanu in his early days was born and brought up in Varāṇasī. His father Makaranda Pāṇḍe was a Kathak Brāhmin who used to sing mythological songs in the temples of Vārāṇasī. Ramtanu Pande his only son was initiated in Gāndharva Vidyā or classical music by Swāmī Haridāsa of Vrindābana and later on got initiation in the Sufi cult from Hazarat Md. Ghous of Gowalior. Rāmatanu was named as Mian Tansen by the Emperor Akbar when he was acclaimed as the greatest musician of India and the authority of Dhruvapada and was posted in the Delhi Darbar as his musical 'guru'. After the death of Mian Tansen, his descendants also adorned the court of Delhi for a long period. But from the days of Mian Tansen all the musicians of his line paid regular visits to Vārāṇasī as their original home.

During the end of the eighteenth century gradual disintegration of the Moghul Empire was taking place. At that period Tansen's descendants were divided into three gharānās of musicians. The gharānā founded by his eldest son Surat Sen, took its final abode at Jaipur. The musicians of these gharānās used to sing in Dhruvapada style and play instrumental music on the Sitar. The illustrious gharānās formed by Tānsen's youngest son Bilās Khan and son-in-law Misri Singhji were in close connection with each other all along. The descendants of Bilas Khan were specialists in the Dhruvapadas of "Śuddha Bānī" and in the instrumental music of "Rabab". The descendants of Misri Singhji were regarded as the authorities in the instrumental music of "Veena" and they use to sing Dhruvapadas in the "Dagor Bani" and "Khander Bani". During the later part of the eighteenth century Jaffor Khan, Peyar Khan, and Basat Khan were three brothers of great reputation, representing the gharānā of Bilas Khan. They used to play on the 'Rabāb" and sing Dhruvapadas. On the other hand

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Nirmul Shah was a great Vīṇā Player representing the line of Misri Singhji. All these musicians representing the two gharānās made Varāṇasī their home as they left Delhi during their early years. Their houses were situated in the Kabir Choura Mahallā of Varāṇasī. They were attached with the court of Lucknow and used to pass most of their time at Lucknow. But during the Puja holidays, they always used to re-assemble in their home at Vārāṇasī. They had also connections with the darbār of the Kashi Raj and whenever called by the Rājā, they used to give demonstrations of their music in the darbār of the Rājā, who gave them lands free of taxes. Jaffar Khan was a great instrumentalist in "Rabāb". This instrument had its lower part covered by the skin parchment and string used in it were made of the "Guts"; its display had no parallel in the "Jod" style and Tar-Paran, but in the "Vilambita Ālāp" and "Jhālā" this instrument of Vīṇā was unrivalled. Although closely related, Jaffar Khan had to compete with Nirmul Shah in the demonstrations of instrumental music in the courts of Lucknow and Kāśī. In order to equal the charms of the Vīṇā which was displayed with great skill and sweetness by Nirmul Shah, Jaffar Khan invented the instrument of Surśṛṅgāra, in which the lower part was made of hollow wood and steel plates were set in the upper part and the strings used were of steel and brass. It was in Vārānasi that Jaffar Khan first made his Surasringar and gave his first demonstration of this instrument in the court of Raja Udit Narayan Singh of Kashi. His display was ve y highly appreciated by the Raja and also by Nirmul Shah the Beenkar.

After the invention of Surasringar by Jaffar Khan, Peyar Khan his next brother specialised in this instrument and added some fascinating ornamentations in the style of its display. After the death of Nirmul Shah, Omrao Khan, his nephew took up the position of the greatest Vīṇāplayer of his time It was he who invented the instrument "Surbahār" and taught Golam Mohammad Khan its mode of display. Vārāṇasī saw many friendly Duels of instrumental music between Peyar Khan and Omrao Khan in Surasringar and Vīṇā. The next brother of Peyar Khan, Basat Khan was a great Vocalist in Dhruvapada and also a great Rababi. He learnt Sanskrit from the Pandits of Vārāṇasī and later on obtained the tittle of "Sangīta Nāyak" in the Sabhā of Raja Hara Kumar Tagore at Calcutta. After the Sepoy Mutiny, the Lucknow Darbar was dissolved. Basat Khan, with his two illustrious sons Ali Md. Khan, the Surasringar Player and Md. Ali Khan the Vocalist and Rababī settled finally at Gaya. But Sadak Ali Khan the son of Jaffar Khan and his brother Misar Ali Khan became attached to the court of the Raja of Vārāṇasī. Sadek Ali Khan was a great musicologist and excelled in Rabab. He could play Vīṇā also very efficiently. He also was intimately associated with the Sanskrit Scholars of Vārāṇasī and was an erudite Scholar in the Sanskrit and Persian languages. The Raja had a great respect for him. It is said that Sadek Ali Khan had no equal in the improvisations of "Laḍī-Joḍ" and "Laḍ-Guthāo". In the Tār-

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

paran he could beat any mṛdaṅga player. He lived like a saint and had a religious temperament. He could not tolerate the music of lighter moods. He taught Rabab only to his younger brothers. But he had many disciples of Dhruvapada and in the instrumental music of Vīṇa and Sitar. The most outstanding of them was the Sitaria Bajpayeji; Mahesh Chandra Sarkar and Methailallji were his disciples in Vīṇā. Sri Ram Krishna Paramahaṅsadev, when he went to Varanasi on pilgrimage listened to the Vīṇā of Mahesh Sarkar and was absorbed in "Samādhi".

After the death of Sadek Alikhan, Ali Md. Khan the eldest son of Sangeet Nayak Basat Khan was appointed by the Rājā of Vārāṇasī as the chief musician of his court. At that time he lost his father at Gaya and he came to settle at Vārāṇasī. His residence was in Ram Nagar, where the palace of the Raja was situated. All Md. Khan was a very liberal minded musician and used to play on his Surasringar before his disciples without any reservation. He had profound knowledge of Rāgas and could develop any Rāga for hours without any repetitions of the Tānas. He trained up (Pannalal Jain, Arjundas Vaidya a practitioner in the Ayurvedic Medicines) and Gaya Prasad Misra in Surasringar. Syed Mir Nasir Khan of Jalandhar was his most accomplished disciple in Surasringar. He also imparted lessons on the Vocal music of Dhruvapada and instrumental music on Vīṇā and Surasringar to the great Vīṇā Player Wazir Khan Saheb of Rampur, who during his early youth visited Varanasi frequently to meet Ali Md. Khan, who was related to him closely. Ali Md. taught the famous Bengali musician Late Hari Narayan Mukherjee many Dhruvapadas and Sargam's. Another Bengali gentleman of aristocratic family received kind attention from the great Ostad. He was the Late Taraprosad Ghosh, who was wellknown in Calcutta for his charities towards the musicians. Taraprosad learnt many songs from Ali Md. Khan. Md. Ali Khan the younger brother of Ali Md. who used to stay at Gaya frequently visited his elder brother for lessons on Rabab. Both these brothers outshone all other famous musicians of that period who used to visit Vārāṇasī. After the death of Ali Md. the great vacuum in the sphere of classical music of Varanasi could not be filled up. The remaining few musicians of Tansen's tradition were settled in the states of Rampur and Jaipur. It is a great pity that, with the disappearence of the descendants of Tansen, the culture of Dhruvapada music and Vīṇā gradually disappeared from Vārāṇasī. The last of the Dhrupadias was the Late Hari Narayan Mukherjee and of the Vīṇā Players was the Late Mithailallji.

Vārāṇasī even now is a centre of all traditional culture. There are the multifarious institutions to continue the studies of various subjects of ancient Indian Culture. We do hope that in Vārāṇasī the culture of the classical Dhruvapada music and the classical instrumental music of Vīṇā and Rabab would not remain neglected for ever.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भरतोक्त श्रुत्यन्तर

महेश नारायण सक्सेना

भरत की बाईस श्रुतियों के परिमाण क्या थे, इस सम्बन्ध में भातखंडे जी के समय में भी यथेष्ट चर्चा थी, और इधर कुछ वर्षों से यह चर्चा और ज़ोरों से चली है। मेरी दृष्टि में यह विषय महत्त्वपूर्ण है और जिन विद्वानों ने इसका अध्ययन और वर्णन किया है, वे प्रशंसा के पात्र हैं। मैं उन व्यक्तियों से सहमत नहीं हूँ जो यह कहते हैं कि वर्तमान संगीत का भिन्न रूप होने के कारण प्राचीन काल के भरतोक्त ग्राम तथा उसके स्वर-स्थानों का पता चलाना निरर्थक है। प्राचीन भारतीय संगीत का जितना भी ज्ञान अथवा परिचय मिल सके, उसके लिए अवश्य प्रयत्न होना चाहिए। इससे न केवल हमें ऐतिहासिक सामग्री के संकलन का संतोष होता है, वरन् अनेक प्राचीन सामग्री संगीत के वर्तमान अध्ययन एवं विकास में भी सहायक सिद्ध होती है। इसके अतिरिक्त जिन विषयों पर एक से अधिक मत हैं, उन पर अधिक विचार, अन्वेषण आदि के द्वारा एक निश्चित व सर्वमान्य मत पर पहुँचने का प्रयत्न मानव-मस्तिष्क के लिए स्वाभाविक भी है और आवश्यक भी। भरतोक्त षड्जग्राम के श्रुत्यन्तरों का क्या परिमाण था, इस सम्बन्ध में नाट्यशास्त्र में शत प्रतिशत स्पष्ट रूप में उल्लेख नहीं मिलता। अतः नाट्यशास्त्र में वर्णित चतुः सारणाओं और षड्ज-पंचम एवं षड्ज-मध्यम स्वर-संवादों की ही मुख्य रूप से तथा कुछ अन्य कथनों की गौण रूप से सहायता लेकर विभिन्न विद्वानों ने भरत की श्रुतियों के परिमाण निश्चित किए हैं। इन विद्वानों को मैं दो दलों में रखता हूँ। एक दल वह है जो भरत के ग्राम में केवल एक श्रुत्यन्तर स्वीकार करता है, अर्थात् उसके मत में बाईसों श्रुत्यन्तर समान हैं और वही प्रमाण-श्रुति है, जिसका मूल्य २ का २२ वाँ मूल ($२२\sqrt{२}$) है। इस दल में पूज्य भातखंडे जी और श्री विष्णु वासुदेव फड़के प्रभृति विद्वान् आते हैं। दूसरा दल वह है जो भरत की बाईसों श्रुतियाँ समान नहीं मानता वरन् तीन प्रकार के श्रुत्यन्तर स्वीकार करता है, जिनमें से एक श्रुत्यन्तर का नाम प्रमाण-श्रुति है। इस दल के अन्तर्गत अनेक विद्वान हैं जिनमें से वे विद्वान् जिनकी कृतियाँ मैंने पढ़ी हैं निम्नलिखित हैं;—प्रोफ़ेसर वी. जी. परांजपे, श्री कृष्णराव गणेश मुले, प्रो० ललित किशोर सिंह, पंडित ओम्कार नाथ ठाकुर और आचार्य बृहस्पति।

दस वर्ष पूर्व मैं भातखंडे जी के मत को मानता था क्योंकि उनके इस तर्क का खंडन मुझे नहीं मिला था कि 'भरतोक्त सारणा-चतुष्टयी नामक प्रक्रिया तभी संभव है जब कि सब श्रुत्यन्तर समान हों।' आज मेरा निश्चित मत है कि भरतोक्त श्रुत्यन्तर समान नहीं थे वरन् तीन प्रकार के थे। अतः मैं अब दूसरे दल के मत के पक्ष में हूँ; किन्तु इनमें से कुछ के मत के कुछ अंशों से मेरा विरोध है। इस विरोध को मैं यहाँ स्पष्ट करूँगा। किन्तु उससे पूर्व मैं यह बता दूँ कि भातखंडे जी का भरत की बाईसों श्रुतियाँ समान मानना क्यों ग़लत है।

श्री भातखंडे कृत क्रमिक पुस्तक मालिका के पंचम भाग के प्रारंभ में दिए गए शास्त्र में "प्राचीन संगीत" शीर्षक के अन्तर्गत यह लिखा है कि सारणा-चतुष्टय प्रयोग यह सिद्ध करता है कि श्रुतियाँ एक नियत प्रमाण की थीं और समान थीं। उसी अनुच्छेद के अन्त में भातखंडे जी ने मैरिस कॉलेज लखनऊ से प्रकाशित पत्रिका 'संगीत" (त्रैमासिक अंक १ वर्ष २ सितम्बर १९३३) के एक लेख का उल्लेख किया है। यह लेख स्वर्गीय श्री विष्णु वासुदेव फड़के ने "बाईस श्रुतियों का प्राचीन हिन्दू ग्राम" शीर्षक से लिखा था। भातखंडे जी उनके तर्कों से प्रभावित थे। फड़के जी ने भी सारणा-चतुष्टय द्वारा सिद्ध किया है कि भरत की सब श्रुतियाँ समान थीं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"सारणाचतुष्टय' का वर्णन करना इस लघु-लेख में संभव नहीं। अतः जो पाठक चाहें वे निम्नलिखित स्थानों से उसका परिचय प्राप्त कर लें, अन्यथा विद्वत् जन तो आज उससे यथेष्ट परिचित हैं ही ;—

(१) त्रैमासिक पत्रिका "संगीत" (वर्ष २ संख्या १)—सितम्बर १९३३—श्री फड़के का लेख-पृष्ठ ११ से १८ तक।

(२) "ध्वनि और संगीत"—पुस्तक-लेखक, श्री ललितकिशोर सिंह-प्रकाशक, भारतीय ज्ञानपीठ काशी। —पृष्ठ १६९।

(३) "प्रणव-भारती"—लेखक-पं० ओम्कारनाथ ठाकुर—पृष्ठ ७५।

(४) "भरत का संगीत सिद्धान्त"—लेखक-आचार्य बृहस्पति—पृष्ठ १७-२४।

भातखंडेजी तथा श्री फड़के जी का तर्क यह है कि भरतोक्त चतुःसारणाओं के अन्तर्गत द्वितीय सारणा के अन्त में चलवीणा के गांधार और निषाद का अचल-वीणा के ऋषभ और धैवत स्वरों से मिल जाना, तृतीय सारणा के अन्त में चल-वीणा के ऋषभ और धैवत का अचल-वीणा के षड्ज और पंचम से मिल जाना, और चतुर्थ सारणा के अन्त में चल वीणा के षड्ज, मध्यम और पंचम का अचल वीणा के निषाद गांधार और मध्यम स्वरों से मिल जाना—तभी संभव है जब कि बाईसों श्रुत्यन्तर समान हों। किन्तु अब यह सिद्ध हो चुका है कि तीन प्रकार के श्रुत्यन्तर मान कर भी चतुःसारणाओं का प्रयोग ठीक बैठता है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है ;—

प्रत्येक सारणा में प्रत्येक स्वर एक-एक श्रुति नीचे उतरता है, इसलिए द्वितीय सारणा के बाद प्रत्येक स्वर दो-दो श्रुतियाँ उतरेगा और चूंकि गांधार और निषाद क्रमशः ऋषभ और धैवत से दो-दो श्रुतियाँ ऊँचे हैं, इसलिए द्वितीय सारणा के बाद गांधार, ऋषभ के स्थान पर पहुँच जायगा और निषाद धैवत के स्थान पर। अब यदि पहले और दूसरे श्रुति-उतार भिन्न हैं और उनके परिमाण क्रमशः 'ग' और 'ख' हैं, तो भी गांधार स्वर ऋषभ तक उतरेगा और निषाद धैवत तक, क्योंकि दोनों पहली सारणा में 'ग' परिमाण में उतरेंगे और दूसरी सारणा में 'ख' परिमाण में उतरेंगे। गान्धार और नि-ध के द्विश्रुत्यन्तर दोनों 'ग' और 'ख' परिमाणों के योग के बराबर होंगे (यदि परिमाण बेंड अथवा सेंटर में नापे जायं) अथवा वे दोनों 'ग' और 'ख' के गुणनफल के बराबर होंगे, यदि परिमाण कम्पन-संख्याओं के गुणान्तरों में नापे जायं। हम गुणान्तरों का ही परिमाण मान कर आगे चलेंगे। तृतीय सारणा में प्रत्येक स्वर तीन-तीन श्रुतियाँ उतरेगा और यदि तीसरा उतार हम 'क' मानें जो 'ग' और 'ख' से भिन्न हो, तब भी तीन तीन श्रुतियोंवाले स्वर ऋषभ और धैवत क्रमशः उतर कर षड्ज और पंचम के स्थान पर आ जायेंगे, क्योंकि दोनों के कुल उतार ग × ख × क होंगे अर्थात् समान होंगे।

इसी प्रकार चतुर्थ सारणा में प्रत्येक स्वर एक-एक श्रुति और उतरेगा और इसलिए चार श्रुतियों वाले स्वर षड्ज मध्यम और पंचम, क्रमशः निषाद, गांधार और मध्यम के स्थान पर आ जायेंगे। यह चौथा उतार परिमाण में पहले उतार के बराबर अर्थात् 'ग' होगा, जैसा कि आगे बतायेंगे। चतुःश्रुत्यन्तर वाले स्वरान्तरों सा-नी, म-ग और प-म का परिमाण होगा ग × ख × क × ग। यहाँ तो हमें केवल यह सिद्ध करना था, कि तीन भिन्न श्रुत्यन्तरों को मानकर भी भरत की सारणा-चतुष्टयी ठीक बैठती है, और यह सिद्ध हो गया। अतः श्री फड़के और श्री भातखंडे का तर्क ग़लत है। पहले उतार का श्रुत्यन्तर "ग" ही भरत की प्रमाण-श्रुति थी। अन्य दो श्रुत्यन्तर 'ख' और 'क' भी 'ग' के बराबर थे, ऐसा उल्लेख स्वयं भरत ने नहीं किया है। अब यदि कोई यह कहे कि सब श्रुतियाँ समान मानकर भी तो सारणाचतुष्टयी बन जाती है, तो मेरा यही नम्र निवेदन है कि जब थोड़ा अनुमान ही लगाना है तो ऐसा अनुमान क्यों लगाया जाय जिससे प्राचीनकाल के इतने प्रसिद्ध संगीत के जानकार भरत के षड्जग्राम और उसके स्वर निकम्मे और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बेसुरे सिद्ध हो जायं। आज साधारण विद्यार्थी भी जानते हैं कि सप्तक में बाईस समान श्रुतियाँ मानने से प्रत्येक श्रुत्यन्तर २ का २२वां मूल, (२२ √ २) अर्थात् लगभग १·०३२००८२८ आता है और फलस्वरूप प्रत्येक श्रुति व स्वर मधुर संवाद-विहीन अर्थात् बेसुरा होगा। फिर भरत तो षड्ज–पंचम और षड्ज–मध्यम संवादों का बहुत महत्त्व मानते थे और यह भी आज विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि षड्ज–पंचम संवाद में $\frac{३}{२}$ का गुणान्तर और षड्ज–मध्यम संवाद में $\frac{४}{३}$ का गुणान्तर होना चाहिए। इस हिसाब से यदि षड्ज की कम्पन-संख्या २४० मानें तो पंचम की कम्पन संख्या $२४० \times \frac{३}{२} = ३६०$ होगी और मध्यम की ३२० होगी। श्री भातखंडे जी के अनुसार भरत का पंचम लगभग ३६१·४८६९ और मध्यम लगभग ३१८·६८३७ निकलता है। ये दोनों स्वर निश्चित रूप से आदर्श पंचम व मध्यम से दूर हैं और मधुर स्वर-संवाद विहीन अर्थात् बेसुरे हैं। इसी प्रकार २२ श्रुतियाँ बराबर मानने पर प्रत्येक श्रुति और स्वर बेसुरा हो जाता है। हमारा प्राचीन संगीत कितना विकसित और पूर्ण था, यह सब मानते हैं। भौतिक विज्ञान द्वारा स्थापित आज के सिद्धान्त भरत के प्राचीन संगीत में व्यवहार के रूप में पहले से ही मान्य थे, क्योंकि वीणा अथवा आधुनिक सितार आदि तंत्र-वाद्यों में सा–प, सा–म आदि स्वर-संवादों में पूर्णरूप से प्रकृत सम्बन्धों का अनायास ही उपयोग हो जाता है। जब तक मध्यम, पंचम, षड्ज आदि के तार परस्पर आदर्श मधुर संवाद गुणान्तरों में नहीं मिल जाते हमें संतोष नहीं होता और बालभर बेसुरापन भारतीय संगीतज्ञों को बरदाश्त नहीं होता। इसीलिए तो हमने हार्मोनियम को स्वीकार नहीं किया। फिर यह कितना अन्याय है कि हम अपने प्राचीन स्वरों को आदर्श सुरीले स्वरों से दूर स्वीकार करें।

अतः भरतोक्त श्रुत्यन्तर समान नहीं थे, वरन् तीन प्रकार के थे, जिनमें से पहले उतार का श्रुत्यन्तर ही प्रमाण-श्रुति कहलाता था, जो षड्ज ग्राम तथा मध्यम ग्राम के पंचमों का अन्तर था। शेष दो श्रुत्यन्तर उससे भिन्न परिमाण में थे। चौथा उतार पहले उतार के बराबर अर्थात् प्रमाण-श्रुति था। अब प्रश्न यह उठेगा कि चौथा उतार क्यों पहले उतार के बराबर था और तीन प्रकार के श्रुत्यन्तरों के ठीक-ठीक परिमाण क्या थे।

इस सम्बन्ध में कई विद्वानों ने सुझाव दिए हैं और वे बहुत अंशों में तर्कसंगत हैं। मुझे सब से अधिक प्रो० ललित किशोर सिंह की प्रणाली जंची है, जिसका वर्णन उन्होंने अपनी पुस्तक "ध्वनि और संगीत" में पृष्ठ १७२–१७३ और पृष्ठ १७७–१७८ में किया है। पाठक कृपया उसे पढ़ लें। पण्डित ओम्कारनाथ ठाकुर ने भी प्रो० ललित किशोर सिंह के मत को मान्यता देकर अपनी विद्वत्ता और उदारता का परिचय दिया है*। उस वर्णन को यहाँ दुहराना संभव नहीं; वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि भरत तीन प्रकार के श्रुत्यन्तर मानते थे जो क्रमशः $\frac{८१}{८०}$ (कोमा), $\frac{२५६}{२४३}$ (लीमा) और $\frac{२५}{२४}$ (लघु अर्ध स्वर)—परिमाणों के थे। यह क्रम, सारणाओं में तारों के उतार का क्रम है। चौथी सारणा में जो उतार है वह प्रमाणश्रुति अर्थात् $\frac{८१}{८०}$ (कोमा) के परिमाण में ही है। इस प्रकार यदि हम चार श्रुतियों के पंचम को लें, जिसकी श्रुतियाँ १४, १५, १६ और १७ हैं, तो सारणा चतुष्टयी की प्रक्रिया में पहले चल-वीणा का पंचम १७ वीं से १६ वीं श्रुति पर उतारा जायगा

*सत्य के प्रत्येक अन्वेषक के समक्ष सत्य एक ही रूप में प्रकट होता है, इसलिए परमत-संग्रह या त्याग—किसी का भी प्रश्न नहीं उठता।—संपादक।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और यह उतार प्रमाण-श्रुति के बराबर अर्थात् $\frac{८१}{८०}$ परिमाण का होगा। फिर अन्य तार भी $\frac{८१}{८०}$ परिमाण में नीचे उतारे जायेंगे। यह प्रथम सारणा हुई। दूसरी सारणा में प्रत्येक स्वर $\frac{२५६}{२४३}$ परिमाण में उतारा जायेगा, तीसरी सारणा में प्रत्येक स्वर $\frac{२५}{२४}$ परिमाण में उतारा जायगा और चौथी सारणा में फिर उतार $\frac{८१}{८०}$ परिमाण में होगा। इसलिए द्विश्रुत्यन्तर-स्वर ग और नी क्रमशः रे और ध से $\frac{२५६}{२४३} \times \frac{८१}{८०} = \frac{१६}{१५}$ परिमाण में ऊंचे होंगे। त्रिश्रुत्यन्तर-स्वर 'रे' और 'ध' का स्वरान्तर 'स' और "प" से $\frac{२५}{२४} \times \frac{२५६}{२४३} \times \frac{८१}{८०} = \frac{१०}{९}$ होगा; और चतुःश्रुत्यन्तर-स्वर स, म व प क्रमशः नी, ग और म से $\frac{८१}{८०} \times \frac{२५}{२४} \times \frac{२५६}{२४३} \times \frac{८१}{८०} = \frac{९}{८}$ परिमाण में ऊंचे होंगे।

पंचम की श्रुतियों में १७ वीं और १६ वीं श्रुतियों का श्रुत्यन्तर "प = $\frac{८१}{८०}$" है; १६ वीं और १५ वीं का श्रुत्यन्तर "ख = $\frac{२५६}{२४३}$" है; १५ वीं और १४ वीं का श्रुत्यन्तर "क = $\frac{२५}{२४}$" है; और १४ वीं श्रुति १३ वीं से "ग = $\frac{८१}{८०}$" श्रुत्यन्तर ऊंची है। इसी प्रकार अन्य स्वरों के क्रमिक श्रुत्यन्तर निश्चित हो जाते हैं। ऊंचाई से निचाई की ओर गिनने से प-म के श्रुत्यन्तर क्रमशः ग-ख-क-ग होंगे जैसा अभी बताया जा चुका है और नीचे से ऊपर गिनने तो म-प के श्रुत्यन्तर ग-क-ख-ग के क्रम से होंगे। कुल स्वरान्तर दोनों ओर से $\frac{९}{८}$ ही होगा :—

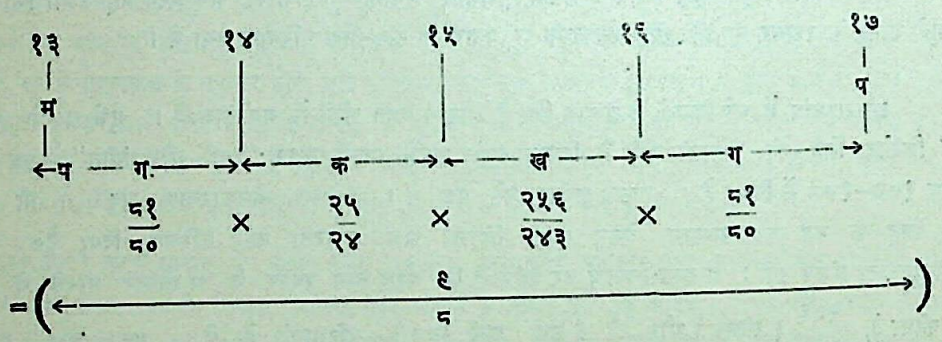

इसी प्रकार अन्य स्वरों के श्रुत्यन्तर समझे जा सकते हैं। मध्य षड्ज और तार षड्ज स्वरों की कुल ऊंचाई का अन्तर गुणान्तर में $\frac{२}{१}$ होता है, जो निश्चित है। इसलिए यदि प्रत्येक स्वर या श्रुति के गुणान्तरों को उन्हीं के क्रमानुसार एक दूसरे से गुणा किया जाय तो परिणाम में $\frac{२}{१}$ आयेगा :—सा से रे = $\frac{१०}{९}$; रे से ग = $\frac{१६}{१५}$; ग से म = $\frac{९}{८}$; म से प = $\frac{९}{८}$; प से ध = $\frac{१०}{९}$; ध से नी = $\frac{१६}{१५}$ और नी से सां = $\frac{९}{८}$ गुणान्तरों के हैं। इसलिए सबका परस्पर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गुणा करने से सा—सां = $\frac{१०}{९} \times \frac{१६}{१५} \times \frac{९}{८} \times \frac{९}{८} \times \frac{१०}{९} \times \frac{१६}{१५} \times \frac{९}{८} = \frac{२}{१}$ होगा। यदि बाईसों श्रुत्यन्तरों को क्रमानुसार इसी प्रकार गुणा किया जाय, तब भी फल = $\frac{२}{१}$ होगा, जो ग्राम के श्रुत्यन्तरों के परिमाण तथा उनके अनुक्रम को सही सिद्ध करता है।

इन्हीं परिणामों पर प्रो० परांजपे भी पहुँचे थे। प्रो० ललितकिशोर सिंह और प्रो० परांजपे प्रभृति विद्वानों ने भौतिक विज्ञान और गणित के नैसर्गिक सिद्धान्तों के बल पर भरतोक्त श्रुत्यन्तरों तथा उनके क्रम का जो परिचय दिया है, उसके लिए संगीत-जगत् सदा उनका आभारी रहेगा। इन परिणामों पर पहुँचने की विधि की जानकारी के लिए, पाठक 'ध्वनि और संगीत' के पूर्वोक्त पृष्ठ पढ़ें और साथ ही वे पं० ओम्कारनाथ ठाकुर कृत "प्रणव-भारती" के पृष्ठ ८१ से ८६ के बीच में उद्धृत प्रो० परांजपे तथा प्रो० ललितकिशोर सिंह के उद्धरण भी पढ़लें। प्रणव-भारती में प्रो० परांजपे के उद्धृत अंशों में तीन स्थानों पर छपाई की निम्नलिखित त्रुटियाँ ठीक कर के पढ़ेंगे:—

(केवल शुद्ध रूप ही नीचे दिए जाते हैं।)

(१) पृष्ठ ८२ की तीसरी पंक्ति इस प्रकार होगी:—

$\therefore$ म—ग = २०४ और ग = ४९८ — २०४ = २९४ सें०

(२) पृष्ठ ८२ की २२ वीं पंक्ति इस प्रकार होगी:—

पुनः क्ष = $य_१ + य_२ + य_३$

(३) पृष्ठ ८३ की २६ वीं पंक्ति इस प्रकार होगी;—

$\therefore$ $य_१ + य_३$ = ९२ सें०

भरतोक्त षड्जग्राम, उसके श्रुत्यन्तरों के परिमाणों तथा अनुक्रमों का न्याय-संगत और सफल अध्ययन तभी संभव है, जब हम निम्नलिखित तथ्यों को निष्पक्षता एवं उदारता के साथ ध्यान में रखें और उपयोग में लायें:—

(१) प्रस्तुत विषय का भरत-कृत नाट्य शास्त्र में पूर्ण और स्पष्ट वर्णन नहीं है।*

(२) किसी न किसी अंश में अनुमान आवश्यक होगा। यह अनुमान भरत के किसी कथन के प्रतिकूल नहीं होना चाहिए, और उस अनुमान के परिणाम भरत के ग्राम को व्यर्थ में ही निम्नकोटि का न बनादें। अनुमान का कोई नैसर्गिक या न्याय-संगत आधार अवश्य होना चाहिए।

(३) षड्ज-पंचम और षड्ज मध्यम संवादों का महत्व भरत ने भी स्वीकार किया था और आज तक सभी देशों के संगीतों में मान्य है। उसका महत्त्व भौतिक विज्ञान ने और भी स्पष्ट कर दिया है और षड्ज-पंचम तथा षड्ज-मध्यम के प्रकृत गुणान्तर $\frac{३}{२}$ होगा और $\frac{४}{३}$ हैं—इस वैज्ञानिक तथ्य को अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। जब भी तन्त्र-वाद्यों में षड्ज और पंचम के तार ठीक मिलेंगे, उनकी कंपन-संख्याओं का गुणान्तर $\frac{३}{२}$ होगा और इसी प्रकार स-म का गुणान्तर $\frac{४}{३}$ होगा। भरत भी इन्हीं गुणान्तरों वाले सा-प, सा-म का उपयोग करते होंगे, यह अनुमान प्रत्येक सुरीला व्यक्ति सहज ही

* भरतोक्त चतुःसारणा-प्रकरण अतिशय संक्षिप्त होते हुए भी श्रुतियों के मान और उन श्रुति-मानों के क्रम को किस प्रकार दो ग्रामों के आधार पर सरल और संवादसिद्ध प्रक्रिया द्वारा पूर्ण स्पष्ट करता है, इस के लिए पं० ओंकारनाथजी ठाकुर कृत संगीतांजलि पंचम भाग का पृ० ७५—७९, ९५—१०१ द्रष्टव्य है।—संपादक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लगायेगा। प्रो० ललितकिशोर सिंह ने विज्ञान के सिद्धान्तों से सहायता ले कर यही अनुमान लगाया और उसी से समस्त भरतोक्तर श्रुत्यन्तर निकाले, इसीलिए वे श्रुत्यन्तर सब से अधिक संभावी और समुचित हैं।

(४) एक ग्राम या सप्तक को २२ या २४ या १२ बराबर भागों में बाँटने पर प्रत्येक स्वर नैसर्गिक स्वरों से भिन्न अर्थात् बेसुरा हो जाता है, यह न केवल वैज्ञानिक सत्य है वरन् प्रत्येक देश के संगीत-ग्रामों के विकास से भी स्पष्ट होता है।

(५) मध्य षड्ज और तार षड्ज का गुणान्तर पूरा पूरा $\frac{२}{१}$ होता है—इसमें कोई भी मतभेद नहीं है। अतः सप्तक के जितने भी भाग हों, उनके गुणान्तरों का क्रमिक गुणनफल $\frac{२}{१}$ अवश्य आना चाहिए। यदि ऐसा नहीं होता, तो, या तो गुणान्तर ग़लत है और या वे ठीक हैं तो उनका क्रम ग़लत है।

(६) यह तथ्य अनुभव से और विज्ञान द्वारा भी सिद्ध है कि उन दो स्वरों का संवाद मधुर होता है जिनका गुणान्तर सरल संख्याओं से बना हो। यह तथ्य सापेक्ष रूप में उपयुक्त होता है। $\frac{२}{१}, \frac{३}{२}, \frac{४}{३}$ आदि $\frac{९}{८}, \frac{१०}{९}, \frac{१६}{१५}$ आदि की अपेक्षा अधिक सरल हैं। इसलिए उनके स्वर-संवाद भी अधिक मधुर हैं। उपर्युक्त संबन्धों में सब से कम माधुर्य $\frac{१६}{१५}$ में है। किन्तु $\frac{१६}{१५}$ का संवाद $\frac{१३५}{१२८}$ से अधिक अच्छा है।

इस स्थल पर मैं पाठकों से निवेदन करूँगा कि वे इस लेख के अन्त में दी हुई तालिकाओं का अवलोकन करें। तालिकाओं में संकेत और निष्कर्ष भी दे दिए गए हैं।

पहली तालिका में भातखंडे मत से निकले भरतोक्त ग्राम व श्रुत्यन्तर दिए गए हैं और सिद्ध किया गया है कि वह कितना दोषपूर्ण है। दूसरी तालिका में भरतोक्त ग्राम व श्रुत्यन्तरों का वह रूप दिया गया है, जिसे मैं अब तक प्राप्त रूपों में सर्वश्रेष्ठ मानता हूँ।

तीसरी तालिका में आचार्य बृहस्पति द्वारा निर्धारित भरतोक्त श्रुत्यन्तरों और उनके क्रमों का वैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है, जिससे यह सिद्ध होता है कि पूर्व के विद्वानों से सहमत होकर उन्होंने तीन प्रकार के श्रुत्यन्तर तो माने, पर उनके क्रमों में एक बहुत बड़ी त्रुटि कर गये, जिसके फलस्वरूप न केवल भरत का ग्राम बेसुरा सिद्ध हो गया, वरन् बृहस्पति जी के ग्रन्थ "भरत का संगीत सिद्धान्त" में वर्णित भरत की मूर्छनाओं आदि के प्रकरणों में भी परिमाणों आदि के दोष आ गए*। इस त्रुटि का कारण यही है कि बृहस्पति जी ने स्वर-शास्त्र विषयक गणित तथा विज्ञान द्वारा सिद्ध नैसर्गिक सिद्धान्तों की सहायता नहीं ली। इस सम्बन्ध में ठाकुर जयदेव सिंह का वह उल्लेख ध्यान देने योग्य है जो उन्होंने बृहस्पति जी के "भरत का संगीत सिद्धान्त" नामक ग्रंथ की "भूमिका" के पृष्ठ ९ में किया है :—"यदि किसी प्रयोगशाला में विज्ञान और

* श्रुति-मानों के क्रम में उक्त ग्रन्थ में जो स्खलन दृष्टिगोचर होता है तथा उस स्खलन के जो दूरव्यापी दुष्परिणाम हैं, उनकी ओर सभी सुधी पाठकों का ध्यान अवश्य हो गया होगा, ऐसा हम स्वानुभव से कह सकते हैं। प्रस्तुत लेख के लेखक ने परिश्रम और निर्भीकता से इस विषय की ओर संगीत जगत् का ध्यान दिलाने का जो प्रयास किया है, तन्निमित्त वे साधुवाद के पात्र हैं।—संपादक।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गणित के आधार पर इन श्रुतियों का विश्लेषण किया जाय, तो मैं समझता हूँ कि यह विवाद (भरत का श्रुति-सम्बन्धी मत) सदा के लिए समाप्त हो जायगा।"

बृहस्पति जी ने अपने ग्रंथ के पृष्ठ २५ और २६ में लिखा है कि सारणा-चतुष्टयी के अन्तर्गत पहला उतार (अर्थात् प्रमाण-श्रुति) 'ग' सबसे छोटे परिमाण का है, दूसरा उतार 'ख' उससे बड़ा है, और तीसरा उतार 'क' सबसे बड़ा है; अर्थात्-१७वीं श्रुति-१६वीं से 'ग' परिमाण में ऊंची है, १६वीं श्रुति १५वीं से 'ख' परिमाण में ऊंची है, और १५वीं श्रुति १४वीं से 'क' परिमाण में ऊंची है, और चूंकि चौथा उतार फिर 'ग' के बराबर है, इसलिए १४वीं श्रुति १३वीं श्रुति से 'ग' परिमाण में ऊंची है—और ये परिमाण परस्पर इस अनुपात में हैं :—क > ख > ग, यहीं ग़लती हुई है। मेरा निश्चित मत यही है कि पहला उतार 'ग' सबसे छोटा होगा, दूसरा उतार 'ख' सबसे बड़ा होगा और तीसरा उतार 'क' बीच का होगा अर्थात् परिमाण परस्पर इस अनुपात में होंगे :—ख > क > ग, चौथा उतार 'ग' होगा। यही मत प्रो० पराजपे, प्रो० ललित किशोर सिंह और पं० ओमकार नाथ ठाकुर का भी है। मेरे और इनके अनुसार $\left(ख = \frac{२५६}{२४३}\right) > \left(क = \frac{२५}{२४}\right) > \left(ग = \frac{८१}{८०}\right)$ यदि भरत का षड्ज-पंचम भाव व षड्ज-मध्यम भाव सुरीला था, (जिसमें कम से कम मुझे कोई संदेह नहीं), तो उसके आधार से अभी दिए गए परिमाण ही सिद्ध होंगे, जिसका विवरण पाठक प्रो० ललितकिशोर सिंह की पुस्तक में पढ़ सकते हैं और तब तालिका संख्या ३ से यह स्पष्ट होगा कि बृहस्पति जी के श्रुति-अनुक्रमों का परिणाम कितना भीषण होता है, कि तार षड्ज भी बेसुरा हो जाता है। वह मध्य षड्ज का $\frac{२}{१}$ न होकर $\frac{१·९५५}{१}$ होता है। दूसरा बुरा परिणाम यह निकलता है कि रे–ग तथा ध–नी के गुणान्तर $\frac{१६}{१५}$ के स्थान पर $\frac{१३५}{१२८}$ हो जाता है, जो अपेक्षाकृत बहुत निम्नकोटि का है और जिससे भरत के ग्राम का निम्न स्तर सिद्ध होता है। तीसरा दोष यह है कि षड्ज–मध्यम संवाद की भी हत्या हो जाती है, सा–म का गुणान्तर हो जाता है $\frac{१०}{९} \times \frac{१३५}{१२८} \times \frac{९}{८} = \frac{६७५}{५१२}$, जब कि वह $\frac{४}{३}$ होना चाहिये।

अब यह तर्क रखा जा सकता है कि जब बृहस्पति जी ने क, ख और ग के ठीक ठीक परिमाण स्वयं नहीं दिए हैं, तो कुछ भी परिमाण मानकर उनके आधार पर गणनायें मैंने क्यों कीं। इसका उत्तर मैं तीन प्रकार से दूंगा:—

(१) मैंने जिन परिमाणों को मानकर बृहस्पति जी के श्रुत्यन्तरों के अनुक्रम की जांच की है, उसका आधार विज्ञान और गणित के वे नैसर्गिक नियम हैं जो षड्ज-पंचम, षड्ज-मध्यम तथा अन्य स्वर-संवादों में स्वभावतः पाये जाते हैं, और भरत ने भी स्वर-संवादों को अत्यधिक महत्त्व दिया है। बृहस्पति जी ने स्वयं तीन श्रुत्यन्तर के मूल्य नहीं दिए हैं और यदि कोई विद्वान् उन श्रुत्यन्तरों के कोई दूसरे परिमाण दे सकें तो उनकी सहायता से भी जांच कर ली जायेगी। अभी तक तो भरतोक्त षड्ज-ग्राम का कोई ऐसा रूप नहीं मिला है जो तालिका २ में दिए हुए रूप से अधिक स्पष्ट, सही और न्याय-संगत हो।

(२) यदि अनुमान लगाना गलत है, तो बृहस्पति जी के वर्णन में ही अपेक्षाकृत अधिक अनुमान हैं, जो कोई ठोस आधार भी नहीं रखते:—उनके ग्रंथ "भरत का संगीत-सिद्धान्त" के पृष्ठ २२ से आरंभ करें। श्रुति-दर्पण पर चतुः सारणा विधि के अन्तर्गत 'मूलसप्तक' शीर्षक में कहा गया है कि "पहले तार को षड्ज इत्यादि के पर्दों पर दबाकर छेड़ने से जो सप्तक बोलेगा, उसे हम मूल सप्तक कहेंगे,....." ज़रा विचार किया जाय कि ये षड्ज इत्यादि के पर्दे कौन लगायेगा और कितनी कितनी दूरी पर लगायेगा ? इन्हीं पर्दों के बल पर बृहस्पति जी चारों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सारणायें दिखायेंगे और ये स्वयं ठीक ठीक किस स्थान पर लगाये जायेंगे, इसका कोई निर्देश नहीं। यदि यह आशा थी कि संगीतज्ञ भरतोक्त स्वरों को स्वयं मिला लेंगे, तो यह अनुमान भी लगा लिया गया कि वर्तमान संगीतज्ञ भरत के ग्राम, स्वरों आदि से भलीभाँति परिचित हैं, यह तो विचित्र बात हुई; यदि संगीतज्ञ भरत के स्वर-स्थानों से परिचित हैं तो उसका स्पष्टीकरण करने की क्या आवश्यकता पड़ी! संगीतज्ञ तो उस सा-प और सा-म संवाद से परिचित हैं जिनका गुणान्तर क्रमशः $\frac{३}{२}$ और $\frac{४}{३}$ है, साथ ही साथ यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक संगीतज्ञ भरत के प्रत्येक स्वर का एक ही स्थान मानें। मतभेद हो सकता है। फिर बृहस्पति जी का मूल सप्तक भी संगीतज्ञों के लिए भिन्न भिन्न हो जायेगा। इसलिए यह आवश्यक था कि गणित और विज्ञान की सहायता ली जाती और प्रत्येक स्वर का स्पष्ट और निश्चित मूल्य बताया जाता।

अब पृष्ठ २२ पर आगे देखें। प्रथम सारणा शीर्षक में लिखा है, कि दूसरे तार को इतना उतारा जाय कि मूल सप्तक के ऋषभ के साथ दूसरे तार के पंचम का संवाद षड्ज-मध्यम भाव से होने लगे। इसका अभिप्राय स्पष्ट है कि लेखक अनुमान कर रहा है कि संगीतज्ञ षड्ज-मध्यम का सही सही स्थान जानते हैं। इस अनुमान से मुझे कोई आपत्ति नहीं, किन्तु संगीतज्ञ उस षड्ज-मध्यम संवाद को मानते हैं कि जिसका परिमाण $\frac{४}{३}$ है और मैं तो भरत का षड्ज-मध्यम संवाद यही मानता हूँ; किन्तु इसी मान्यता का विकास करके तालिका २ में दिया गया भरतोक्त ग्राम निकलता है। और बृहस्पति जी का षड्ज-मध्यम गुणान्तर $\frac{४}{३}$ नहीं निकलता, वरन् $\frac{१०}{९} \times \frac{१३५}{१२८} \times \frac{९}{८} = \frac{६७५}{५१२}$ निकलता है।

अतः एक ओर बृहस्पति जी यह अनुमान लगाते हैं कि वर्तमान संगीतज्ञ भरत का षड्ज-मध्यम संवाद मानते हैं, दूसरी ओर वे वर्तमान संगीतज्ञों द्वारा मान्य और विज्ञान के आधार पर सिद्ध षड्ज-मध्यम सम्बन्ध से भिन्न सम्बन्ध मानते हैं।

इसी प्रकार २४ पृष्ठ में चौथी सारणा तक केवल अनुमान ही जारी है क्योंकि मूल सप्तक के सभी स्वरों की स्थापना संगीतज्ञ स्वयं करेंगे और वही भरत के स्वर मान लिए जायेंगे।

(३) "भरत का संगीत सिद्धान्त" के पृष्ठ २४ की अन्तिम दो पंक्तियों में लिखा है कि श्रुति-दर्पण के पहले दूसरे तार की ध्वनि का अन्तर "ग" प्रमाण-श्रुति है। इसके बाद २५ पृष्ठ के आरंभ में लिखा है कि दूसरे व तीसरे तारों का अन्तर 'ख' "ग" की अपेक्षा बड़ा होगा। २६ पृष्ठ के प्रारंभ में बताया है कि तीसरे व चौथे तारों का अन्तर "क", "ख" से भी बड़ा होगा।

यदि स्वर-संवाद के नैसर्गिक नियमों को मानें तो "ख" सब से बड़ा अन्तर होना चाहिए, "क" उससे छोटा और "ग" सबसे छोटा अन्तर होना चाहिए। यदि उन नियमों को नहीं मानते तो मैं यह पूछना चाहूँगा कि तीसरे व चौथे तारों का अन्तर 'क', दूसरे व तीसरे तारों के अन्तर 'ख' से बड़ा है—यह भरत के किस श्लोक का अर्थ है? यदि भरत की चतुःसारणाओं की प्रक्रिया की संभावना "क" को "ख" से बड़ा मान कर हो है, तो मेरा निवेदन है कि तालिका संख्या २ का ध्यान से अवलोकन करें, जिसमें स्पष्ट है कि 'क' को 'ख' से छोटा मान कर भी भरत की समस्त सारणायें शत प्रतिशत ठीक बैठती हैं और इसी प्रकार बृहस्पति जी का सारणायुक्त श्रुति-दर्पण 'क' को 'ख' से छोटा मान कर भी ठीक बैठेगा। अतः 'क' को 'ख' से बड़ा मानने का कोई आधार नहीं है। जब कि 'ख' को 'क' से बड़ा मानने के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वैज्ञानिक आधार हैं। 'क' को 'ख' से बड़ा मानते से ही भरत के रे-ग व ध-नी और सा-म, यहाँ तक कि सा-सां स्वरान्तर बेसुरे सिद्ध हो जाते हैं, जैसा पहले बताया जा चुका है।

"भरत का संगीत-सिद्धान्त" के पृष्ठ २९ व ३० की टिप्पणियों में भी यह सिद्ध करने का प्रयत्न है कि 'क' बड़ा है 'ख' से और 'ख' बड़ा है 'ग' से। 'ख' अन्तर समझाते हुए लिखा है कि प्रथम सारणा के ऋषभ को षड्ज मानने पर द्वितीय सारणा का पंचम इस नवीन षड्ज का मध्यम न होकर तीव्र गान्धार से कुछ चढ़ा हुआ रहता है; अर्थात् मध्यम से नीचा रहता है। अतः 'ख' अन्तर 'ग' से बड़ा है। इसी प्रकार पृष्ठ ३० की टिप्पणी में लिखा है कि द्वितीय सारणा के ऋषभ को षड्ज मानने पर तृतीय सारणा का पंचम इस नवीन षड्ज के तीव्र गांधार से भी कुछ उतरा हुआ रहता है, जिससे यह सिद्ध होता है कि 'क' अन्तर 'ख' से भी बड़ा है। यहीं पर बृहस्पति जी ने ग़लती की है। वास्तव में तृतीय सारणा का पंचम, द्वितीय सारणा के ऋषभ के सम्बन्ध से तीव्र गांधार से उतरा नहीं, वरन् और भी अधिक चढ़ा रहेगा (द्वितीय सारणा का पंचम, प्रथम सारणा के ऋषभ को षड्ज मानने पर, तीव्र गांधार से जितना चढ़ा था उससे भी अधिक)। मेरा तर्क यह है कि बृहस्पति जी का उपर्युक्त कथन दो हो शर्तों की पूर्त्ति होने पर सत्य सिद्ध हो सकता था। पहली शर्त यह कि भरत ने स्वयं यह स्पष्ट लिखा होता कि उनका अन्तर गांधार या षड्ज मध्यम भाव किस स्थान अथवा परिमाण में थे। भरत ने वह तर्क प्रस्तुत नहीं किया है जिसका उल्लेख बृहस्पति जी ने किया है (तीव्र गांधार से उतरा या चढ़ा होना)। अतः पहली शर्त तो पूरी नहीं हुई। दूसरी शर्त यह है कि बृहस्पतिजी से भिन्न परिमाणों को मान कर उनके प्रयोग या सारणा-प्रक्रिया को प्रदर्शित न किया जा सके। यह शर्त भी पूरी नहीं होती क्योंकि हम भिन्न परिमाण मान कर भी बृहस्पति जी का श्रुति-दर्पण बना सकते हैं। देखिए :—

षड्ज की कम्पन-संख्या २४० मान लें। मध्यम की कम्पन-संख्या $२४० \times \frac{४}{३} = ३२०$ और तीव्र गांधार की कम्पन संख्या $२४० \times \frac{५}{४} = ३००$ होगी। हम 'ग' श्रुत्यन्तर से बड़ा 'क' श्रुत्यन्तर, और 'क' श्रुत्यन्तर से बड़ा 'ख' श्रुत्यन्तर मानते हैं, और उनके निश्चित परिमाण हैं:—$क = \frac{२५}{२४}$, $ख = \frac{२५६}{२४३}$ और $ग = \frac{८१}{८०}$ अब "भरत का संगीत-सिद्धान्त" पृष्ठ २२ से २४ तक देखें। प्रथम सारणा के लिए हम दूसरे तार को प्रमाण-श्रुति अर्थात् $ग = \frac{८१}{८०}$ परिमाण में उतारेंगे। पहले श्रुति-दर्पण के पाँचों तार षड्ज = २४० में मिले थे। ऋषभ $= २४० \times \frac{१०}{९} = \frac{८००}{३}$ था; यही मूल सप्तक का ऋषभ है। पंचम पहले $२४० \times \frac{३}{२} = ३६०$ था। दूसरे तार को $\frac{८१}{८०}$ उतारने पर पंचम होगा $= ३६० \times \frac{८०}{८१} = \frac{३२००}{९}$ अब तीसरे तार के पंचम और मूल सप्तक के ऋषभ का गुणान्तर होगा $\frac{३२००}{९} \times \frac{३}{८००}$ $= \frac{४}{३}$ जो वास्तव में षड्ज-मध्यम संवाद है।

इसी प्रकार श्रुति-दर्पण की दूसरी सारणा में तीसरे तार को इतना उतारना है कि गांधार जो $२४० \times \frac{१०}{९} \times \frac{१६}{१५} = \frac{२५६०}{९}$ कम्पन-संख्या का है, मूलसप्तक के ऋषभ $\left(= \frac{८००}{३}\right)$ से मिल जाय। हमारे मत से दूसरा उतार $ख = \frac{२५६}{२४३}$ है; अब तीसरा तार कुल उतारा जायगा 'ग' और 'ख' मिलाकर अर्थात् $\frac{८१}{८०} \times \frac{२५६}{२४३} = \frac{१६}{१५}$। अतः

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इतना उतारे जाने पर गंधार $\left(\frac{२५६०}{९}\right)$ की कम्पन-संख्या उतर कर $\frac{२५६०}{९} \times \frac{१५}{१६} = \frac{८००}{३}$ हो जायगी, जो मूल सप्तक का ही ऋषभ है। निषाद भी धैवत में मिल जायगा, यह सरलता से स्पष्ट हो जायगा, क्योंकि मूल सप्तक का निषाद, गांधार का पंचम है अर्थात् वह $\frac{२५६०}{९} \times \frac{३}{२} = \frac{१२८०}{३}$ कम्पन-संख्या का है, और धैवत, ऋषभ का पंचम $= \frac{८००}{३} \times \frac{३}{२} = ४००$ कम्पन-संख्या का है। निषाद को $\frac{१६}{१५}$ उतारने पर $\frac{१२८०}{३} \times \frac{१५}{१६} = ४००$ का धैवत आ गया।

इसी प्रकार २३ पृष्ठ की अन्तिम पंक्ति से—तृतीय सारणा के वर्णन के अनुसार चौथे तार को (जो पहले षड्ज में था) इतना उतारना है कि उसका ऋषभ मूल सप्तक के षड्ज में मिल जाय। उसका ऋषभ है $\frac{८००}{३}$ और मूल सप्तक का षड्ज है २४०; इसलिए कुल उतार होगा $= \frac{८००}{३} \times \frac{१}{२४०} = \frac{१०}{९}$

और यही उतार हमारे मत से आता है, जिसमें पहला उतार ग $= \frac{८१}{८०}$, दूसरा उतार "ख" $= \frac{२५६}{२४३}$ और तीसरा उतार क $= \frac{२५}{२४}$ है, कुल उतार $= \frac{८१}{८०} \times \frac{२५६}{२४३} \times \frac{२५}{२४} = \frac{१०}{९}$

इसी प्रकार ४ थी सारणा की प्रक्रिया भी ठीक बैठती है।

इसलिए सारणा—चतुष्टयी में भरत के दूसरे उतार "ख" को तीसरे उतार "क" से छोटा न मानकर बड़ा मानना चाहिए और परिमाण होने चाहिए ख $= \frac{२५६}{२४३}$ और क $= \frac{२५}{२४}$

अधिक विस्तार करने की अब मैं आवश्यकता नहीं समझता। उपसंहार के रूप में मैं संगीत-जगत् की सेवा में निम्नलिखित तथ्य विचारार्थ प्रस्तुत करता हूँ :—

(१) भरत के वर्णन से यह सिद्ध नहीं होता कि वे बाईसों श्रुत्यन्तर समान मानते थे। इस सम्बन्ध में भातखण्डे जी का मत ग़लत है और उनके मत से सहमत व्यक्ति बिना किसी आधार के भारतीय प्राचीन संगीत को निम्नकोटि का अथवा बेसुरा घोषित करते हैं। (देखें तालिका-प्रथम)

(२) भरत के वर्णन से यह सिद्ध नहीं होता कि चतुःसारणाओं के अन्तर्गत दूसरा उतार 'ख' तीसरे उतार 'क' की अपेक्षा परिमाण में छोटा था। इस सम्बन्ध में बृहस्पति जी की मान्यता ग़लत है, क्योंकि एक तो "क" का "ख" से बड़ा होना भरत के वचनों से सिद्ध नहीं होता, दूसरे "क" को "ख" से छोटा मान कर भी भरतोक्त चतुःसारणायें ठीक बैठती हैं, और तीसरे "क" को "ख" से बड़ा मानने पर भरतोक्त ग्राम निम्नकोटि का अथवा बेसुरा सिद्ध होता है; यहाँ तक कि तार षड्ज भी बेसुरा हो जाता है, (देखें तालिका-तृतीय)।

(३) भरतोक्त ग्राम और श्रुत्यन्तरों तथा उनके अनुक्रम का सर्वोत्तम रूप वह है, जिसमें तीन प्रकार के श्रुत्यन्तर माने जाते हैं :—

(ग) पहला श्रुत्यन्तर $= \frac{८१}{८०}$ (प्रमाण श्रुति)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(ख) दूसरा श्रुत्यन्तर = $\frac{२५६}{२४३}$

(क) तीसरा श्रुत्यन्तर = $\frac{२५}{२४}$

इनका क्रम सारणाओं के उतार के अनुसार इस प्रकार होगा ;—ग, ख, क, और चौथा उतार फिर 'ग' होगा। अर्थात् अवरोही क्रम से श्रुत्यन्तर ग, ख, क, ग, और आरोही क्रम से वे ग, क, ख, ग, होंगे जिनमें "ख" बड़ा "क" से और "क" बड़ा "ग" से है।

यही रूप व्यवहार, विज्ञान और गणित के दृष्टिकोणों से भी उत्तम है, और भरत के निजी वर्णन के अधिकतम अनुकूल है और उनके किसी कथन का इसमें विरोध भी नहीं है। (देखें तालिका-द्वितीय)

(४) मेरा नम्र सुझाव है कि बृहस्पति जी यदि केवल "ख" को "क" से बड़ा और "ग" को पूर्ववत् सबसे छोटा स्वीकार कर लें, (या दूसरे उतार को 'क' और तीसरे उतार को 'ख' मान लें), तो उनके ग्रन्थ में वर्णित श्रुतिदर्पण, मंडल प्रस्तार, भरतोक्त ग्राम व मूर्छनाओं आदि के दोषों का निवारण हो जायगा।

(५) चतुर्थ तालिका में मैंने वर्तमान संगीत के लिए सब से उपयुक्त विस्तृत षड्ज-ग्राम का रूप दिया है।

लेख का कलेवर कुछ बढ़ गया है, इसके लिए मैं क्षमा-प्रार्थी हूँ। भरतोक्त ग्राम एक विवादास्पद विषय रहा है और विषय महत्त्वपूर्ण है; अतः मैंने यह अपना कर्त्तव्य समझा कि तत्सम्बन्धी भ्रान्त धारणाओं से अवगत करा के संगीत-प्रेमियों तथा विशेष रूप से छात्रों की सेवा करूं। अन्त में उन विद्वानों से क्षमा माँगते हुए, जिनके मत से मैंने अपना विरोध प्रकट किया है, मैं यह लेख समाप्त करता हूँ।

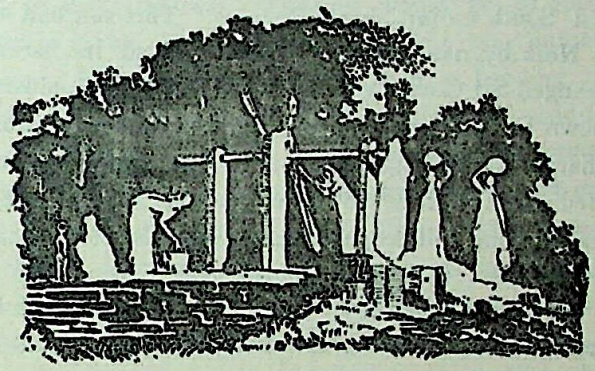

D. PATNAIK

भारत्याः कण्ठदेशे स्थलमतिललितं षोडशारं विशुद्धं तस्मिन् सप्तस्वराः स्युः सकलजनमनोरञ्जकाः षड्जमुख्याः।
चक्रं तु ब्रह्मरन्ध्रे स्फुरति किल सहस्रारमेकं सुधाढ्यं नृणां गीयस्तदीयप्रथमदलगता गीतसिद्धिं तनोति॥
(रसकौमुदी पूर्वखण्ड प्रथ अध्यायम)

यथा वधूर्भाति न भूषणं विना, यथा शशाङ्केन विना त्रियामा।
तथैव गीतिः किल भारती च, न शोभतेऽलङ्कृतिमन्तरेण॥
(रसकौमुदी पूर्वखण्ड प्रथम अध्याय)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

PANDIT VISHNU DIGAMBAR PALUSKAR

the Pioneer of the Renaissance of Indian Music

By

Prof. P. A. Sundaram Aiyar

[Pandit Vishnu Digambarji was a great Mahātmā and a Maharṣi and I am the least fitted to write about this great personality. However, since I have to tell whatever little that is known to me about Panditji and his great contribution to Hindustani music, for the benefit of all the musicians and music loving public, I am writing this short article and I thank the authorities of the Music College, Banaras Hindu University, for providing me an opportunity to bring out these instances of my association with this great Personality, Pandit Vishnu Digambarji].

I went to Trivandrum from my native place of Parur at the age of 9 and studied violin (South Indian music) under Trivandram Palace Vidwan Sri Ramaswami Bhagavathar for a period of 7 years. After my study I went to Calicut in 1907 and stayed with my friend Sri Devchand Sait, a Gujerathi gentleman, who had sound knowledge of North and South Indian Music Systems. This sait had a paid musician in his household, Govinda Naik by name who was well versed in Sarangi and Sitar. Sri Devchand Sait arranged Sri Govinda Naik to teach a little Hindustani music to me. At that time a well known Daily from Bombay "Sanj Vartaman", published the important news that Gayanacharya Pandit Vishnu Digambar Paluskarji, the wellknown Hindusthani musician had shifted from Lahore to Bombay and had started the Gandharva Maha Vidyalaya which was running full-fledged. Learning this, Sri Devchand Saitji sent me to Bombay, at his expense, to study Hindusthani music from Sri Pandit Vishnu Digambarji. That was in the year 1909. At my first meeting with him, I was struck by his commanding personality like a Maharaja of the old type. I told him I had come to study music under him. He asked me to stay with him that night and the next day according to his wish I played violin in his presence and Panditji was highly overjoyed and exclaimed "you are a great vidwan in South Indian music". The following week Panditji arranged my violin Solo at a grand tea party function at Madhav Bagh. After this he took me under his personal care in his upadesa class of Sri Gandharva Maha Vidyalaya, the upadesa class being the top-most among the music classes of the Vidyalaya. I studied for a period of one month under him and first among the songs he taught me being "सोखे हो" in Kedar, the second "अवगुण न कीजिये, "गुरु बिन कौन बतावे" etc. besides many other songs including Dhrupads. He treated me like his own son and that showed his

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

broad-minded special affection towards me. He always asked me to sit by his side and take meals along with him. For a period of two months I was under high obligations to Panditji for his noble hearted treatment. After this period Panditji inaugurated violin class in Gandharva Maha Vidyalaya, putting me in charge as Professor and thus for the first time in the History of music of North India, Violin was introduced by Pandit Vishnu Digambarji ; and I was paid an honorarium of Rs. 100 monthly, which was adjusted by him towards my food, clothing and other expenses.

It was customary in the vidyalaya to appoint those who had passed the Higher classes in charge of the lower classes, the important Professors among them being Pandit Omkarnathji Thakur, Shri Khandekar, Shri Narayanrao Khare, Sri V. A. Kasalkar, Sri Narayanrao Vyas, Sri Vinayakrao Patwardhan, Sri Baburao Gokhle, Sri Wamanrao Padhye and others. Shri Datar was the Vice Principal.

His Daily routine : He will wake up all the students at 5 a. m. and after washing, all the students were to march in a morning walk to chowpathy Beach rhythmically in two's to the tune of राम राम राम सीता राम राम राम (जय जय). After return and refreshing everyone with a cup of milk, the classes will commence in Gandharva Maha Vidyalaya at 7 a. m. with Mass Prayer at the Special "Sangīta Hall." First he would sing a verse (sloka) and this would be followed by the mass prayer song "सरस्वती शारदा विद्यादानी" in Rag Bhairavi. Then all would go to their respective classes. He was a strict disciplinarian and severe punishment was inflicted for even small mistakes e. g. one would have to stand for hours in a bending position putting his hand to the end of the toes. After the morning session, the midday meal was taken at 12 noon exactly and during meals the song "जय जय सुरनायक जनसुखदायक" was sung by all while in the night the songs sung were "राम कृष्ण वासुदेव राम हरे हरे and तारी वा रघुराया". The evening classes commenced at 3 p. m. with Prayer like morning and continued till 9 p. m. The permanent staff consisted of 50 persons including students and there were 300 students who came from outside. Panditji would organise 4 or 5 performances by the Vidyalaya Staff and Professors, himself being the main performer in the Vidyalaya Permises on important auspicious days like Vaikuṇṭha Ekādaśī, Gokulāṣṭamī, Śivarātri etc. and seats were regularly arranged with Plan map in the Vidyalaya. The Programme for each performance consisted of Prayer, Group singing of the song जय जगदीश हरे in Rāga Khamāja and then Pandit Vishnu Digambarji would give an introductory lecture for about 15 minutes on music and cover up the audience with his inspiring and commanding oration. This would be followed by short performances of 15 minute's duration each by 4 or 5 professors of the Vidyālaya including my violin Solo. After this, Pandit Vishnu Digambar would give a grand music performance accompanied by myself on the violin and Sri Gurumaharaj on

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

the Tabala. He will fully encourage and himself enjoy the accompanists. He was gifted with an unequalled voice and had a range of nearly 4 octaves beginning from अनुमन्द्र पंचम.

A tour of Maharashtra Pradesh was organised by Panditji in aid of the Building Fund of the Vidyalaya. Important among the cities of the tour were Satara, Hubli, Dharwar, Meeraj, Belgaum. Kolhapur etc. During the performance at Belgaum. Panditji sang the Anumandra Panchama, i. e. 3 notes below the "G" string of the violin and in my enthusiastic accompaniment I also reduced and adjusted my "G" string peg accordingly and reproduced the same note immediately and everyone, including Panditji cheered in appreciation of my skill and technique to reproduce what ever Panditji sang, even though the note was beyond the reach of the string. For all his performances I had the great pleasure of accompanying him on violin and Sri Guru Maharaj provided Tabala accompaniment. I stayed with Panditji for 1½ years. From there I returned to my native place. In the year 1916, I was invited to the All India Music Conference at Baroda for which Panditji had also been invited. From there Panditji invited me to Bombay in April and my Solo violin performance was arranged by him in the Vidyalaya on Sri Ram Navami day during which I had the honour of being presented with a Gold medal and a certificate by Panditji as a token of his appreciation and this was a grand memorable occasion for me in my life. It was due to Panditji's efforts and hold upon Gandhiji, that the music conference was organised during the Congress session at Ahmedabad in 1921 for which Panditji made Gandhiji sanction the necessary funds for meeting out the expenses. This was a grand success. A wonderful thing that happened on the occasion was, the fact that Gandhiji could not enter the premises of the venue of the Congress due to the heavy onrush of crowds and when Panditji with our party was coming to the Congress with Bhajan Songs रघुपति राघव राजाराम the crowd automatically gave way for Panditji's party and Gandhiji had to join us as our party to gain entrance to the Congress.

Panditji's first visit to Madras :

It was in the year 1929, Pandit Vishnu Digambarji was invited to the First Music Conference of the Music Academy, Madras as the President of the Hindustani music section, as the most befitting personality. On arrival at Madras, Panditji came straight to my house. The music-minded public of Madras were thrilled by his magnificent performance through his ringing voice and at their request he stayed in Madras for a period of one month and his Rāmāyaṇa Keerthan was also arranged. People thronged in thousands to hear his illuminous exposition. At the conclusion of the रामायण Keerthan, he was presented with Rs. 10,000 and a rich Kashmiri Shawl in token of their appreciation, by the public of Madras. In the field of music, Panditji

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

was the first to introduce the notation system by publishing songs in सरि ग म notation and it was he who taught the mode of keeping rhythm in hands. All the muslim musicians were afraid of his name and they also encouraged him. As already stated he was a strict disciplinarian and there was to be no chewing or smoking among the Vidyalaya, Professors and students alike and even now in the traditional schools of his disciples, this custom is strictly being maintained.

Among the True followers of the Traditionary system of the Vidyalaya, special mention must be made of Sangeet Samrat Pt. Omkarnathji Thakur, who is one of the chief disciples of Panditji and a True follower, worthy of Panditji still maintaining the Dignity and honour of Pandit Vishnu Digambar's great name.

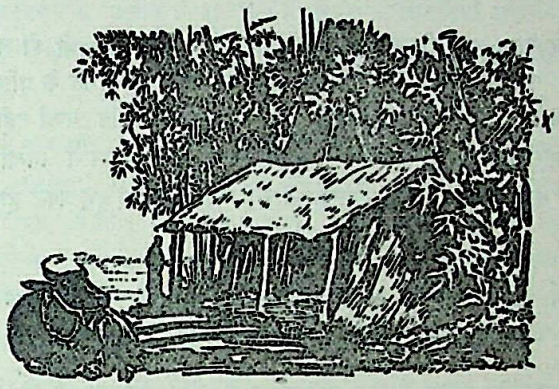

यस्य श्रीपरमेश्वरस्य कृपया मूकोऽपि वाचं परां पङ्गुः पर्वतलङ्घने किल महासामर्थ्यमेति क्षणात् ।
जन्मान्धोऽप्यरविन्दसुन्दरदृशोर्द्वन्द्वं किमन्यत् परं वन्दे नन्दकिशोरमन्दुवदनं तं भक्तचिन्तामणिम् ॥

(रसकौमुदी पूर्वखण्ड प्रथम अध्याय)

सर्वप्राणिमनोहरं प्रियतमावर्गप्रमोदप्रदः स्वैरं कामकलाकलापजनको दुःखैकविध्वंसकः ।
गम्यो रागविदां वरैरपि भृशं चातुर्ययुक्तैर्जनैर्नानारूपविराजितो विजयते रागस्त्रिलोक्यां परम् ॥

(रसकौमुदी पूर्वखण्ड द्वितीय अध्याय)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनावृत सत्य

—सत्यार्थी—

पूज्यपाद गुरुदेव पं० ओंकारनाथजी ठाकुर सदैव कहते आए हैं कि निन्दकों को पाला जाए, पड़ोस में पोसा जाए; वे इतने उपकारी हैं कि बिना साबुन हमारे मैल का प्रक्षालण करते रहते हैं। कबीर के—'निन्दक बाबा बीर हमारा' तथा तुकाराम के 'निन्दकाचे घर असावे शेजारी' (निन्दक का घर पड़ोस में रहे)—इन वचनों को वे प्रायः दोहराया करते हैं। कुछ ऐसा ही अनुभव जीवन में उपस्थित हुआ और उन्हीं (निन्दकों) की कृपा का यह फल है कि सत्य का प्रकाश करने का सुअवसर मिला है।

अपने अध्ययन परिशीलन द्वारा किसी सत्य की प्राप्ति के प्रकाशन का सभी को अधिकार है। अनुसन्धान-कर्ता अपनी संप्राप्ति के प्रकाशन के पूर्ण अधिकारी हैं। किन्तु ऐसे अधिकारी अपने मत के प्रतिपादन के लिए किसी अन्य की निन्दा का सहारा नहीं लेते। परमत-आलोचना अथवा मतभेद-प्रकाशन कदापि वर्ज्य नहीं है, अपितु आवश्यक भी है, किन्तु उसका प्रकाशन जब द्वेषमूलक होता है तब उसमें प्रयुक्त भाषा में सहजरूप से निन्दा का पुट आ जाता है। जहाँ जिज्ञासा की भावना रहती है, वहाँ भाषा स्वयमेव सौजन्य और शालीनता लिए हुए प्रकट होती है : बुधजन इन्हीं भेदों से तथ्य को समझ जाते हैं।

जो अनुसन्धानकर्ता नहीं हैं, जिन्हें अपना कुछ कहने को नहीं है, वे तस्कर-कला के अवलम्बन से अन्य की निन्दा द्वारा कुचेष्टा से प्रतिष्ठा पाने का यत्न करते हैं। ऐसे लोग दयनीय हैं। अस्तु।

गत कुछ वर्षों से भारतीय संगीत में कुछ इस प्रकार के लेखन-प्रकाशन सामने आ रहे हैं, जिनमें सैद्धांतिक आलोचना के नाम पर परोक्ष तथा अपरोक्ष रूप से किसी व्यक्ति-विशेष के प्रति अनर्गल विद्वेषपूर्ण विष-वमन ही ओत-प्रोत रहता है। इस विष-वमन का लक्ष्य जिन महानुभाव ने "प्रणव-भारती" के प्रणेता पूज्यपाद गुरुदेव पं० ओंकारनाथ जी ठाकुर को बनाया है, उनके प्रति आज तक हमारी ओर से सर्वथा मौन का ही अवलम्बन हुआ है। सम्भवतः इस मौन से ही अनन्तगुण उत्साह पाकर उन्होंने आलोचना का विपुल क्षेत्र-विस्तार किया। इस विस्तारमोह में उनसे शालीनता और औचित्य की सीमा का ऐसा अपूर्व उल्लङ्घन बन पड़ा कि उक्त सीमा के प्रहरी सत्य, सौजन्य, सारल्य और संस्कारित्व तत्काल तिरोहित हो गए।

एक पौराणिक उक्ति के अनुसार "महाभागवत" व्यक्ति तो विद्वेषी के द्रोह को सर्वदा क्षमा ही कर देते हैं, किन्तु उनके चरण-रेणु अवश्य ही क्षुब्ध हो उठते हैं और वे उस द्रोह को कभी क्षमा नहीं करते। ठीक वही परिस्थिति प्रस्तुत लेख की पूर्व-पीठिका है। किन्तु यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि उक्त महानुभाव के आरोपों या आक्षेपों का उत्तर-प्रत्युत्तर देना हमारा प्रयोजन नहीं है, उन पर व्यक्तिगत प्रत्यारोप प्रस्तुत करना हमें कदापि अभिप्रेत नहीं है, अपितु विद्यार्थियों और सामान्य पाठकों को उनके लेखन से मतिभ्रम न हो, उन लोगों की दृष्टि से सत्य तिरोहित न हो जाए, इस सद्उद्देश्य से सत्यार्थ का प्रकाश फैलाने का हमारा "शिव संकल्प" है। अतः उक्त लेखक का नामोल्लेख न करके केवल "आप" सर्वनाम का ही हम यहाँ प्रयोग करेंगे।

आपकी ओर से पूज्यपाद गुरुदेव के प्रति जो धूलि-प्रक्षेप समय-समय पर प्रकाशित होता रहा है, उससे क्षुब्ध विद्यार्थी एवं सहयोगी बन्धु समय-समय पर इस सम्बन्ध में हमसे मौखिक चर्चा अवश्य करते रहे हैं, किन्तु इस प्रकार की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चर्चा का कोई लिखित रिकॉर्ड रखना न तो सम्भव होता है और न ही आवश्यक समझा जाता है, और ऐसे रिकॉर्ड के अभाव में स्मृति और कल्पना के सहारे लिखित प्रश्नोत्तरों द्वारा अपना वक्तव्य प्रस्तुत करना अनावश्यक और अनुचित प्रतीत होता है। कोई 'अनामिक' सज्जन रेल में मिल गए अथवा कोई घर पर, तो कोई अन्यत्र कहीं विशेष भेंट करने चले आए, इस प्रकार के काल्पनिक पात्र और प्रसंग उद्भावित करने की हमें कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि मिथ्या अलंकरण की तो असत्य को ही अपेक्षा हो सकती है। सत्य को भला किसी कुटिल आवरण की आवश्यकता क्यों होने लगी ? अतएव हमारा वक्तव्य निरावरण तथा निराभरण रूप से प्रस्तुत है।

"सत्यार्थ" का "प्रकाश" फैलते ही असत्य का स्वतः ही तिरोभाव हो जायगा।

× × ×

"एक" को "अनेक" बनाने के इन्द्रजाल से आपको विशेष "अनुराग" जान पड़ता है। तभी तो आप "प्रणव-भारती" के प्रणेता का बहुवचन में उल्लेख किया करते हैं; किन्तु जो विभूतियाँ शताब्दियों में एकाध बार अवतीर्ण होती हैं, उन्हें बहुवचन में सम्बोधित करने मात्र से यदि वास्तव में "बहु" का सृजन हो सकता, तब तो संस्कार-भूमि की उर्वरता सचमुच निःसीम होती।

इस बहुवचन-प्रयोग के साथ-साथ एक दूसरी आश्चर्यकरी उद्भावना के भी आप जन्मदाता हैं। आपका कथन है कि "प्रणव-भारती" में जिसे "गणेश" कहा गया है, वही वास्तव में "व्यास" है। इस उद्भावना के पीछे आपका दोहरा उद्देश्य है :—एक ओर "प्रणव-भारती" के प्रणेता पूज्यपाद गुरुदेव की प्रतिष्ठा पर धूलि-प्रक्षेप और दूसरी ओर उनकी लेखन सहायिका की सामान्य-मानव-सुलभ सुप्त-गुप्त प्रतिष्ठाशारूपी दुर्बलता को उभार कर उसे लेखन-सेवा से विमुख करना। प्रथम उद्देश्य में आपको सफलता अवश्य मिलती, यदि कहीं मुट्ठी भर धूलि से सूर्य को आच्छादित करना संभव होता। दूसरे उद्देश्य में सफलता तभी मिलेगी जिस दिन शिष्य की निष्ठा, आस्था और गुरु के अनुग्रह का अभेद्य दुर्ग पवन के सामान्य झोंकों से ढहने लगेगा। आप सुख-पूर्वक उस दिन की प्रतीक्षा कर सकते हैं।

प्रकाशित ग्रन्थों की प्रस्तावना में गुरु द्वारा शिष्य की लघु सेवाओं की प्रांजल स्वीकृति और लिखित रूप से आभार-प्रदर्शन का ऐसा विकृत दर्शन करने वालों को क्या कहा जाय ?

खेद की बात यही है कि जिस "गणेश" को आप बलात् "व्यास" के पद पर प्रतिष्ठित करने पर तुले हुए हैं, उसकी ओर से आपको कोरा धन्यवाद तक प्राप्त नहीं। निश्चय ही आप सहानुभूति के पात्र हैं।

× × ×

इधर कुछ दिनों से आपने, मानो कोई नवीन आविष्कार किया हो, ऐसी घोषणा आरंभ की है—और वह है वागीश्वरी में त्रिश्रुति ऋषभ का प्रयोग। साथ ही आप यह आक्षेप करना भी भूले नहीं हैं कि "प्रणव-भारती" में इस ऋषभ की चर्चा तक नहीं है। इससे क्या यह समझा जाए कि आपने "प्रणव-भारती" को सचमुच पूरा पढ़ा नहीं है ? अथवा जान-बूझकर सत्य को आच्छादित करना चाहते हैं ? पाठकों से विनम्र अनुरोध है कि वे इस आक्षेप की यथार्थता जाँचने के लिए "प्रणव-भारती" के पृष्ठ ९१ तथा २०९ का अवलोकन करें। संवाद-सिद्धांत के अनुसार त्रिश्रुति ऋषभ का स्वाभाविक प्रयोग कहाँ किस प्रकार होता है, इसका सर्वप्रथम स्पष्टीकरण "प्रणव-भारती" में ही किया गया है। वहाँ वागीश्वरी का नाम न लिए जाने का भी विशेष कारण है, जो इस प्रकार है। "प्रणव-भारती" के उन स्थलों पर सर्व-सामान्य सिद्धांत का प्रतिपादन ही अभीप्सित है, विशेष उदाहरण की वहाँ अपेक्षा नहीं समझी गई है। जहाँ यह कह दिया गया कि तानपूरे का पहला तार मध्यम में मिलाकर जो भी राग शुद्ध ऋषभ सहित गाए जाएँगे, उनमें सर्वथा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

त्रिश्रुति ऋषभ का ही प्रयोग होगा, वहाँ केवल वागीश्वरी का नामोल्लेख करना अल्पज्ञता का ही परिचायक होता। केवल वागीश्वरी ही क्यों, गौड़मल्हार, सरपरदा बिलावल, लच्छासाख इत्यादि मध्यम पर ठहराव वाले ऐसे कई एक राग हैं, जिन्हें तानपुरे पर मध्यम मिलाकर गाना राग–रूप के सौष्ठव के लिए अधिक प्रशस्त है। उस अवस्था में जब भी "शुद्ध" ऋषभ का प्रयोग होगा, तब वह ऋषभ त्रिश्रुति ही लगेगा। इस सर्व–सामान्य सिद्धान्त के प्रतिपादन के बाद फिर वागीश्वरी के ऋषभ के विशेष उल्लेख की आवश्यकता ही कहाँ रह जाती है ?

इतना ही नहीं, पूज्यपाद गुरुदेव ने तो आज से प्रायः चौदह-पन्द्रह वर्ष पूर्व ही अपने गुरुबन्धु कोल्हापूर-निवासी पं० वामरावजी पाध्ये को वागेश्री के उदाहरण द्वारा त्रिश्रुति ऋषभ-धैवतयुक्त षड्जग्राम की संपूर्ण स्वरावलि की सप्रयोग सिद्धि समझाई थी और पं० पाध्येजी ने श्रुति-विचारक पं० गं० भि० वाचरेकर तथा उनके सहयोगी पूना के संगीतकार श्री ताम्बे शास्त्री के समक्ष भरी सभा में तानपूरे की संगत से वागेश्री में त्रिश्रुति ऋषभ का प्रयोग करके दिखाया था। पं० पाध्येजी ने उक्त प्रयोग को हमारे पूज्यपाद गुरुदेव की ही खोज का परिणाम स्पष्टतः घोषित किया था और उन दोनों पंडितों ने इस प्रयोग को अकाट्य सिद्धि को स्वीकार किया था।

ऊपर की घटना के अतिरिक्त यदि पूज्यपाद गुरुदेव की लेखनी से वागीश्वरी के त्रिश्रुति ऋषभ का उल्लेख ही अपेक्षित हो तो आप के "आविष्कार" प्रकाशन से कहीं पूर्व प्रकाशित "संगीतांजलि" चतुर्थ भाग की भूमिका पृ० १६ अवलोकनीय है। उक्त ग्रन्थ विद्यार्थियों के लिए लिखित होने के कारण 'प्रणव-भारती' में प्रतिपादित सिद्धांत का विशेष उदाहरण उसमें देना उचित माना गया था। 'संगीतांजलि' के इस उल्लेख से आपकी नवीन आविष्कार-प्रकाशन की अभिसन्धि पर मर्मान्तिक प्रहार होता है। तो फिर यह क्यों न समझा जाये कि इसीलिए आप इस पुस्तक (संगीतांजलि चतुर्थ भाग) के बारे में मौन हैं ?

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि त्रिश्रुति ऋषभ को अपने उद्धार के लिए उक्त 'अन्वेषक' के आविष्कार की कोई अपेक्षा नहीं है।

यदि 'वागेश्री' इस प्रचलित विकृत नाम के शुद्ध रूप 'वागीश्वरी' का उद्धार करने में ही आप अपना महत् कृतित्व मानते हों तो आप से विनम्र अनुरोध है कि आप 'संगीतांजलि' द्वितीय भाग का पृ० ८५ देखने की कृपा करें। वहाँ 'वागेश्री' के साथ साथ 'वागीश्वरी' का भी उल्लेख है।

❀ ❀ ❀

आपने ठोक बजा कर यह विधान घोषित किया है कि आधुनिक शुद्ध गान्धार (प्राचीन अन्तर गान्धार) को षड्ज मानने से शुद्ध मध्यम पर सच्चा कोमल ऋषभ प्राप्त नहीं होता, बल्कि अपेक्षित कोमल ऋषभ से उतरा हुआ कोमल ऋषभ प्राप्त होता है।

(दृष्टव्य 'संगीत' सितम्बर १९५९ अंक–पृ० ५५, तथा 'संगीतिका' अंक ३, पृ० ५९)

अन्यत्र आपने यह भी कहा है :—

(१) 'कोमल ऋषभ का षड्ज से २८ सेवर्ट का अन्तराल है' ; (संगीत फ़रवरी १९६० अंक, पृ० २६)

(२) प्राचीन 'ग–नि' ही आधुनिक कोमल 'रि–ध' है। (संगीतिका अंक ३, पृ० ५२)

ऊपर उद्धृत कथनों में परस्पर संगति है या नहीं, इस पर विचार करने का अधिकार पाठकों को अवश्य है। क्या यह आशा करें कि आप पाठकों को, विचार के इस अधिकार से वंचित करना नहीं चाहेंगे ?

प्राचीन (षड्जग्रामिक) 'रि–ग' और 'ध–नि' का अन्तराल है—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कीमा + लीमा अर्थात् ५ + २३ = २८ सेवर्ट। आधुनिक कोमल ऋषभ का भी यही मान आपको स्वीकार है।

दूसरी ओर आधुनिक शुद्ध "ग" और "म" के बीच का अन्तराल है-साम-साग अन्तराल यानी $\frac{४}{३} \div \frac{५}{४} = \frac{४}{३} \times \frac{४}{५} = \frac{१६}{१५}$ अर्थात् कोमा यानी $\frac{८१}{८०}$ × लीमा यानी $\frac{२५६}{२४३} = \frac{१६}{१५}$ अर्थात् ५ + २३ = २८ सेवर्ट।

इस प्रकार "ग-म" और "सा-रि" दोनों का अन्तराल एक-सा यानी २८ सेवर्ट सिद्ध होता है। इसलिए आपका एक ओर यह कहना कि प्राचीन "ग-नि" ही आधुनिक कोमल "रि-ध" है अर्थात् जो प्राचीन "रि-ग्" या ध-नि" अन्तराल है, वही आधुनिक "सा-रि" या "प-ध्" अन्तराल है (जिसका मान २८ सेवर्ट है), और दूसरी ओर आपका यह कहना कि आधुनिक "ग-म" अन्तराल (जिसका मान २८ सेवर्ट ऊपर दिखाया जा चुका है) "सा-रि" अन्तराल से छोटा है—इन दोनों कथनों में कितनी असंगति है, यह पाठक स्वयं देख लें।

अब "ग-म" अन्तराल तथा "सा-रि" अन्तराल में भिन्नता कहां है, कितनी है, यह समझना-समझाना ब्रह्मा के लिए भी संभव नहीं।

सामान्य गणित-प्रयोग के लिए आप क्षमा करेंगे, किन्तु आप के विभिन्न कथनों की असंगति स्पष्ट करने के लिए उतना-सा गणित आवश्यक था।

"संगीतिका" (अंक ३, पृ० ५९) में जिन काल्पनिक गायक महोदय द्वारा आपने अपना ऊपर लिखा विधान स्वीकृत कराया है, जिसके कानों को आपने 'ग-म' अन्तराल को "सा-रि" अन्तराल से कम सुनने के लिए बाध्य किया है, उनकी अवस्था सचमुच दयनीय है।

× × ×

आपके अन्तर्ज्वलन का एक विस्फोट "प्रणव-भारती" कार के प्रति द्विजिह्वता के आक्षेप के रूप में हमारे सामने है। ("संगीत", फ़रवरी १९६० अंक, पृ० ३१) इस आरोप का प्रतिघोष प्रस्तुत करने की हमारी कोई कामना नहीं है। किन्तु आपके अपने लेखों में जो परस्पर विरोध स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है, उसके कुछ उदाहरण यहां प्रासंगिक होंगे। यथाः—

१—मूर्छना—सिद्धांत सम्बन्धी कथन

एक स्थल पर आप लिखते हैं :—

"मूर्च्छना-सिद्धांत का आश्रय लेकर जिन रागों या जातियों का प्रतिपादन किया जाता है, उनमें स्वरों की संज्ञाएं कदापि नहीं बदलतीं।" (संगीत-फ़रवरी १९६०-अंक, पृ० २७)

दूसरी ओर आप कहते हैं :—

"बागेश्री षड्जग्राम के षड्ज की मूर्च्छना का राग है और भीमपलासी मध्यम ग्राम के ऋषभ की मूर्च्छना का राग है और दरबारी षड्जग्राम के पंचम की मूर्च्छना का राग है।" (संगीतिका अंक ३—पृ० ५३)

'प्रणव-भारती' में प्रतिपादित मूर्च्छना-सिद्धांत को ही यहां आप शब्द-भेद करके नवीन आविष्कार का रूप देना चाहते हैं, और नवीनता के मोह में 'प्रणव-भारती' से कुछ भिन्नता दिखाने के लिए ही यह कहते हैं कि मूर्च्छना में स्वरों की संज्ञा नहीं बदलतीं। किन्तु साथ ही दूसरी ओर यह भी कहते हैं कि अमुक स्वर की मूर्च्छना से अमुक राग होता है। स्वरों की संज्ञाएं बदले बिना इन मूर्च्छनाओं में से ये राग कैसे प्राप्त हुए ? इस प्रश्न का क्या उत्तर है ? आपके इन दोनों कथनों की असंगति कैसे मान्य हो सकती है ?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

२—स्व० पं० भातखण्डे के प्रति दृष्टिकोण

आपने 'प्रणव-भारती'कार पर, पं० भातखण्डे के प्रति अन्याय करते का आरोप लगाया है। ("संगीत" फ़रवरी १९६० अंक, पृ० ३४)

यहाँ आपके द्वारा पूज्यपाद गुरुदेव को लिखे हुए एक पत्र का अंश उद्धृत करने से आपके परस्पर-विरोधी कथन सामने आ जाएँगे। एक पत्र में आपने लिखा था :—

"भातखण्डेजी के विचारों से संबद्ध तन्त्री में आपने जिस धैर्य एवं शालीनता का परिचय दिया है, वह आपकी महत्ता एवं गौरवशालिता का द्योतक है।"

अवसरवादिता की नीति के अनुसार आज आप पं० भातखण्डे को "श्रद्धेय पूर्वज और भावी पीढ़ियों के लिए प्रेरक एवं अनुपम जिज्ञासु" कहते हैं। ("संगीत" फ़रवरी १९६० अंक, पृ० ३४)। किन्तु अन्य स्थलों पर उनका नाम बिना ही उनके प्रति आप जो कटु कटाक्ष किया करते हैं, वे आपकी दोहरी चाल के परिचायक हैं। (द्रष्टव्य "संगीतिका" अंक ३, पृ० ५३,[1] ५५-५६[2])

प्रायः चार वर्ष पूर्व वह समय था जब आप "भातखण्डेवाद कसौटी पर" इस शीर्षक से एक लेखमाला के प्रणयन का निश्चय किए हुए थे और "पं० भातखण्डे की मरण-कुण्डली" के नाम से ऐसे उद्धरणों का संकलन किए बैठे थे जिनका विरोध करने का आपका दृढ़ संकल्प था। तब आप पं० भातखण्डे के विचारों का खण्डन करके ही भारतीय संगीत-क्षेत्र में अपनी प्रतिष्ठा जमाने के स्वप्न देखते थे। किन्तु परिस्थितियों को देखकर आप शीघ्र ही चेत गए और यह समझ गए कि अवसरवादिता के आदेशानुसार पूर्व-संकल्प का त्याग ही आपके लिए श्रेयस्कर होगा। अतः आपने एक ओर से पं० भातखण्डे के प्रति सम्मान-प्रदर्शन का दम भरना आरम्भ किया, स्वयं अपने को उनका अवशिष्ट कार्य पूरा करने के लिए बद्ध-परिकर घोषित करना-कराना शुरू किया और दूसरी ओर अपनी प्रतिष्ठा जमाने के लिए उनका नामोल्लेख किए बिना ही, उनके प्रति आक्षेप भी जारी रखे।

इन सबके विपरीत, "प्रणव-भारती" में पं० भातखण्डे के उचित सम्मान की रक्षा करते हुए स्पष्ट और असंदिग्ध भाषा में, अपरोक्ष रूप से, उनके द्वारा प्रचारित मान्यताओं का नीर-क्षीर विवेक से विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है, और साथ ही निर्भीक भाव से उनकी भ्रान्त धारणाओं का निरसन करते हुए सत्यपथग्राही ग्रन्थकार का पवित्र कर्तव्य-पालन किया गया है।

असम्मान-प्रदर्शन का वास्तविक दोषी कौन है, और सत्य को अनावृत रूप से प्रकाशित करने का साहस किसमें है, यह निर्णय करने का भार विज्ञ पाठकों पर ही छोड़ देना उचित होगा।

३—"प्रणव-भारती" कार के प्रति सम्मान और असम्मान का भाव प्रदर्शन।

"प्रणव-भारती" कार के निकट आने के उद्देश्य से एक पत्र में आपने उन्हें लिखा—

"आप महान् साधक हैं.....आपने देश विदेश में भारतीय-संगीत की विजय पताका फहराई है.....।"

---

१ ".....जी ने क्या ग़लत लिखा है ?" यों कहकर ४०५ कंपन का धैवत मानने के लिए पं० भातखण्डेजी के प्रति कटाक्ष।

२ ".....संगीत में एक ऐसे सम्प्रदाय की शिष्य-परम्परा में है, जिसके प्रवर्तक ने नाट्यशास्त्र को अपने दर्शन से कृतकृत्य किए बिना ही भरत को अस्पष्ट घोषित कर डाला और उनका उपहास किया है।" इस प्रकार पं० भातखण्डे के प्रति परोक्ष उपहास।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एक अन्य पत्र में लिखा :—

"भारतवर्ष के कलाकारों में सत्य साधक केवल आपको मानता हूँ, क्योंकि आप सनातन सिद्धांतों को जीर्ण या निरुपयोगी नहीं मानते, अपितु उनकी खोज में अपने जीवन का बहुमूल्य समय दे चुके हैं, दे रहे हैं।"

पूज्यपाद गुरुदेव के निकट आने के उपरिलिखित उद्देश्य में जब आपको अपने ही उपजाए हुए व्यवधानों के कारण सफलता न मिली, तब आपने उनके प्रति जो रुख अपनाया और अपनी लेखनी को विपरीत दिशा में जो मोड़ दिया, वह 'संगीत' के पाठकों के सम्मुख है। (विशेषतया द्रष्टव्य 'संगीत' फ़रवरी १९६० अंक पृ० ३४ का अंतिम भाग)

शास्त्र की सैद्धांतिक चर्चा छोड़कर आप 'प्रणव–भारती' कार के विश्वमान्य कलाकार–व्यक्तित्व पर कीचड़ उछालने लगे। 'संगीत' में प्रकाशित जिस अंश की ओर ऊपर पाठकों का विशेष ध्यान दिलाया गया है, उसमें 'आलोचना' का जो घोर निम्न स्तर आपकी ओर से उपस्थित है, उस भूमिका तक उतर आने में आपको तनिक भी द्विधा नहीं हुई, यही आश्चर्य का विषय है। 'कृति' पर मिथ्या दोषारोपण से भी जब आपके ज्वलनशील चित्त को शांति नहीं मिली तब आपने 'कर्ता' पर निकृष्ट कोटि के व्यक्तिगत आक्षेप का अस्त्र धारण किया। इस परम शूरवीरता के लिए क्या कहा जाय ? "अविगत गति कछु कहत न आवै।"

एक बार आपने यह शिकायत प्रकाशित की कि पूज्यपाद गुरुदेव के प्रति आपने अपने पत्रों में जो "शिष्टता" प्रदर्शित की थी, उसका अर्थ "शिष्यता" लगा लिया गया और उन्होंने आपको अपना शिष्य घोषित कर डाला। ("संगीतिका अंक ३-पृ० ५२) "शिष्यता" की यह घोषणा आपने कहाँ से सुनी या पढ़ी, कुछ बता सकेंगे क्या ?

शिष्टता-प्रदर्शक जो वाक्य आप किसी स्वनिर्मित योजना के अनुसार लिख चुके थे, उनके लेखन के बाद में अपनी योजना को असफल देखकर आपको उस शिष्टता-प्रदर्शन के लिए जो वास्तविक अनुताप हुआ, अपनी लेखनी द्वारा सत्य का प्रकाशन कर बैठने से आपको जो पश्चात्ताप हुआ, उसी का प्रतिफल इस रूप में प्रकट हुआ कि आपको अपनी कल्पना में ऐसा प्रतीत होने लगा मानों आपको शिष्य घोषित किया जा रहा है। किन्तु आपको भला 'शिष्यता' की चिंता क्यों हो आई ? ऐसे प्रभूत पराक्रमशाली व्यक्ति को अपना शिष्य घोषित करने करने की प्रवृत्ति, किसी भी सुप्रतिष्ठित गुरु को त्रिकाल में भी क्यों होने लगी ? किसी भी समर्थ गुरु के गौरव को आपकी शिष्यता द्वारा अलंकृत होने की स्पृहा तो क्या, कल्पना तक नहीं आ सकती, इतना विश्वास तो आप अवश्य रखें। "शिष्यता" आपके बाह्य अंचल को भी स्पर्श नहीं कर सकेगी।

❀ ❀ ❀

अचल पर्दों वाली सरस्वती-वीणा से "प्रणव भारती"कार का परिचय नहीं है, यह नया अस्त्र प्रयोग आपने किया है। ('संगीत' फ़रवरी १९६० अंक, पृ० २६)। प्रायः पचास वर्षों से जो व्यक्ति भारत भर के संगीत सम्मेलनों में सम्मिलित होता रहा हो, सभी प्रान्तों और प्रदेशों के पुरानी पीढ़ी के गण्यमान्य गायक-वादकों से जिसका व्यक्तिगत परिचय रहा हो, उसके प्रति ऐसे निराधार आक्षेप किस सत्य-प्रेमी को मान्य होंगे ? यहाँ कुछ नामोल्लेख कर दूँ तो उचित होगा।

इन्दौर वाले उस्ताद बन्दे अली खाँ साहब (वीनकार) के पट्टशिष्य उस्ताद मुराद खाँ अपने पुत्र की मृत्यु से दुःखी होकर एक बार महीने भर तक भड़ौंच में पूज्यपाद गुरुदेव के घर पर ठहरे थे। कलकत्ता-निवासी उस्ताद दबिर खाँ साहब से तो उनका प्रगाढ़ परिचय है ही। इनके अतिरिक्त धर्मपुर के हिज हाइनेस महाराज मोहनदेवजी के लघु भ्राता श्रीमान् प्रभात देवजी जो स्वयं वीनकार थे, उनके साथ पूज्य गुरुदेव का प्रायः चालीस वर्ष

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रगाढ़ संबंध रहा है। मैसोर राज्य के वादक-प्रवर "वीणा-शेषण्णा" से भी उनका विशेष संपर्क रहा है। इसलिए उत्तर-दक्षिण की वीणाओं से "प्रणव भारती"कार का कैसा और कितना परिचय है यह बताने की आवश्यकता नहीं है।

"प्रणव भारती" तथा "संगीतांजलि" में अन्य वीणाओं को छोड़कर सितार को ही दो ग्रामों की स्थापना के लिए क्यों ग्रहण किया है, इसके कारणभूत सिद्धांत पाठकों के स्पष्ट बोध के लिए उल्लिखित करना उचित होगा। यथा :—

(१) सितार आज का सर्व-प्रचलित सारिका-वाद्य है, इसलिए उसी पर दोनों ग्रामों की स्वर-स्थापना सर्व-साधारण को सुलभ रूप से ग्राह्य हो सकती है। जिन वाद्यों का आज प्रचार तो क्या, जिनकी आकृति तक आज किसी पुरातत्व संग्रहालय में भी देखने को न मिलेगी, उन वाद्यों की विपुल चर्चा के घटाटोप में सामान्य पाठकों को उलझा कर अपनी गृहीत मान्यताओं का मनमाना लेखन 'प्रणव भारतीकार' ने नहीं किया है। इसलिये उन्होंने आज के सर्व-सुलभ और सर्व-परिचित वाद्य सितार पर ही भरतोक्त उभय-ग्राम की स्वर-स्थापना दिखाई है।

(२) सितार की सारिकाएं चल होती हैं जो आवश्यकतानुसार खिसकायी जा सकती हैं। इसलिए अचल पर्दों वाली सरस्वती वीणा की अपेक्षा सितार में संवाद-सिद्धान्त के अनुसार पर्दों के स्थानों में अल्पाधिक परिवर्तन की सुविधा प्राप्त है। अचल पर्दों वाले वाद्यों में तो तार को खींचकर ही उन स्वर-स्थानों की प्राप्ति की जाती है, जो कि अचल पर्दों पर उपलब्ध नहीं है। खींचकर निकाले हुए स्वर प्रत्यक्ष वादन-क्रिया में भले ही उपयोगी हों, किन्तु स्वर-स्थापना के शास्त्रीय प्रयोगों के लिए उनका विशेष उपयोग नहीं है। इसीलिए चल-सारिकायुक्त सितार को ही ग्रहण किया गया है।

× × ×

'संगीत रत्नाकर' में उल्लिखित "च्युत षड्ज," और "च्युत मध्यम" का रहस्य "प्रणव-भारती"कार की समझ में नहीं आया है ऐसा आपका कथन है। ("संगीत" फ़रवरी १९६०, अंक, पृ० ३३) किन्तु स्वयं आपने भी इन च्युत स्वरों के स्पष्टीकरण से पाठकों को कृतार्थ नहीं किया है। केवल एक स्थल पर आप कहते हैं कि च्युत षड्ज और "च्युत मध्यम" स्थिर स्वर नहीं होते ("संगीत" फ़रवरी १९६० अंक, पृ० ३४)। पाठकों से मेरा अनुरोध है कि वे 'प्रणव-भारती' का पृ० २१२ देखें। वहां स्पष्ट उल्लेख है कि षड्ज और पंचम के पूर्व वाली श्रुतियां कभी स्थिर स्वर के रूप में प्रयुक्त नहीं होतीं। उस उल्लेख का अपहरण करके फिर यह कहना कि इन स्वरों का रहस्य 'प्रणव भारती'कार को अविदित है, यह कहां तक उचित है, अनुसंधान क्षेत्र की मर्यादाओं के कितना अनुरूप है, यह पाठक स्वयं निर्णय करें।

× × ×

ऐसा लगता है कि पाश्चात्य "डायाटोनिक स्केल" तथा "नेचरल स्केल" में जो पार्थक्य है वह आपकी जानकारी के बाहर रहा है। इसीलिए आप "नेचरल स्केल" के स्थान पर "डायाटोनिक स्केल" इस नाम का अबाध प्रयोग किया करते हैं। (उदाहरण के लिए द्रष्टव्य "संगीत" फ़रवरी १९६० अंक, पृ० ३१ तथा "संगीतिका" अंक ३ पृ० ५५)।

यह सर्व विदित है कि "डायाटोनिक" इस नाम का अर्थ यही है कि उसमें "स-म" और "प-सं" इन चतुःसंघातों में से प्रत्येक में दो-दो गुरु-स्वरों (Major tones) का प्रयोग होता है। इसीलिए "डायाटोनिक स्केल" में $\frac{८१}{६४}$ का कृत्रिम गांधार प्राप्त होता है। अर्थात् षड्ज से ऋषभ का जो गुरु-स्वर अन्तराल है वही अन्तराल ऋषभ-गांधार के

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बीच स्थापित करके "डायाटोनिक स्केल" की रचना की गई है और वही अवस्था उत्तरांग में भी है, यानी धैवत का पंचम से और निषाद का धैवत से गुरु-स्वर का अन्तराल है। स्पष्ट है कि हमारे बिलावल के शुद्ध सप्तक का इस "डायाटोनिक स्केल" से कोई सम्बन्ध नहीं है। दूसरी ओर "नेचरल स्केल" में प्रकृत गान्धार $\frac{५}{४}$ प्राप्त है और धैवत का भी पंचम से लघु-स्वर (Minor tone) का अन्तराल है। इसी "नेचरल स्केल" के साथ हमारा बिलावल का शुद्ध स्वर-सप्तक एक-रूप है।

पायथागोरस-प्रवर्तित "डायाटोनिक स्केल" तो यूनानी संगीत का आधार था, हमारे प्राकृतिक शुद्ध स्वर सप्तक (बिलावल) के साथ उसका कोई साम्य नहीं है। किन्तु आप न जाने क्या समझकर "डायाटोनिक स्केल" के साथ बिलावल के शुद्ध स्वर सप्तक का ऐक्य-सम्बन्ध जोड़ते हैं।

अन्यत्र आप कहते हैं कि यूनानी लोग "सारेगम" और "मपधनी" इन दो टुकड़ों को पृथक्-पृथक् इकाइयाँ मानते थे। ("संगीत" फ़रवरी १९६० अंक पृ० ३०) पाठक कृपया ध्यान दें कि सप्तक को नहीं, बल्कि अष्टक को "सरेगम" और "पधनिसं" ("मपधनि" नहीं) यों दो टुकड़ों में विभक्त करके यूनानी पद्धति में ग्राम-रचना की गई है। यहाँ भी आपका स्खलन दृष्टिगोचर हो आता है।

इस प्रकार "नेचरल स्केल" के स्थान पर "डायाटोनिक स्केल" को आसीन करके और अष्टक के चतुःसंघातों का भ्रामक रूप उपस्थित करके आप पाठकों को कैसी दिशाभूल करते हैं, यह स्पष्ट ही है।

× × ×

आपने इस बात का विपुल प्रचार किया है कि "च्युत पंचम" का गायन में प्रयोग करने की एक नूतन विधि के आप "आविष्कारक" हैं।

तानपूरे के पहले तार को पंचम की बजाय मध्यम में मिलाकर दरबारी गाने का आप विधान देते हैं और दरबारी को षड्जग्राम की पंचमादि मूर्च्छना का राग घोषित करते हैं। षड्जग्राम की "पंचमादि" मूर्च्छना में त्रिश्रुति पंचम प्राप्त होता है, यह सिद्धांत तो आपने "प्रणव भारती" से उठाकर पचा लिया, किन्तु प्रत्यक्ष गायन में त्रिश्रुति पंचम के संवादसिद्ध प्रयोग की जो विधि "प्रणव-भारती" के पृ० १०३ पर बताई गई है वह या तो आप के लिए अगम्य रही और या तो फिर अपना कुछ नवीन आविष्कार प्रस्तुत करने के मोह में आपने उस विधि को अग्राह्य माना। अपहृत मूलधन के आधार पर जैसे धन की वृद्धि संभव नहीं, उसी प्रकार अपहृत सिद्धांतों के आधार पर "नवीन अविष्कार" करने की प्रवृत्ति से कभी सत्य का उद्घाटन नहीं हो सकता।

पाठकों के सौकर्य के लिए यहां "प्रणव-भारती" में उल्लिखित विधि को संक्षेप में स्पष्ट कर देना आवश्यक है। तानपूरे के प्रथम तार को पंचम में न मिलाकर मध्यम में मिलाने से संवाद-सिद्धांत के अनुसार त्रिश्रुति ऋषभ का ही सर्वथा प्रयोग होगा, चतुःश्रुति ऋषभ का नहीं, यह "प्रणव-भारती" में पूर्णतया स्पष्ट किया गया है। (द्रष्टव्य पृ० ९१,१०३) साथ ही यह भी बताया गया है कि तानपूरे की उसी अवस्था में षड्जग्राम की मूल स्वरावलि का प्रयोग संभव है। षड्जग्राम का 'सा-रि' ही मध्यम ग्राम में 'म-प' की संज्ञा पता है, इस भरत-प्रतिपादित सिद्धांत को प्रयोग-सिद्ध बनाने के लिए "प्रणव-भारती" में कहा गया है कि तानपूरे में मिले हुए षड्ज के पंचम को आरंभ-स्थान मानकर गाने से षड्जग्रामिक प-ध-नी-स-रि-ग (अं गां) म-प ही संज्ञा-भेद से मध्यम-ग्रामिक सा रि-ग-म-प ध नी-सं बन जाएंगे। दूसरे शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि षड्जग्रामिक स-रि-ग (अं० गां०) म-प-ध-नी ही क्रमशः मध्यम ग्रामिक म-प-ध-नी-स-रे-ग की संज्ञा पा जाएंगे। इस प्रकार संवाद-सिद्ध रूप से त्रिश्रुति पंचम की प्राप्ति हो जायेगी।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किन्तु आप कहते हैं कि तानपूरे के प्रथम तार को मध्यम में मिलाकर और फिर तानपूरे में मिले हुए षड्ज को ही षड्ज मानकर दरबारी गाया जाय तो पंचम उतरा हुआ लगेगा। "प्रणव-भारती" से अपहृत सिद्धांत को मनमाने ढंग से लागू करके आपने दरबारी को षड्ज-ग्राम के पंचम की मूर्च्छना का राग बताया है, किन्तु साथ ही आप यह भी कहते हैं कि मूर्च्छना में स्वरों का संज्ञा-भेद आपको स्वीकार नहीं है, षड्जग्राम के पंचम को षड्ज मानकर तदनुसार सभी स्वरों की संज्ञाएं बदले बिना उस मूर्च्छना से त्रिश्रुति पंचम वाली स्वरावलि भला कैसे प्राप्त होगी ?

भरत ने तो "तुल्यश्रुत्यन्तरत्वाच्च संज्ञान्यत्वम्" ऐसा कहकर स्पष्ट किया है कि षड्जग्राम और मध्यमग्राम में तुल्य-श्रुत्यन्तर होते हुए भी संज्ञा-भेद के कारण भिन्नता संपन्न होती है। इस भरतोक्त संज्ञा-भेद का जो स्पष्टीकरण "प्रणव-भारती" में प्रस्तुत है, जिससे शताब्दियों तक अस्पष्टता के आवरण से आच्छन्न मध्यम-ग्राम प्रत्यक्ष प्रयोगगत रूप से प्रकाश में आया है, उसे अपहृत करके फिर कुछ भिन्न बात कहने के लिए आपने भरतोक्त "संज्ञा-भेद" के सिद्धांत का परित्याग करके यह असम्भव विधान देना आरंभ किया है कि तानपूरे के षड्ज को ही आरंभ-स्थान मानकर त्रिश्रुति पंचम प्रयुक्त किया जा सकता है। आपके इस विधान के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें चिन्तनीय है जिनकी ओर पाठकों का विशेष ध्यान दिलाना आवश्यक है :—

(१) दरबारी गाते समय तानपूरे पर पंचम के बजाय मध्यम मिलाने का क्या आधार है ? भारत भर में कोई भी गुणी जन दरबारी गाने के लिए पंचम के सिवाय और कोई भी स्वर तानपूरे के पहिले तार पर नहीं मिलाते। इसलिए इस नवीन विधान को न तो प्रचार का ही आधार प्राप्त है और न ही दरबारी में पंचम की अपेक्षा मध्यम का ऐसा बाहुल्य है जिसके कारण मध्यम मिलाना उचित माना जाए।

(२) अस्तु, अकारण ही सही, यदि थोड़ी देर के लिए मध्यम मिला भी लिया जाय तो उसका परिणाम यह होगा कि ऋषभ चतुःश्रुति की बजाय त्रिश्रुति लगने लगेगा, किन्तु उस ऋषभ के ही कारण क्या पंचम कभी भी त्रिश्रुति हो सकता है ? त्रिश्रुति ऋषभ तो षड्ज-ग्राम में भी है, तो फिर षड्ज-ग्राम में भी पंचम त्रिश्रुति क्यों न हो ? षड्ज-पंचम के सार्वभौम और सार्वकालिक संवाद संबंध को भंग करने का अधिकार त्रिश्रुति ऋषभ को तो भरत ने भी नहीं दिया है। उन्होंने भी संज्ञा-भेद से ही त्रिश्रुति पंचम की निष्पत्ति की है और पंचम के अपकर्ष को सारणा-क्रिया तक ही सीमित रखा है।

(३) जब तक षड्ज को ही आरंभ स्थान माना जायगा तब तक षड्ज के साथ संवाद करनेवाले पंचम के स्थान पर संवाद रहित त्रिश्रुति पंचम कभी भी सुरीले कण्ठ से नहीं ही लग सकता, और न ही वह सुरीले कान को स्वीकार ही हो सकता है। षड्ज को 'टोनिक' मानते हुए सर्वथा संवादी पंचम ही सुरीले कण्ठ से निनादित होगा, यह त्रिकाल अबाधित सत्य है। हां, यदि किसी का स्वर-ज्ञान इतना दुर्बल हो कि पंचम के स्थान पर मध्यम मिला देने पर उसे पंचम का सच्चा स्थान ही न मिल सके, तब तो ऐसे अधकचरे बेसुरे गायाक ग्राम और मूर्च्छना के प्रयोग करने के अधिकारी ही नहीं कहला सकते। तानपूरे का प्रथम तार भले ही किसी भी स्वर में मिला हो, किन्तु जोड़ के तारों में से स्वतः जो सच्चा पंचम उद्भूत होता है, उससे कान मूंद कर च्युत पंचम लगाना किसी भी सुरीले गायक के लिए कभी भी सम्भव नहीं है। ऐसा बेसुरापन भला किसे स्वीकार होगा ? और फिर उस बेसुरेपन को 'प्रमाण-श्रुति' का मान घोषित करना तो और भी आश्चर्यकर है।

(४) आप यह भी कहते हैं कि त्रिश्रुति पंचम के सफल प्रयोग के लिए यह शर्त है कि अवधान दरबारी के 'रूप' की ओर हो, किसी स्वर विशेष पर न हो। ('संगीत' सितम्बर १९५९ अंक, पृ० ५१) अर्थात् तानपूरे से उत्थित सहायक नादों में स्पष्ट रूप से सुनाई देनेवाले पंचम की ओर से आप कान मूंदने को कहते हैं। स्वर के प्रति अनवधान की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यह आज्ञा किस गुणीजन को मान्य होगी ? साथ ही यह भी ध्यान रहे कि दरबारी का जो लक्ष्य-सम्मत रूप है उसमें चतुःश्रुति ऋषभ और चतुःश्रुति पंचम का ही स्थान है। इसलिए दरबारी के रूप की ओर अवधान रखने से भी त्रिश्रुति ऋषभ–पंचम की प्राप्ति नहीं हो सकती।

(५) आप कहते हैं कि स्वरों में संवाद–सम्बन्ध के अलावा जो अनुवाद सम्बन्ध है, वही षड्ज और त्रिश्रुति पंचम के बीच स्थान पाता है। किन्तु संवाद सम्बन्ध प्रबल है या अनुवाद सम्बन्ध ? इस प्रश्न का क्या उत्तर है ? क्या अनुवाद–सम्बन्ध बलात् उपस्थित होकर संवाद–सम्बन्ध को अभिभूत करके उसे तिरोहित कर सकता है ? जहां कोई संवादी या विवादी अन्तराल न हो, वहीं पर अनुवाद की सत्ता मानी गई है। अनुवाद को इतनी शक्ति कब से मिल गई कि वह षड्ज–पंचम के सर्व–प्रमुख संवाद को निर्मूल करके स्वयं प्रतिष्ठित हो जाए ?

आपने यह कहा है कि स्वरों के अनुवाद–सम्बन्ध से 'प्रणव–भारती' कार का परिचय नहीं है (?) ('संगीत फ़रवरी १९६० अंक, पृ० ३०) एतदर्थ आप का हार्दिक धन्यवाद !

(६) दरबारी में त्रिश्रुति पंचम बलात् प्रमाणित करने के उद्देश्य से आपने जिस द्राविड़ प्राणायाम का आश्रय लिया है, उसका स्वल्प उदाहरण पाठकों के सौकर्य के लिए आवश्यक है। आप कहते हैं कि दरबारी में अति कोमल धैवत का उपयोग होने के कारण पंचम से उस धैवत का दो श्रुति अन्तर बनाने के लिए पंचम को उतारना आवश्यक है। उसी अति कोमल धैवत के साथ संवाद करनेवाले अति कोमल गान्धार का भी ऋषभ से दो श्रुति का अन्तर सिद्ध करने के लिए ऋषभ का भी त्रिश्रुति होना आवश्यक है। (द्रष्टव्य 'संगीतका' अंक ३, पृ० ५५)

इस प्रसंग में हमारा वक्तव्य यही है कि चतुःश्रुति ऋषभ और चतुःश्रुति पंचम से एक श्रुति के अन्तर पर स्थित अति कोमल गान्धार और धैवत के प्रयोग में कहीं कोई भी बाधा नहीं, क्योंकि यह मान्यता ही निराधार है कि दो स्वरों के बीच कम से कम दो श्रुति का अन्तराल होना ही चाहिए। एक श्रुति के अन्तर से प्रयुक्त होने वाले षट् श्रुति (कोमल) और सप्त श्रुति (शुद्ध) गान्धार सर्व विदित है। इन दोनों गान्धारों का प्रयोग कई रागों में होता है। तोड़ी और विभास के अति कोमल ऋषभ धैवत, षड्ज-पंचम से एक एक श्रुति के अन्तर पर ही स्थित हैं, इसे कौन गुणी अस्वीकार करेगा ? अतएव दरबारी के अति कोमल गान्धार धैवत को निष्पन्न करने के लिए ऋषभ पंचम को बलात् त्रिश्रुति बनाने की कोई आवश्यकता नहीं, बल्कि उस प्रकार का विचार अशास्त्रीय तथा लक्ष्य-विरुद्ध है। अस्तु।

(७) दरबारी में ऋषभ को त्रिश्रुति बनाने के लिए आपने एक और युक्ति का आश्रय लिया है और वह यह कि दरबारी में 'नि् रि-सा' यह स्वर-विन्यास बार बार प्रयुक्त होता है, इसलिए मन्द्र निषाद से ऋषभ का संवादी अन्तराल सप्त श्रुति निष्पन्न करने के लिए ऋषभ का त्रिश्रुति होना आवश्यक है। इस संबंध में यह प्रश्न विचारणीय है कि दरबारी में निषाद और षड्ज का अन्तराल चार श्रुति कैसे मान लिया गया ? तानपूरे पर पंचम मिला कर दरबारी गाने का जो सर्वसम्मत लक्ष्य है, उसके अनुसार पंचम से षट् श्रुत्यन्तर से संवाद करने वाला जो निषाद स्वाभाविक रूप से प्रयुक्त होता है, उसका षड्ज से तीन श्रुति का ही अन्तराल है, चार श्रुति का नहीं। उस निषाद से चतुःश्रुति ऋषभ का सप्तश्रुति अन्तराल स्वतः निष्पन्न है। उसकी निष्पत्ति के लिए किसी द्राविड़ प्राणायाम की आवश्यकता नहीं है।

त्रिश्रुति पंचम के इस प्रकरण के उपसंहार में यही निवेदन है कि ग्राम-मूर्च्छना के संबंध में उक्त प्रकार के असम्भव विधानों का एक मात्र सम्बल है अपठित गायक-वादकों का भोलापन, जिसके कारण वे लोग या तो इन विधानों का तर्क-सम्मत विरोध करने के पचड़े में पड़ना नहीं चाहते और या फिर उसकी तह में उतर कर उनकी असंगति समझने में असमर्थ रहते हैं। वास्तव में स्वरज्ञ और शास्त्रज्ञ गुणी–जनों, शिक्षित और क्रिया–कुशल गायक–वादकों की सभा में इस प्रकार के विधानों पर विचार होना चाहिए। तभी सत्यानृत का निर्णय हो सकेगा, और तभी भोली जनता की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दिशा–भूल और बुद्धि–भेद उपजाने की प्रवृत्ति का अन्त होगा। कोई भी क्रिया–कुशल गुणी इस च्युत–पंचम को कभी भी स्वीकार नहीं करेगा, इसमें सन्देह को तनिक भी अवकाश नहीं।

❀ ❀ ❀

मध्यम–ग्राम के सम्बन्ध में आप कहते हैं :—

"सरस्वती वीणा के ग्–म–प–ध्–नि–सा–रि' पर मध्यमग्रामिक सा–रि–ग्–म–प–ध नि् मिल जाते हैं। (द्रष्टव्य 'संगीत' फरवरी १९६० अंक, पृ० २७)

इसलिए उक्त वीणा के गान्धार को मध्यमग्राम का आरम्भ–स्थान मानने का प्रसंग उठेगा।"

इस संबंध में हमारा वक्तव्य निम्नोक्त है :–

(१) सरस्वती वीणा के ग्–म–प–ध्–नि–सा–रि' में पंचम जब गान्धार का स्थान पाएगा तब मध्यम–ग्रामिक मूल गान्धार प्राप्त नहीं होगा, उसके बजाय अन्तर गान्धार प्राप्त होगा इस तथ्य को किस हेतु से आपने गोपनीय रखा है ?

(२) वीणा के गान्धार को मध्यम–ग्राम का आरंभ–स्थान मानने से भरत के इस मौलिक वचन की संगति कैसे बैठेगी, जिसके अनुसार षड्ज–ग्राम का षड्ज ही 'मध्यम–ग्राम' का मध्यम है ?

(३) 'प्रणव–भारती' से भिन्न या विपरीत मत का प्रतिपादन ही यदि आपका एक मात्र इष्ट कार्य हो तब तो बात दूसरी है, अन्यथा ऐसे निराधार विधानों से संगीत शास्त्र के अनुसंधान क्षेत्र को कितनी और कैसी 'सेवा' हो सकती है या हो रही हैं यह विज्ञ पाठक स्वयं ही समझ सकते हैं।

पूज्यपाद गुरुदेव ने दोनों ग्रामों की सितार पर स्थापना जिस प्रकार दिखाई है उसके लिए आपने कुछ वर्ष पूर्व एक पत्र में जो कुछ लिखा था, उसका यहाँ उद्धरण पाठकों के लिए रोचक होगा और उससे आपकी कलाबाजी भी स्पष्ट होगी। आपने पूज्यपाद गुरुदेव को लिखा था:—

"षड्ज-ग्राम एवं मध्यम–ग्राम सम्बन्धी आपकी स्थापनाएं ऐतिहासिक महत्व रखती हैं। इस सम्बन्ध में अनेक भ्रान्त धारणाओं का निराकरण सफलतापूर्वक हुआ है। सितार पर विशुद्ध षड्ज-ग्राम एवं मध्यम-ग्राम की अभिव्यक्ति तर्क-शुद्ध एवं असंदिग्ध है।"

❀ ❀ ❀

गाली प्रदान को अपने "प्रणव भारतीकार" की "टेकनिक" बताया है (संगीत फ़रवरी १९६० अंक पृ० ३४) किन्तु इस गाली प्रदान का एक भी उदाहरण क्या आप "प्रणव भारतीकार" की लेखनी या वाणी के प्रकाशनों से प्रस्तुत कर सकेंगे ? हाँ, स्वयं आपकी तर्क-शक्ति जब कुण्ठित हो गई है, सैद्धांतिक विचार-विनिमय का मार्ग जब आप स्वयं अवरुद्ध कर चुके हैं, तब निरुपाय के एक मात्र उपाय गाली-प्रदान की छत्र छाया में आपने जो आश्रय लिया है, वह सबके सामने प्रकाशित है। यह आपका परम सौभाग्य है कि आपने अपनी इस प्रवृत्ति के लिए ऐसा अनुरणनहीन प्रदेश चुना है, जहां ऐसा कोई गुम्बद नहीं जिसमें से आपको अपने "घोष" का "प्रतिघोष" सुनाई पड़ने की तनिक भी आशंका हो। आप पूर्ण निश्चिन्त रह सकते हैं। ऐसी निश्चिन्तता भला कितने गाली-प्रदाताओं के भाग्य में में बदी होगी ?

❀ ❀ ❀

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

MUSIC—A USEFUL PRODUCT OF CIVILIZATION

By

Prof. G. N. Goswami

An unbiased historian would say that in India as in other lands, music took birth in the huts of villagers. In the days of Upanishads it was held in divine esteem and so any religious rite was incomplete without adequate music. A similar thing occurred in Europe in the early period in which St. Ambrose and Pope Gregory made reforms in music which was till then a product of Greek pedantism. Then came the age of kings and nobles to whom wealth and even culture meant nothing till their interest was roused. Imagination, with wide divergence from the classical norms was at an advantage in this age.

With the dawn of democracy, civilization took a sharp turn. So in the present era the common man is conscious of his rights, whether economic or cultural. This is why side by side with the revival of folk and classical music we find the birth of commercial film music, a sure source of entertainment. The potentiality of music is not by any means exhausted here. With the growth of knowledge man is learning and relearning the instrumentality of facts, hitherto unknown. Just as in the hills the higher the ascent the more enchanting the view is, so with a clearer understanding of the society and the social forces we are reassessing the field of music.

In India, the truth that music has a much bigger field than merely serving as a means of enjoyment for the leisured class, was known even in the hoary past. Its spontaneous effect on the human mind and the grasp over it made it an instrument of religious education in the East and West alike. In fact, music was considered to be a palatable ingredient which could render the dry teachings of religious ethics acceptable to the common man. Much later do we find the spell of music extending to the animal kingdom as well. Thus Rag Todi depicted in Rajputana School of art represents a helpless deer transfixed by the music of VEENA. Our esoteric TNTRA SHASTRA made use of music even in taming uncontrolled natural forces. Swami Haridas, Tansen and Jaideva are the names that are frequently referred to in this connection. Sri Swami Ramasaranand (Sri M. R. Shastri of KOVVUR) is doing some intensive research in this line.

In India, strangely enough, the subject farthest from sentiments i. e. Mathematics has closely been associated with music and rhythm. Mathematical theorems were chanted in verses, rich in literary value, composed by LEELAWATI a mathematician of

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

rare genius. Even today do we find young folks trying to remember multiplication tables in music.

In foreign lands, specially in America, music is applied more successfully in integrating personalities, an achievement that is otherwise impossible by purely psychological or medical processes. It has been found that in factories, music could bring about a sharp upward trend in production. Musicotherapy is a subject that is gaining considerable importance in ths present age. Clinical Psychology recommends the application of music in releasing tension and in socialization. Speaking of the unconscious effects of sublimation Dr. J. M. Hadley remarks, "The reality of sublimation is confirmed by many clinical observations".

Very recently in India the effect of music on plant growth has been closely observed by Dr. Singh of Annamalai University. Pt. Onkar Nath Thakur, the famous vocalist of India. has done extensive research on the effect of music on animals. From his letter to the Director Krishi Bhavan, New Delhi, it can be learnt that he is confident that the music of blowing instruments could increase milk production of the cows appreciably, a fact that is drawing the attention of Banaras Hindu University music department. In the same context Panditji cites the unmistakeable influence of music on such fearful animals as snakes. So we should be proud of at least two unviersities of our motherland that are working in this direction.

That music as a subject is good for health was known in India long since. Doctors who are well versed in Yogic exercises hold that vocal music which requires deep breathing helps to build up the tone of the lungs, specially the upper chamber that is the cradle for dangerous wasting diseases. Exercises involved in dancing keep the body fit, a fact that is very true for Bharata Nāṭyam. This is why musicians and dancers of India, though so irregular in habits due to their professional activities, keep a comparatively better health than the average man. For the health of the average student music is golden.

Music has opened yet another channel for psychological study in "Tone Ma Farbe," It claims that music stimulates certain colour sensation in most men. Thus the domain of music is not confined to aural sensation alone; it extends to visual sensation as well.

So the fair companion of man, music is now emancipated from the bondage of limited scope. It is ready for service to humanity as are other useful subjects such as Psychology, Medical science, Chemistry and other applied arts. The 'laissez le faire' attitude of mind regarding music has got to be given a strong jolt to prepare the younger generation for a clearer understanding of the subject in relation to society in the making.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संगीत शिक्षालय और संगीत-शिक्षण

पं० विनयचन्द्र मौद्गल्य

संगीत-शिक्षण के क्षेत्र में संगीत-संस्थाओं के महत्व पर अनेक पहलुओं से विचार किया जा सकता है। अतः अपने विषय-क्षेत्र को हम संगीत संस्थाओं द्वारा अब तक किये गए प्रयत्न और सफलता तथा उनके भावी उद्देश्य-योजना-और कार्यक्रम की दृष्टि से दो मानों में विभाजित कर लें तो अनुचित न होगा। संगीत के पुनरुत्थान और प्रचार की दृष्टि से गत अर्धशतक में जो योगदान सभी संस्थाओं ने दिया है, उस सम्बन्ध में आज कुछ अधिक कहने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। यह नगर-नगर में संगीत विद्यालय स्थापित करने का ही शुभ परिणाम है कि लगभग चालीस-पचास वर्षों में ही संगीत फिर से सर्वत्र लोकप्रिय कला के रूप में आश्चर्यजनक रूप से फैल गया है। कौन नहीं जानता कि आज से कुछ ही वर्ष पूर्व संगीत एक हीन एवं गर्हित जीविका-वृत्ति का साधन मात्र बन कर रह गया था। संगीतकारों को सभ्य-समाज में न तो समादर प्राप्त था और न उन्हें चिन्ता थी कि वे अपने आचार-विचारों में परिष्कार करें। एक प्रकार के घटिया, अस्वस्थ और अभद्र लोकरंजन के रूप में संगीत गणिकाओं के केन्द्रों में प्रायश्चित्त-सा कर रहा था। ऐसे कठिन समय और परिस्थितियों में प्रातःस्मरणीय भक्तप्रवर स्वर्गीय पं० विष्णु-दिगम्बर पलुस्कर तथा महामनीषी स्वर्गीय पं० विष्णु नारायण भातखंडे सदृश महानुभावों ने संगीत शिक्षालयों की स्थापना द्वारा संगीत को पुनः कला और सुरुचि की दिशा में मोड़ा। तब से अबतक संगीत-शिक्षण से जन-साधारण में संगीत-रसास्वादन की क्षमता बढ़ा कर समय-समय पर विशाल संगीतोत्सवों का आयोजन कर श्रोता और कलाकार को निकटतर लाकर ये संगीत-संस्थाएं निरन्तर संगीत की सेवा कर रही हैं और यह कहा जा सकता है कि इस दृष्टि से एक मंजिल तय हो चुकी है।

अतः इस सम्बन्ध में और अधिक न कह कर अब हम संगीत के भावी विकास की दृष्टि से संगीतालयों की उपयोगिता के प्रश्न पर आ जाते हैं। इस प्रश्न पर विचार करते समय हमारे सम्मुख तीन मुख्य उद्देश्य हैं;—

पहला, संगीत-कला सुशिक्षित और सन्तुलित व्यक्तित्व के एक अंग रूप में विकसित हो, दूसरा नवीन प्रतिभा-सम्पन्न कलाकारों की खोज और उनका निर्माण और तीसरा है संगीत-शास्त्र के आधार-भूत सिद्धान्तों की तथा सौन्दर्य्य-शास्त्र की खोज।

इसमें से प्रत्येक उद्देश्य के सम्बन्ध में आगे हम विस्तार से विचार करेंगे।

प्रायः देखने में आया है कि अच्छे से अच्छे कलाकार जीवन के सही मूल्यों के प्रति सर्वदा उदासीन रहते हैं। अधिकांश के जीवन में एक तरह की विशृंखलता, अमर्यादा और उत्तरदायित्वहीनता लक्षित होती है। ऐसा तभी होता है जब हम कला को जीवन से पृथक् रूप में कल्पना कर लेते हैं। एक ओर तो हम संगीत को उदात्त कला या 'सलाब्म आर्ट' मानते हैं और दूसरी ओर कलाकारों को हम सबसे बड़ी कला, जीवन-कला से शून्य पाते हैं और कहा जाता है कि 'व्यक्तिगत चरित्र की ओर दृष्टिपात मत करिए, कलाकार की निपुणता को परखिए, कला तो कला के लिए है, आदि आदि—'। परन्तु ऐसी अटपटी बातें करना सचाई पर, अपनी कमजोरियों पर पर्दा डालना है, भ्रांति है। थोड़ा भी सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो कलाकार का व्यक्तित्व अपनी कला में अवश्य प्रतिबिम्बित होता दीखेगा। यूनान के प्रसिद्ध और प्राचीन विचारक प्लेटो ने तो यहां तक कहा है कि "किसी भी देश की संस्कृति और सभ्यता का अनुमान, उसकी संगीत-कला की अवस्था से लगाया जा सकता है।" जब हम भारतीय संगीत के गतन के इतिहास की ओर देखते हैं, तब इस कथन की सत्यता का हमें पूर्ण बोध होता है। आज भी चित्रपट संगीत का स्वरूप यह साबित करता है कि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सस्ते मनोभावों को व्यक्त करने के लिए ही उस ढंग के संगीत की विशेष उपयोगिता है। हम मानते हैं कि यह दृष्टि कला की साधना में सर्वाधिक मुख्य और महत्वपूर्ण है। कला का अर्थ यदि सौन्दर्योपासना है और संगीत का मधुर संवाद–तो जीवन के अनेक अंगों में परस्पर तारतम्य उत्पन्न करने में असमर्थ संगीत केवल स्वर–व्यायाम है—उससे न प्रेरणा मिल सकती है, न गम्भीर आनन्द। शिक्षणालयों का उपयोग जन–जीवन के साथ समरस होकर संगीत के प्रचार में खूब हुआ है और हो सकता है; अब नवीन कलाकारों के निर्माण के उद्देश्य को लीजिए। यह तो स्पष्ट ही है कि विविध विषयों के पाठ्यक्रम में संगीत सम्मिलित करने से या संगीत–शिक्षालयों में ही शिक्षा पाने से सभी विद्यार्थी तो कलाकार बन नहीं सकते। अधिकांश विद्यार्थी तो अच्छे रसिक श्रोता और ज्ञाता ही बन पाते हैं। लेकिन जो कुछ व्यक्ति ऐसा आक्षेप करते हैं कि संगीत विद्यालयों से अच्छे और ऊंचे कलाकार बन कर निकल ही नहीं सकते–वह ठीक नहीं। यह सही है कि घराने वाले कलाकारों के प्रति जो व्यक्तिगत ध्यान स्वयं उस्ताद, पिता या संरक्षक देता है, उतना ध्यान देना आम शिक्षक के लिए सम्भव नहीं होता। परन्तु अपनी संस्था की मान–प्रतिष्ठा और यश की आकांक्षा से शिक्षालयों के आचार्य और अध्यापक भी विद्यार्थियों के साथ परिश्रम करते हैं और फिर किसी होनहार विद्यार्थी को पाकर तो शिक्षकों को सहज ही आनन्द होता है।

अब रही व्यक्तिगत शिक्षण की बात। जो विद्यार्थी विशेष प्रतिभावान् हों उनका चुनाव करके उनके कण्ठ–धर्म को पहचानकर अथवा वादक विद्यार्थी की रुचि परखकर उसके अनुसार ही प्रारम्भ से अभ्यास करवा सकते हैं। किस प्रकार की गायकी—आलाप–प्रधान, तान–प्रधान अथवा लय–प्रधान—किसके लिये उपयुक्त है इसका विचार करके यदि छात्रों को उचित दिग्दर्शन मिले तो मुझे पूर्ण विश्वास है कि संगीत शिक्षालयों में भी अच्छे कलाकार बनकर निकल सकते हैं।

विद्यार्थियों के लिये भी आवश्यक होगा कि वे अपना अधिकांश समय संगीत–शिक्षा लेने, संगीत अभ्यास करने और उसी से सम्बद्ध विषयों में तथा साहित्य का अनुशीलन करने में लगाएं। छात्र में कण्ठमाधुर्य के साथ–साथ परिश्रम, लगन और अच्छी स्मरणशक्ति हो तभी वह सच्चे अर्थों में होनहार विद्यार्थी कहा जायगा।

एक और बाधा जिसका सामना गुरु–परंपरा वालों को कभी नहीं करना होता—प्रायः संगीत शिक्षालयों के छात्रों के सामने आती है, वह है माता–पिता द्वारा पूर्ण सहयोग का अभाव। क्योंकि विद्यार्थी की रुचि कितनी ही क्यों न हो यदि माता–पिता का सहयोग उसे न प्राप्त हो तो उसके अभ्यासादि की सुविधा नहीं बन सकती। इसके विपरीत यदि परिवार का सहयोग मिले तो माता–पिता इस बात की भी उचित देखभाल रख सकते हैं कि अधिक से अधिक समय का सदुपयोग हो सके। इस दृष्टि से गुरु–परंपरा–पद्धति में निश्चय ही कलाकार बनाने के लिये अधिक अनुकूलता है। परन्तु वहाँ इससे भी बड़ी एक अड़चन है कि उस्ताद लोग अपने परिवार के अतिरिक्त किसी को भी आसानी से शिक्षा नहीं देते। अतः बाहर के विद्यार्थी को उनसे विद्या–लाभ नहीं हो सकता। कुछ संगीत शिक्षालयों में इस दिशा में सराहनीय शुभ प्रयत्न किया भी और बड़े–बड़े घरानेदार संगीतज्ञों को बड़े–बड़े वेतन देकर भी नियुक्त किया। परन्तु यह कह सकना कठिन है कि वे अपने उद्देश्य में कहाँ तक सफल हुये।

संगीत शिक्षालयों को चाहिये कि वे आधुनिक, वैज्ञानिक साधनों की सहायता से इस अभाव को निर्मूल करें। 'टेप–रेकर्डर' की मदद से बड़े–बड़े कलाकारों के गायन–वादन का संकलन किया जाना चाहिये और बार–बार सुनकर उनसे बहुत कुछ ग्रहण किया जा सकता है। संगीत–शिक्षालयों की यह तो विशेषता है ही कि यहां संगीत–शिक्षा यन्त्रवत् न होकर सर्वांगीण बौद्धिक विकास के साथ–साथ दी जाती है। विश्लेषण की योग्यता रखने वाले मस्तिष्क को इन संकलित संगीत–रेकार्डों से बहुत सहायता मिल सकती है।

इस ढंग से एक और भी लाभ होने वाला है। गुरु परम्परा में जहाँ अपने अपने ढंग की विशेषतायें होती हैं। वहाँ अपनी अपनी न्यूनतायें भी पायी जाती हैं। कोई गायनशैली आलाप अंग के लिए प्रसिद्ध है तो तानें उसकी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शिथिल हैं और किसी में तानों का चमत्कार है तो आलाप का गाम्भीर्य वहाँ नहीं मिलता। टेप-रेकार्डर की सहायता से किए गए संकलन से हम प्रत्येक गायकी की विशेषता और न्यूनता का सूक्ष्म अध्ययन कर सकते हैं और इस प्रकार की विशेषताएं ग्रहण करके अपनी गायकी की विशेषता को अक्षुण्ण रखते हुए भी समन्वय दृष्टि से एक संतुलित गायनशैली का विकास हो सकता है। स्वर्गीय पं० दत्तात्रेय विष्णु पलुस्कर की गायकी इस समन्वय दृष्टि का एक आदर्श उदाहरण है। ऐसे अनेक गायक होंगे जो आलाप करने में उनसे बहुत बढ़ कर होंगे या फिर जिनकी तान की गति और बनावट उनकी तानों से बहुत तेज और कठिन आलंकारिक होगी, लेकिन जब हम उनकी अपनी गायकी को परखते हैं तो उसमें ताल, आलाप, तान सभी अंग परस्पर एक स्तर के, एक समान पुष्ट और सुन्दर दीखते हैं और यही कारण है कि वे इतनी अल्पायु में भी सर्वाधिक लोकप्रिय गायक हुए।

गुरुपरम्परा में एक और भी दोष रहा है। कोई व्यवस्थित तथा सुनियोजित शिक्षण-पद्धति न होने से तथा अनुशासित जीवनचर्या के लिए उपेक्षा के कारण वर्षों संगीत सीखने में व्यर्थ चले जाते थे। आज जीवन की गति उतनी द्रुत है कि उसमें १०-१२ वर्ष मन्द और शिथिल गति संगीत सीखने के लिए क्या किसी भी काम के लिए नहीं दिए जा सकते हैं। न्यूनतम समय में अधिक से अधिक विकास विद्यार्थी का हो सके ऐसा शिक्षालयों के व्यवस्थित और अनुशासनमय वातावरण में ही सम्भव है।

संगीत-शिक्षालयों का तीसरा उद्देश्य हमने बताया था संगीत के आधारभूत सिद्धान्तों की खोज करना। इस दृष्टि से तो संगीत शिक्षालयों का महत्त्व निर्विवाद है। गुरु-परम्परा का युग शास्त्रज्ञान की दृष्टि से तो प्रायः शून्य ही रहा है। तीन-चार वर्ष पूर्व आगरा विश्वविद्यालय से एक विद्यार्थी ने संगीत के उस्तादों के सम्बन्ध में एक शोधपूर्ण निबन्ध लिखा था। इस प्रसंग में उसे अनेक कलाकारों से चर्चा करने का सुअवसर मिला। उन्होंने लिखा कि शास्त्रीय ज्ञान के विषय में इन लोगों में एक आश्चर्यजनक उपेक्षा और अनास्था पाई जाती है। किन्हीं ने तो 'स्थायी' की परिभाषा के उत्तर में कहा कि 'स्थायी हम तो गाकर या बजाकर ही बता सकते हैं, इससे अधिक पचड़े में पड़ने की हमें क्या मुसीबत पड़ी है'। कहने का अभिप्राय यह कि सर्वांगीण शिक्षा के अभाव में संगीत का ज्ञानपक्ष अछूता पड़ा रहा। जो कुछ है प्राचीन ग्रंथों में है और इस क्षेत्र में शोध की भारी गुंजाइश है, जिसकी जिम्मेदारी संगीत शिक्षालयों पर ही है। उन्हें इस काम को पूरा करना है। और वही इसे कर भी सकते हैं। केवल प्रयोग पक्ष से हम संगीत को सरस तो बना सकते हैं, परन्तु उसके मर्म को बुद्धिगम्य नहीं बना सकते। मर्मज्ञ आलोचक तथा श्रेष्ठ वाग्गेयकार भी तभी बन सकते हैं जब उन मूल सिद्धान्तों में हमें अन्तर्दृष्टि प्राप्त हो जिनसे संगीत 'संगीत' कहलाता है। भाषा जो बात कह सकने में असमर्थ है, वही हम नाद-विशेष की आयोजना या स्वरों के उतार-चढ़ाव द्वारा किस प्रकार सफलता से अभिव्यक्त कर सकते हैं; सौन्दर्य क्या है, कला क्या है, वह कौन-से तत्त्व हैं जो अन्य कलाओं और संगीत में समान हैं ?—ये सभी प्रश्न ज्ञान-पक्ष के संबन्ध रखते हैं। संगीत शिक्षालयों से संगीत का सर्वांगीण शिक्षण प्राप्त किये हुए सुशिक्षित विद्यार्थी इस दिशा में बहुत प्रगति कर सकते हैं। अच्छे कलाकार किस प्रकार तैयार हों, इस ओर तो बहुतों का ध्यान अवश्य गया है और इस दिशा में अनेक स्थानों पर कुछ-न-कुछ कार्य भी हो ही रहा है। इसी के साथ ही साथ यह भी अत्यन्त आवश्यक है कि सृजनात्मक प्रवृत्ति वाले रचनाकारों, वाग्गेयकारों तथा विश्लेषणात्मक प्रतिभासंपन्न उदीयमान संगीतमर्मज्ञों, आलोचकों तथा अनुसन्धान कर सकने वाले नवयुवकों को विशेष रूप से प्रोत्साहन दिया जाए। 'श्री कला संगीत भारती' में इस प्रकार के कार्य के लिए आवश्यक सभी प्रकार की सुविधाएं, साधन तथा अनुकूल वातावरण उपलब्ध है। जीवन का प्रथम दशक पूर्ण करने के शुभ अवसर पर हार्दिक अभिनन्दन करते हुए मेरी यह मंगल-कामना है कि पूर्वोक्त दिशा में भी विशिष्ट सफलता संपादित करके यह संस्था समस्त देश का मार्ग-दर्शन करने में सफल हो।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

RABINDRA SANGIT

SRI PRAPHULLA KUMAR DAS.

To understand the creation of a genius it is essential to realise the basic principles of his thought and actions. Rabindranath Tagore, the poet and composer, composed a large number of songs amounting to about two thousand. The characteristics of these songs are many and it is difficult to discuss all of them in the short compass of an article like the present one. However, an humble effort may be made to point out some of the salient points.

Tagore had a fair conception about the intrinsic value of Indian music. About the aim of our traditional Indian music he said :

'आमादेर संगीत जखन जीवन्त छिलो, तखन भावेर प्रति जेरुप मनोजोग देवा हइत सेरुप मनोजोग आर कोनो देशेर संगीते देवा हय किना सन्देह। आमादेर देशे जखन विभिन्न ऋतु ओ विभिन्न समयेर भावेर सहित मिलाइया विभिन्न रागरागिणी रचना करा हइतो, जखन आमादेर रागरागिणीर विभिन्न भावव्यंजक चित्र पर्जन्त छिलो, तखन स्पष्टइ बूझा जाइतेछे जे आमादेर देशे रागरागिणी भावेर सेवातेइ निजुक्त छिलो।' (भारती' ज्जेष्ठ १२८८ वं० सं०)

When our music was in full glory, much attention was given to *Bhāva* (भाव) It is doubtful whether so much attention is given to it in any other country. Rāgas and Rāginis were formed befitting different periods of the day and of the year ; even pictures were drawn after the portraits or images that the great masters of music had formed in their imagination to express their different *Bhāvas*. This evidently shows that the chief object of Rāgas and Rāginis in Indian music was to express *Bhāvas*.

Rabindra-Sangit in its entirety is based on this traditional principle Words and tunes in it have been blended together to express different *Bhāvas*. On a critical analysis it will be found that tune (सुर) rhythm (छन्द) and speed (लय) are the three common factors present in the music of any part of the world. Rabindra-Sangit is no exception to this. Of these three factors first comes the question of tune. In Indian music twenty two Shrutis are recognised in one *grām*. All these twenty two shrutis have been used in different songs of Rabindranath, who was fully conscious of our Shruti-theory (श्रुति तत्व). He held the opinion that Shrutis form the nervous system of our music.

In Indian music Rāgas have been divided into three kinds, viz. Suddha, Chhayalaga and Sankirna. All these three kinds are found in Rabindra-Sangit. In Rāga-Misran Rabindranath played an important part. He followed the traditional style of mixing of Ragas; he also made some experiments as a result of which Ragas like Toḍi-Bhairabi, Rāmkeli-Bhairabi, Lalit-Bibhās etc. had a very successful presentation and effect in his songs. In some cases he used certain note or notes which though foreign to the traditional rules of certain Ragas was really essential to express the *Bhava* of certain word or words,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Folk tunes in Rabindra Sangit is by itself a seperate chapter to discuss. It can be said briefly that in the application of folk tunes Rabindranath followed both the traditional style and a style of his own. Bengali folk tunes are rather prominent in this class of Rabindra Sangit. Tagore also picked up some tunes from different parts of India, such as Madras, Gujrat, Panjab, Mysore etc. A few songs were suitably set to English tunes.

In order of importance, next comes the question of rhythm. Rabindranath used almost all the current Talas of North Indian music. Chowtāl, Surphāktāl, Jhāptāl, Dhāmār etc. have been well applied in the Dhrupad style of Rabindra-Sangit. Other lighter Talas have also been used by him according to the requirement of the songs. Over and above these, he made some experiments whlch resulted in the following rhythms being used in his songs with much skill and ingenuity: Jhampak = 2/3 Mātrās, Sasthi = 2/4 Mātrās, Rupakḍā = 3/2/3 Mātrās, Navatāl = 3/2/2/2 Mātrās, Exādashi = 3/2/2/4 Mātrās, Navapanchatāl = 2/4/4/4/4 Mātrās; and various other rhythms. All these rhythms maintained their different characteristic speed.

Rabindranath divided his songs into six Paryayas (पर्याय), viz. Pujā (पूजा), Swadesh (स्वदेश), Prem (प्रेम), Prakriti (प्रकृति), Vichitra (विचित्र) and Ānuṣthhānik (अनुष्ठानिक), He composed the songs either from an inspiration from within or for certain occasions. But in most of them Bhava-element surpassed limits of time and place. The ideas expressed in Rabindra Sangit are suitable both for individual and society. There is hardly any good feeling in human mind which did not find expression in some or other of the Rabindra Sangitas.

In exception to the six Paryāyas, mention may be made to Bhānu Sinher Padābali, Giti-Natyas and Nritya-Nātyas. Bhānu-Sinher Padābali was composed by the poet in his boyhood in the assumed name of Bhānu Sinha. The language is the Brujabuli; the tune is excellent. Giti-Nātyas are three in number: Vālmīki-Pratibhā, Kalmrigaya and Māyārkhela, and Nrityā-Nātyas three: Chitrāngadā, Chandālikā, and Shyamā.

It will not be out of place to say a few words about the dance accomaniment of Rabindra-Sangit, the standard of which was raised highest during the period of Nritya-Nāṭyas. The term 'Santiniketan-Style' of dancing is known to many. What really this style is ? It is not one particular style, but a style that has been shaped by picking up from Manipuri, Kathakali, Kathak, Candy etc. according to the necessity and for expressing the particular Bhāvas of particular songs or portions of Nṛitya-Nāṭya.

Considering all these points it can be concluded that in Rabindra Sangit words and tunes have been blended together with equal skill to express different Bhāvas—which was the basic principle of traditional Indian music,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आत्मरत संगीत की ओर

(सुश्री विमल ठकार)

कहते हैं स्नेह में विवेक खो जाता है। जब श्री प्रेमलताजी के स्नेह से अभिभूत होकर मैंने पत्रिका के लिये लिखना स्वीकार किया तो मुझे उपर्युक्त कहावत याद आई।

एक तो मैं संगीत, कला, संस्कृति, दर्शन तथा काव्य के विषयों से संपूर्णतया अनभिज्ञ हूँ। अलावा इसके हिन्दी भाषा का अध्ययन किया नहीं है। फिर भी लिखने का प्रयास करना दुःसाहस का द्योतक नहीं तो क्या है?

मेरे लिए संगीत नाद ब्रह्म की परम पुनीता उपासना है। स्वर साधना, भाव-धारणा तथा लय-रति उस उपासना के साधन हैं। स्वस्थ अनामय शरीर, प्रशांत निर्मल चित्त और मधुमयी वाक् उपासना के देव-उपकरण हैं।

इस उपासना में पंच-महाभूत हमारे सहयोगी हैं, जो अपने सान्निध्य से नित्य नूतन प्रेरणा देते हैं।

संगीत एक विज्ञान है और कला भी। लेकिन उसका अधिष्ठान आत्मानुसंधान के सिवा दूसरा हो ही नहीं सकता। जब "रसानां वै सो रसः" ऐसे रसमय आत्म-तत्त्व का अखण्ड अनुसंधान सहजावस्था बन जाता है तो कंठ के स्वरों में से, नेत्र की ज्योति में से और अंग-प्रत्यंगों की भंगिमाओं से अनंत रसों की दिव्य धाराएँ अनायास झरने लगती हैं।

आजकल संगीत का यह मधुर स्वरूप लुप्तप्राय हो रहा है। श्रवणेन्द्रिय का विषय है "नाद"। संगीत को श्रवणभोग का साधन बनाया जाता है। स्वर-साधना कंठ-विलास में एवं स्वरों की 'सर्कस' में खो जाती है। तालों की आतिशबाजी में लय-रति की दुर्गति होती है। विकार-वासना की उत्तेजना में विचारी भाव-धारणा कुंठित होकर दुबक जाती है।

परमात्मा करें आपकी यह पत्रिका आत्मरत संगीत की ओर युवक-युवतियों को आकर्षित करे।

आत्मदर्शन

मैं देह नहीं, चैतन्य रूप, उपमेय नहीं, मैं तो अनूप,
आत्मा अविनाशी पूर्ण सार, जग में उसका समरस प्रसार,
उस अमित राज्य का अमर भूप। मैं देह नहीं ....॥
आनन्द अनादि गंग बहे, जहँ निगम नहाते 'नेति' कहें,
ऐसे जल का मैं अतल कूप। मैं देह नहीं.....॥
मेरे तेरे का दाव नहीं, होने मिटने का भाव नहीं,
हूं एकमेव बस एकरूप। मैं देह नहीं.....॥

गायनवादनाचार्य पं० बलवन्तराम भट्ट 'भावरंग'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऋषभ-धैवत की रामकहानी

श्री वा० वें० कारन्त
(भूतपूर्व विद्यार्थी, श्री कला संगीत भारती)

['संगीत रत्नाकर' से आरंभ करके कुछ वर्ष पूर्व तक भारतीय संगीत की स्वर-व्यवस्था के सम्बन्ध में जो भ्रान्ति-परम्परा अस्तित्व में रही, उसका केन्द्र-बिन्दु था ऋषभ-धैवत के अन्तरालों और वीणा पर उनकी स्थिति के विषय में विभिन्न कल्पनाएं और स्खलन। 'ऋषभ-धैवत' की यह अनिश्चित स्थिति प्रस्तुत रूपक में प्रतीकात्मक रूप से व्यक्त की गई है। 'प्रणव-भारती' द्वारा उक्त भ्रान्ति परम्परा का पूर्ण छेदन हुआ है और ऋषभ-धैवत को शताब्दियों बाद अपने वास्तविक स्थान पर पुनः प्रतिष्ठित होने का अवसर मिला है। यही इस रूपक की 'वस्तु' है। ३१ जनवरी, १९६० को श्रीकला संगीत भारती के वार्षिकोत्सव के अवसर पर डॉ० प्रेमलता शर्मा के निर्देशन में यह रूपक विद्यार्थियों द्वारा प्रस्तुत किया गया था—सम्पादक।]

(अध्ययन कक्ष रंगमंच के बीच भारतीय संगीत-शास्त्र के सात ग्रंथ रखे हैं—वे हैं क्रमशः नाट्यशास्त्र, संगीत रत्नाकर, स्वरमेल कलानिधि, राग विबोध, चतुर्दंडी प्रकाशिका, संगीत पारिजात और हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति, जिनके सामने जानुमंडित, करबद्ध एक युवक बैठा है)

युवकः हे परम पूज्यों, आप बुधग्रंथ, भारतीय संगीत शास्त्र परम्परा के प्रतिनिधि हैं, और मैं संगीतेतिहास का एक विशुद्ध जिज्ञासु हूँ। आज आप–विद्वत्–ग्रन्थों के समक्ष उपस्थित होकर मैं आपसे अपनी कुछ शंकाएं प्रगट करने की अनुमति मांगता हूँ।

(सातों ग्रंथ खुल जाते हैं, पन्ने फड़फड़ा उठते हैं)

नाट्यशास्त्रः सिद्धिरस्तु, निश्शंक हो शंकाएं प्रस्तुत करो जिज्ञासु, हम सभी ग्रंथबंधु–हममें जो कुछ लिपिबद्ध है, उसे बिना द्विधा के प्रस्तुत करेंगे।

जिज्ञासुः सबसे पहले मैं संगीत के सातों स्वर-देवों की स्थिति को स्पष्टतः जानना चाहता हूँ। इस बारे में शास्त्र और प्रयोग दोनों का कैसा साथ है—यह भी परख लेना चाहता हूँ। यदि आपकी अनुमति हो तो ध्यान द्वारा सातों स्वर-देवताओं का शुद्ध रूप से आवाहन कर लूं।

ग्रंथ : सहर्ष अनुमति है।

(जिज्ञासु ग्रंथों को पुनः नमन कर अपने पास की वीणा के तारों को झंकृत कर देता है, और सप्त स्वरों के ध्वन्यात्मक रूपों के साथ-साथ उनका ग्रन्थस्थ पौराणिक वर्णन क्रमशः सुनाने लगता है.)

जि० : षड्जं वदति मयूरः, वदति चातको ऋषभं, अजो विरौति गांधारं, क्रौंचः क्वणति मध्यमम्, पिकः कूजति पंचमम्, अश्वश्च धैवतम् निषादं च गज :—

(नेपथ्य से क्रमशः सप्त स्वरों के वर्ण, ऋषि, देवता, छन्द, द्वीप आदि का वर्णन सुनाई देता है।)

[सातों स्वर क्रमशः अपने प्रशस्ति–परिवार सहित प्रगट होते हैं, उसी प्रकार अवरोह पद्धति से सातों स्वर विलीन हो जाते हैं–किन्तु ऋषभ और धैवत दोनों को जिज्ञासु रोक देता है, ऋषभ और धैवत दोनों परस्पर साश्चर्य देखने लगते हैं।]

ऋ : आवाहक, हमें क्यों रोक दिया गया ?

धै : हमसे कुछ अभिप्रेत है वत्स ?

जि : हां, परमदेवों, आपकी स्थिति अस्पष्ट है।

ऋ : अस्पष्ट ! हमारी जो ध्वनित स्थिति है–

धै : उसे तो संवाद सहित व्यक्त कर दिया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जि : फिर भी, आप ऋषभ-धैवत देवों के सम्बन्ध में, शास्त्र ग्रन्थों में परस्पर मतभेद, और तीव्र भ्रम दृष्टिगोचर होता है।

धै : उसके लिए हम कैसे उत्तरदायी हों ?

ऋ : शास्त्र ग्रन्थों के असामर्थ्य को क्या हम पर थोपना चाहते हो ?

जि : कष्ट के लिए क्षमा करें देव ! आप दोनों की शास्त्र-स्थिति, फिर ध्वनि-स्थिति के साथ उसका अन्वय—इस सम्बन्ध में सीधे आप देवों के समक्ष ही विद्वत्-ग्रन्थों की सहायता से एक निश्चित मत स्थापित कर लेना चाहता हूँ।

ऋ : तब तो यह प्रशंसनीय है।

धै : उचित ही है, हमारे सम्बन्ध में स्वर-भक्तों को भ्रम क्यों रहे ?

जि : तो पूज्य पुरातन ग्रन्थवर नाट्य शास्त्र ! ऋषभ-धैवत देवों की स्थिति के संबंध में आपकी क्या व्यवस्था है ?

ऋ : हाँ, हाँ, आप तो प्राक्त न हैं।

धै : और आपको ही कृपा से शास्त्र में हमारा अस्तित्व बन पाया है : आप ही इस जिज्ञासु की शंकाओं का समाधान करें।

ना० शा० : ऋषभ और धैवत के सम्बन्ध में पृथक् रूप से कुछ न कहकर, हम अपने प्रसिद्ध षड्ज-मध्यम ग्रामों को प्रस्तुत करेंगे, उसी से आप लोग अपना अभिप्रेत अर्थ प्राप्त करलें, हमारा मुख्य वक्तव्य है।

षड्जग्रामे च षड्जस्य संवादः पंचमस्य च।
संवादो मध्यमग्रामे पंचमस्यर्षभस्य च ॥

और षड्जग्राम का सप्तक इस प्रकार से है :—

षड्जश्चतुःश्रुतिर्ज्ञेय ऋषभस्त्रिश्रुतिः स्मृतः
द्विश्रुतिश्चापि गान्धारो मध्यमश्च चतुःश्रुतिः।
चतुःश्रुतिः पंचमः स्यात् त्रिश्रुतिर्धैवतस्तथा।
द्विश्रुतिस्तु निषादः स्यात् षड्जग्रामे स्वरान्तरे।

ऋ० : स्पष्ट है, मेरी स्थिति त्रिश्रुतिक है।

धै : और मेरी भी—

ना० शा० : षड्ज ग्राम से मध्यम ग्राम का अन्तर है—"पंचम-स्त्रिश्रुतिः" और "धैवतश्चतुःश्रुतिः" का होना।

ऋ० : तो मध्यमग्राम में भी मैं त्रिश्रुतिक ही हूँ।

धै : लेकिन मैं चतुःश्रुतिक हो गया।

जि : किन्तु ग्रंथवर, आधुनिक स्वर-सप्तक से इनका मेल कैसे संभव होगा ?

ना० शा० : सर्वप्रथम वीणा पर विवेक से इन ग्रामों को यथावत् स्थापित करो और हमारा दूसरा वक्तव्य भी स्मरण रखो :—

"मध्यमस्य विनाशस्तु कर्तव्यो न कदाचन।
"सर्वस्वराणां प्रवरो ह्यविनाशी तु मध्यगः ॥"

क्योंकि यह मध्यम तो "गान्धर्वकल्पेऽभिमतः सामगैश्च महर्षिभिः"—बस इतना सूत्र है—

जि : किन्तु.....

संगीत रत्नाकर : हम "संगीत रत्नाकर" इसे समझा देंगे, तुम्हें शुद्ध-स्वर-सप्तक चाहिये न, तदर्थ षड्जग्रामिक सप्तक को ही लो और उसे श्रुति, स्वर, ग्राम इस क्रम से सिद्ध करने की एक सरल पद्धति हम बता दें। पहले दो वीणाओं पर बाईस-बाईस तार बाँधो, उसमें प्रथम तार को 'मन्द्रतम' ध्वनि में मिला दो, शेष तारों को क्रमशः "मनाक्-उच्च" ध्वनियों में इस तरह मिलाओ कि ध्वनियों में "निरंतरता" रहे। बस वही श्रुतियाँ हैं—"अधराधर तीव्रास्तास्तज्जो नादः श्रुतिर्मतः"।

जिज्ञासु : लेकिन इस प्रकार की अटकलपच्चू श्रुतियों के संवादों की परीक्षा कैसे हो ?

ऋ० : अरे वत्स, बड़े बूढ़े जब बोलते हैं—

धै : तब बच्चों को बीच में नहीं बोलना चाहिए।

जि : लेकिन जिज्ञासा का भी कोई बचपना या बुढ़ापा होता है क्या ?

सं० रत्ना० : वत्स, आर्ष ग्रंथ को हमने जो समझा है, वही हम कह रहे हैं,—इस प्रकार से चौथे तार पर षड्ज और सातवें पर ऋषभ—जो शुद्ध ऋषभ है,

ऋ० : यानी हम त्रिश्रुतिक हैं ?

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सं : तद्वत् २० वें तार पर शुद्ध धैवत है।

ध : यानी हम भी पंचम से—त्रिश्रुतिक हो गये।

जि : किन्तु आधुनिक शुद्ध ऋषभ चतुःश्रुतिक है।

सं० रत्ना : उसके लिए षड्ज को एक श्रुति च्युत कर दो, तो ऋषभ चतुःश्रुतिक हो जायगा, इसी प्रकार मध्यम ग्राम में पंचम को च्युत कर दो तो धैवत भी चतुःश्रुतिक हो जायगा—हमारी व्यवस्था है:—

"साधारणे श्रुति षाड्जीं ऋषभः संश्रितो यदा
चतुःश्रुतित्वमायाति तदैको विकृतो भवेत्"

इसी प्रकार—

"धैवतो मध्यमग्रामे विकृतः स्याच्चतुःश्रुतिः"

ऋ० : अन्याय, महदन्याय, यों हमारे स्वर-वरेण्य, पूज्य भ्राता षड्जदेव को ही पदच्युत करादें, तब हमारी स्थिति बने, वह भी—"विकारी" स्थिति ... ... न – न – न, ऐसी स्थिति हमें नहीं चाहिये।

ध : हम निर्विकारी शुद्ध स्वर-ब्रह्मों को भी यों विकारी स्वरूप प्राप्त हो—तो न जाने यह किस प्रारब्ध का परिपाक है।

ऋ० : इस विकारी–स्थिति से हमें शीघ्र उबार दो वत्स !

ध : हम भी उस परात्पर को टेर दें–'अब की बेर मोहिं पार उतारो।'

जि : 'रत्नाकर' से भी पिपासा नहीं मिटी; समुद्र के पास जाकर भी प्यासा ही लौट आना पड़ा।

स्वर-मेल कलानिधि : वत्स, हम 'स्वर-मेल-कलानिधि' कहते हैं कि तुम्हारा चतुःश्रुति 'रि' वाला क्रियागत सप्तक ही शुद्ध नहीं है। भरतानुसारप ड्ज-ग्राम के "सप्तम्या-मृषभो" और "धैवतो विंशति-श्रुतिक है"।

ऋ० : वह त्रिश्रुति है, तो हम वहीं पर हैं, जहाँ थे ?

ध : वही, "यथापूर्वं कल्पयेत्"।

स्व० मे० क० : अब "उत्तर" भारत में क्रियागत शुद्ध स्वर सप्तक जो है, वह दूसरा ही है।

ऋ० : प्रतीत होता है कि यह दक्षिणी पंडित कुछ नया तथ्य प्रकाशित कर रहा है।

ध : दाक्षिणात्य प्रतिभा पर मुझे पूर्ण विश्वास है।

जि : ग्रंथवर, जिन स्वरों को ध्वनित करने से स्वयं सातों स्वर देव ही यहाँ अभी आहूत हो चुके हैं, क्या आप उसी सत्य को मिथ्या सिद्ध कर रहे हैं।

स्वर० : हम जो कह रहे हैं, वह प्रयोग-सिद्ध सत्य है, वीणा के मेरु को षड्ज मानकर चलो तो हमारे द्वारा स्थापित शुद्ध स्वर सप्तक स्वयमेव मिल जायगा—एतदर्थं हमारा वक्तव्य है :—

आद्यानुमंद्रपड्जाख्यतन्त्र्यां शुद्धर्षभो यथा.....
पंचमेनानुमन्द्रेण तन्त्र्या द्वितीयया शुद्धः (स्याद्धैवतः)

अब प्रयोग द्वारा भी सिद्ध करके देख लो।

जि : यानी अनुमन्द्र षड्ज और पंचम वाले तार के पहले पर्दे पर ही शुद्ध ऋषभ-धैवत ध्वनित होते हैं। (सूचनानुसार बजाकर देख लेता है, परन्तु ऋषभ, धैवत तथा जिज्ञासु तीनों के मुख पर पहले–आश्चर्य फिर असहनीयता प्रकट हो जाती है) भवान् स्वर देव, कृपया अपनी ध्वनि-स्थिति शुद्ध रूप से व्यक्त करें।

(दोनों एक के बाद एक अपनी ध्वनि व्यक्त करते हैं–पहले पर्दे के दबाने से उठने वाली ध्वनि से मिलाकर जिज्ञासु देख लेता है।)

जि : ग्रंथवर, यह ध्वनि तो त्रिश्रुतिक न होकर द्विश्रुतिक ऋषभ–धैवत की है—जिसे हम कोमल ऋषभ धैवत कहते हैं।

स्व० मे० : किन्तु "स्वयंभुवः स्वरा ह्येते न स्वबुद्धया प्रकल्पिता....."।

ऋ : आखिर हम कहाँ हैं ?

धै : कौन जाने ? कदाचित् यों द्विश्रुति, त्रिश्रुति–चतुःश्रुति पर भटकना ही हमारे भाग्य में लिखा हो। इधर किसी ऋषि का शाप तो हमें नहीं मिला है—बन्धु !

ऋ० : पता नहीं, शुद्ध होकर भी आज हमें अशुद्ध क्यों ठहराया जा रहा है ?

राग विबोध : 'स्वर मेल कलानिधि' का स्पष्टीकरण हम 'राग-विबोध' करेंगे। सुनो जिज्ञासु, सर्वप्रथम "मनाक्–उच्च" और "निरंतरता" वाले

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सिद्धान्त के अनुसार वीणा पर बाईस पर्दे एक ही सप्तक में बांध लो और हमारे इस वक्तव्य को भी ध्यान में रखो—

पृथुवक्ष्यमाणवीणामेरौ स्थाप्याश्चतस्र इति तंत्र्यः।
मन्द्रतमध्वनिराद्या त्रयं क्रमोच्चस्वनं किंचित्।

जि : यानी वीणा के मेरु पर 'सा-प-सा-म' वाले तारों के बजाय ऐसी चार तंत्रियां बांधी जायं, जिनमें से पहली तंत्री को मंद्रतम ध्वनि में मिलाया जाय, और बाद को तीनों तंत्रियों को क्रमशः किंचित् उच्च ध्वनि में मिलाया जाय···आप···पहेली तो नहीं बुझा रहे हैं।

ऋ : बन्धु, यह क्या करने को कह रहे हैं ?

ध : हमें चढ़ने के लिए अब सीढ़ियां लगायी जा रही हैं ?

जि : आखिर इस क्रिया से क्या सिद्धि होगी ?

रा० वि० : तभी मेरु पर—चौथी श्रुति वाला षड्ज प्राप्त हो जायगा। तत्पश्चात् उन्हीं बाईस पर्दों पर षड्जग्रामिक शुद्ध त्रिश्रुतिक ऋषभ—धैवतों को भी स्थापित किया जा सकेगा।

ध : जो हो आखिर मेरी स्थिति त्रिश्रुतिक ही रही।

ऋ : लेकिन मेरी तो दुरवस्था हो रही है, भ्राता।

जि : उन बाईसों में ऋषभ—धैवत के पर्दे कौन से होंगे।

रा० वि : तीसरा ऋषभ का और सोलहवां धैवत का होगा।

जि : लेकिन ये पर्दे कहां बधें रहेंगे ?

रा० वि० : प्रचलित स्वर-वीणा में मेरु के बाद जो पहला पर्दा है, उसके पहले, प्रयोगार्थ निर्मित श्रुति-वीणा पर और दो पर्दे बांधो तो सहज रूप से तीसरा पर्दा क्रमशः त्रिश्रुतिक ऋषभ—धैवत का ही होगा न ?

जि ; तो फिर प्रचलित वीणा के चतुःश्रुति पर स्थित दूसरे पर्दों से कौन से स्वर निकलेंगे ?

रा० वि० ; उनको चतुःश्रुतिक कौन मानता है ? वे तो क्रमशः पंचश्रुतिक शुद्ध गांधार और निषाद हैं।

जि : तो चतुःश्रुतिक ऋषभ-धैवत से आपका क्या तात्पर्य है ?

रा : "रिधयोः परश्रुतिगतेश्चतस्र इह पंच षट् तथा श्रुतयः"

ऋ : अब तुम क्या समझ रहे हो भ्राता, द्विश्रुति से पंच-षट् श्रुति तक पहुंच चुके हैं—एकदम हमारी पांच-छः श्रुतियां ?

ध : पंडितजनों की कृपा, 'पंडिताः किं न जल्पन्ति' देखते रहो, शायद एक दिन ऐसा भी आ जावे, जब कि बाईसों श्रुतियों में केवल हम दोनों को ही स्थापित किया जाय।

ऋ : लेकिन हमारी शुद्ध स्थिति किस श्रुति पर होगी ?

रा० वि : मेरु के बाद वाले पहले पर्दे ही त्रिश्रुतिक शुद्ध ऋषभ धैवत के होंगे।

जि : किन्तु वे तो द्विश्रुतिक ऋषभ—धैवत हैं ग्रंथ महाशय ! अलबत्ता दूसरा पर्दा चतुःश्रुतिक शुद्ध ऋषभ का हो सकता है।

रा० वि: वह तो पंचश्रुतिक है वत्स, और चतुःश्रुतिक ऋषभ-धैवत जो हैं, हमारे मत में वे विकृत तीव्र स्वर हैं।

ऋ : यानी हम केवल विकृत ही नहीं हुए।

ध : तीव्र भी हो गये। साधु, साधु।

जि : किन्तु वीणा पर इन तीव्र ऋषभ-धैवत के पर्दे कहां ?

रा० वि० : उचित शंका है, उसके लिए—"साधारणादि सारि स्वपकर्षादधिकता यदा श्रुतयः·····तदान्तर-मुख्या इह स्युरिति ताः पृथङ्नोक्ता" साधारण स्वरों के पर्दे पर तार को खींचने से ये स्वर प्राप्त होते हैं, इसलिए इन स्वरों के लिए पृथक् पर्दों की व्यवस्था नहीं की गयी है।

ऋ : खींचना ? यानी

ध : कान मरोड़ना।

ऋ : राम, राम, इतनी सारी दुर्दशा भुगतने के बाद भी—

ध : वीणा पर हमारे लिए पर्दे नहीं।

ऋ : अद्भुत व्यवस्था है।

जि : कैसी विचित्र मान्यता है आपकी भी ? मेरु को षड्ज मान कर उससे द्विश्रुतिक अंतर के पहले ही पर्दे पर, ज़बरदस्ती त्रिश्रुति ऋषभ-धैवत कहते हैं,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

फिर उन्हीं को शुद्ध कहकर स्थापित करते हैं, फिर दूसरा पर्दा जो चतुःश्रुतिक ऋषभ–धैवत का है–उसे पंचश्रुतिक कहते हैं–यह कितना असमंजस, कितना असंगत और सत्य से कितना अतीत है।

चतुर्दंडी प्रकाशिका : वत्स जिज्ञासु ! सुनो केवल श्रुतिज्ञ होने से कोई शास्त्रज्ञ नहीं हो सकता "ते सर्वे श्रुतिज्ञा न तु पण्डिता !" तुम्हारी शंका को हमने "चतुर्दंडी प्रकाशिका" ने भली भांति समझा है, वस्तुतः सबसे पहले तो 'राग–विबोध' कथित षड्ज सहित श्रुति वीणा दिखाना ब्रह्मा के लिए भी संभव नहीं। "मध्यमेलाख्यवीणायां श्रुतिवीणाप्रकाशनम्, कर्तुं षड्जादि-मत्वेन ब्रह्मणापि न शक्यते" ?

ध : किन्तु लेखकों से सब कुछ संभव है–क्योंकि "कविर्मनीषी परिभू स्वयंभू"

ऋ : सुन रहो बन्धु, ये 'प्रकाशिका' वाले कुछ नया प्रकाश दें भी।

जि : तो शुद्ध स्वर सप्तक आप किसे मानते हैं ?

च० प्र : भरतानुकूल कहना हो तो–"भरतोक्तस्वराः सप्त मुखारीमात्रभासकाः"

जि : तब तो यह भरतानुकूल कदापि नहीं हो सकता। इस संबंध में कर्णाटकी संगीत के ही एक विद्वान् ने कहा है:—

"The Shuddha Swara Saptaka of Karnatic Music is theoretically the Kanakangi or Mukhari Mela, but the concept of Kanakangi is not more than four hundred years old. It is also not a very melodious Raga. It suffers from Vivādi dosa"

च० प्र० : किन्तु प्रयोगसिद्ध स्वर सप्तक है वत्स।

जि : प्रयोगसिद्ध कैसे मानें ? जहां-एक श्रुति के अन्तर को जो कि प्रत्यक्ष प्रमाणित है—उसी को झुठलाया जाता है !

रा० वि० "श्रुत्यैकयाधिकत्वं न्यूनत्वं वा न दोषाय"

जि० यही तो आपकी भ्रांत धारणा है।

ऋ : अब समझे बन्धु, हमारी दुरवस्था का मूल कहां है।

ध : शिव शिव, सब मिलकर न जाने हमें कहां कहां कंदुकवत् उछालते रहे।

ऋ : किन्तु, भ्राता, हमारा शुद्ध स्वरूप कहां से प्राप्त हो ?

संगीत पारिजात : हमने-'संगीत पारिजात' ने इस शुद्ध स्वर सप्तक के प्रश्न को सुलभ रीति से सुलझा दिया है, भरतानुकूल ही, और कहें—
"स्वरज्ञानविहीनेभ्यो मार्गोऽयं दर्शितो मया"

ऋ : तबतो बहुत ही सरल मार्ग होगा।

ध : आखिर कोई मार्ग तो मिले।

सं० पा० : मुक्त तंत्री को षड्ज मानने से ही भरतकथितं षड्जग्रामिक शुद्ध स्वर सप्तक प्राप्त होगा—जिसे गणित की सरल क्रिया से सिद्ध किया जा सकता है। सुनो जिज्ञासु, मेरु से घुड़च तक की जो मुक्त तंत्री होगी उसके बीचोंबीच तार षड्ज होगा–फिर तार षड्ज और मेरु के बीच में मध्यम होगा। पुनः वीणा के कल्पित तीन भाग करने से प्रथम भागांत में पंचम होगा।

ऋ : पर हमारे भाई धैवत देव कहां होंगे ?

धै : और हमारे ऋषभ देव भी ?

सं० पा० : "सपयोः पूर्वभागे च स्थापनीयोऽथरिस्वरः
पसयोर्मध्यदेशे तु धैवतं स्वरमाचरेत्"

जि : "स–प" के पूर्वभाग में ऋषभ, और 'प–सां' के मध्य देश में धैवत : अर्थात् 'स-प' और 'प-सां' के बीच आप इनको दिखाना चाहते हैं ? वह भी गणित क्रिया के साथ ?

ऋ : ईश्वर को सहस्र धन्यवाद।

ध : हां, हां, अब तो एकदम निश्चित पक्का स्थान मिल गया न।

जि : किन्तु ग्रन्थवर, वीणा में तो, षड्ज की मुक्त तंत्री के नीचे या तो द्विश्रुतिक ऋषभ-धैवत का पर्दा मिलेगा या चतुःश्रुतिक ऋषभ-धैवत का, लेकिन आपके तथा-कथित त्रिश्रुतिक शुद्ध ऋषभ-धैवत के लिए तो कहीं पर्दा ही नहीं है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सं० पा० : तुम्हें पर्दा दिखाई दे या न दे, हमें तो भरत के षड्जग्रामिक त्रिश्रुति ऋषभ-धैवत हो शुद्ध रूप में अभिप्रेत हैं। इसलिए हमने "पूर्व भाग" और "मध्यदेश" कहकर त्रिश्रुतिक 'रि-ध' की स्थापना के लिए पूरी छूट दे दी है। फिर चतुः-श्रुतिक "रि-ध" यानी तीव्र "रि-ध" का तो मैं अपने रागों में प्रयोग भी नहीं करता।

ऋ० सत्यानाश, बन्धु ! सुन रहे हो ?

ध : हां हां, एकदम अंतःपिशाच, सत्यानाश !

ऋ० इसका निष्कर्ष यह हुआ कि जब हमारे लिए कोई पर्दा न हो तभी हम शुद्ध हैं, अन्यथा—

ध : वही, "विकृतविशेषणेन मंडिताः"

जि : सच कहें तो आपने "पूर्वभाग" तथा "मध्यदेश" के गोलमोल विधान द्वारा अस्पष्ट भाषा बरती है, क्यों मेरा कथन असत्य है ?

ग्रंथ : (चुप)

जि : क्यों ? मौन हो गये ?

ऋ० "मौनं पण्डितलक्षणं"।

ध : न, न, "मौनं सम्मतिलक्षणं"।

हि० सं० पद्धति : वत्स जिज्ञासु हमारे यानो "हिन्दु० संगीत पद्धति" के मत से तो—

"परिवर्तनशीलं यत्संगीतं ग्रंथकर्तृभिः
नष्टप्रायं पुराणं ततस्पष्टीकर्तुं न शक्यते"

जि : संगीत परिवर्तनशील अवश्य है, किन्तु उनके मूल सिद्धान्त, अन्तरंग के नियम तो शाश्वत हैं—और उनका परिशीलन तो—

हि० सं० : भ्रामक सिद्धान्तों का परिशीलन क्या ?

जि : तो क्या भरतादि के सिद्धान्त भ्रामक हैं ?

हि० सं० : अवश्य ही, उदाहरण के लिए भरतोद्गत षड्ज-मध्यम ग्राम के अन्तर की ही बात लो, जैसे तुम्हें एकदम Begging the question सा लगेगा। हमारे प्राचीन ग्रन्थकार धूर्त थे।

ध : यहां तो दो न्याय-निपुणों में वाग्युद्ध चल रहा है।

ऋ : न, न, वकीलों की पैरवी चल रही है।

जि : अस्तु, तो आपके मतसे शुद्ध स्वर सप्तक कौन-सा है ? उसे कैसे सिद्ध किया जा सकता है ?

हि० सं० : "संगीत पारिजात" कार के षड्ज-पंचम भाव से, या ब्लेसर्ना साहब के cycle of fifth वाले सिद्धान्त से सरलतया सिद्ध किया जा सकता है।

जि : किन्तु मेरा मुख्य प्रश्न है, शुद्ध स्वर-सप्तक में ऋषभ-धैवत का क्या स्थान है ?

हि० सं० : सर्वप्रथम यह याद रखो कि सप्तक का पहला 'सा' चौथी श्रुति पर नहीं, वरन् पहली ही श्रुति 'तीव्रा' पर स्थापित करना चाहिए। तभी सहज रूप से 'दयावती' पर शुद्ध ऋषभ यानी चतुः-श्रुतिक मिल जायगा। आज के संगीत के स्पष्टीकरण के लिए प्राचीन तथा मध्ययुगीय सभी ग्रन्थों को छोड़ कर केवल "लक्ष्यसंगीत" और "अभिनवराग मंजरी" का ही आधार लेने में श्रेय है, और तदनुसार ही मैंने अभी अपनी नवीन रचना-व्यवस्था बताई है।

ऋ : मेरा चतुःश्रुतिक स्थान तो मिल गया, लेकिन न जाने छन्दोवती के पास से दयावती के पास क्यों सरकाया गया हूँ ?

ध : किन्तु मेरा क्या हुआ ?

जि : तबतो आप धैवत को त्रिश्रुतिक ही मानते होंगे।

हि० सं० : नहीं, "षड्ज-पंचम-भावेन" शुद्ध धैवत चतुः-श्रुतिक ही होगा।

जि : किन्तु वर्तमान स्वर सप्तक में त्रिश्रुतिक धैवत ही प्रयुक्त होता है और यही सहज लगता है क्योंकि उसके साथ गान्धार का और तार षड्ज का क्रमशः नौ-और षट् श्रुतिक संवाद का भी निर्वाह होता है।

हि० सं० : यह सब 'श्रुति-पंडितों' की करतूत है। क्योंकि उन्हें ४०५ कंपनवाले तथा-कथित चतुःश्रुतिक धैवत के स्थान पर, आंख कान को सुंदर लगनेवाला ४०० कंपन का तथाकथित त्रिश्रुतिक धैवत ही अच्छा लगता है। लेकिन वस्तुतः ४०५ कंपन का शुद्ध दैवत ही बहुसम्मत है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ध : किन्तु हम स्वयं ही सम्मत होने में अपने को असमर्थ पा रहे हैं।

जि : तो ४०० कंपन का त्रिश्रुतिक धैवत किस कोटि का होगा ?

हि० सं० प० : होगा त्रिशंकु जैसा, न तीव्र ही, न कोमल ही।

ध : त्रिशंकु ? तो देवराज इन्द्र के उस शाप का फल अब मुझे भुगतना पड़ेगा ?

ऋ : अब तो मुझे भी अपने उद्धार पर अविश्वास होने लगा है। (तभी रंगमंच की बांईं ओर से 'प्रणव-भारती' प्रवेश करती है।)

प्र० शा० : संगीत परंपरा के प्रतिनिधि आप विद्वत् ग्रंथों के समक्ष हम 'प्रणव भारती' प्रणत हैं।

ना० शा० : क्यों, तुम इस जिज्ञासु की शंकाओं का समाधान कर सकोगे ?

प्र० शा० : ऋषि-आशीष मिले। वस्तुतः जिज्ञासु की शंकाएं हमारी अपनी शंकाएं हैं, उसके उद्गार भी जैसे हमारे ही हृदय के थे, अध्ययन, निरीक्षण तथा निज साधना के विश्वास पर हम विनेदन करते हैं कि आचार्य भरतोद्गत वक्तव्यों के सत्य को समझने में हमें यथा-संभव सफलता मिली है।

जि : तो मैं धन्य हुआ, कृपया मुझे भ्रमजाल से मुक्त कीजिये।

ऋ : धैवत भाई, यह कोई नया ग्रंथ आया है, इससे भी हम अपनी भाग्य-परीक्षा करालें ?

ध : नहीं, नहीं, अब मुझे इन पण्डितों, ग्रंथों पर से विश्वास ही उठ गया है।

प्रणव : हम जो कुछ कहें, उसमें से 'संत हंस गुण गहहिं पय, परिहरि वारि विकार'। मेरा प्रथम वक्तव्य है कि मुनिवर भरत की पंक्तियों को समझने में परवर्ती सभी ग्रंथों से भूल हुई है। और इस दिशाभ्रम के श्रीगणेशकार हैं 'संगीत रत्नाकर'। हमारे इष्ट स्वर-देवों, तथा आदरणीय विद्वत् ग्रंथों !

ऋ. : धैवत देव, सुन रहे हो, यह नवीन ग्रंथ हम स्वरों को भी साक्षी रूप में रख रहा है।

ध : यही तो उचित है, स्वर-साक्षी के बिना शास्त्र-सिद्धि असम्भव है।

प्रणव : मूलतः वर्तमान शुद्ध स्वर सप्तक और भरत का षड्जग्राम भिन्न-भिन्न हैं। किन्तु दोनों का सम्बन्ध अभिन्न है, अटूट है। उसको समझने के लिए भरत के स्वर-श्रुति-ग्राम का प्रतिपादन समझ लेना उचित होगा।

ऋ० : यही तो क्रम है, स्वर-श्रुति-ग्राम, न कि श्रुति-स्वर-ग्राम।

प्रणव : भरत ने सप्त स्वर जो कहे हैं-वे सातों 'शुद्ध' या 'विकृत' विशेषण से परे हैं। स्वर 'स्वयं राजते इति स्वरः' और वादी, संवादी, अनुवादी और विवादी रूप में इन स्वरों का पारस्परिक सम्बन्ध जुड़ा है।

ऋ० : हम साक्षी हैं।

ध : हृदय से—

प्रणव : इसका अर्थ यह नहीं कि उस काल में सूक्ष्म स्वरांतर नहीं थे, वरन् इन्हें सिद्ध करने तथा इनका प्रयोग करने के लिए षड्ज-पंचम-संवादी षड्जग्राम और फिर ऋषभ-पंचम-संवादी मध्यम ग्रामों की द्विविध स्वर-साधारण सहित व्यवस्था बतायी है और इन दो ग्रामों की भिन्न २ मूर्च्छनाएं कही है।

जि : तो आप इन दोनों ग्रामों के सप्तकों को वीणा पर बिना परिवर्तन किये ही बता सकते हैं ?

प्रणव : अवश्य, फिर इन्हीं ग्रामों से आधुनिक शुद्ध स्वर-सप्तक को भी सिद्ध किया जा सकता है।

ऋ० : शीघ्र सिद्ध करो, ग्रंथवर, यहाँ तो·····

ध : न जाने कितने वर्षों से भटकते फिर रहे हैं।

प्रणव : मेरु को शून्य मानकर, चौथी श्रुति छन्दोवती पर जो कि मेरु से दूसरे पर्दे पर ही है, षड्जग्राम के सप्तक को शुरू कर दें तो त्रिश्रुति ऋषभ-धैवत वाला संपूर्ण सप्तक अक्षत रूप से प्राप्त हो जायगा।

जि : (परख कर) हाँ, सत्य है, किन्तु आधुनिक शुद्ध सप्तक आपके कहे षड्जग्राम के मध्यम से प्रारंभ होता है—और उसमें चतुःश्रुतिक ऋषभ ध्वनित होता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रणव : ठीक ही है। षड्ज-मध्यम-ग्राम कभी भी क्रियागत सप्तक नहीं थे, वे तो शास्त्रीय-आधार रूप थे। केवल अबकी बात नहीं, भरत के काल से ही इसी तथ्य को "मध्यमस्य विनाशस्तु कर्तव्यो न कदाचन"— "सर्व-स्वराणां प्रवरो ह्यविनाशी नु मध्यमः" कहकर स्पष्ट किया है और उसी मध्यम को स्वरित माना है।

जि : (जैसे परखते हुए)—म-प-ध-नि-सा-रि-ग्-म और फिर वहीं पर सा-रि-ग-मप-ध-नि-सा—हाँ, षड्जग्राम के मध्यम को "सा" मानकर आरोहावरोह करने से चतुःश्रुतिक ऋषभ, और त्रिश्रुतिक धैवत तो मिल जाते हैं, किन्तु आधुनिक सप्तक बिलावल अंग का है। और—

प्रणव : हाँ, हाँ, आधुनिक स्वर सप्तक के गांधार का संवादी स्वर निषाद जो है, वह बिलावल का ही है न ? वह स्वर तुम्हें प० ग्राम के अन्तर गान्धार में मिल जायगा।

धै : लेकिन हमें मध्यमग्राम में चतुःश्रुतिक बताया है।

प्रणव : षड्ज ग्राम के पंचम या आधुनिक ऋषभ को मध्यम ग्राम का षड्ज मानने से मध्यम ग्राम का सप्तक-चतुःश्रुतिक धैवत तथा त्रिश्रुतिक पंचम के साथ अक्षत रूप से मिल जायगा।

जि : क्या मध्यमग्राम से भी आधुनिक शुद्ध सप्तक को सिद्ध किया जा सकता है ?

प्रणव : निश्चित रूप से—आधुनिक "सा" मध्यम ग्राम का निषाद है, वहीं से आरोहावरोह करके देखलो।

जि : नि, सा, रि, ग्, म, प, ध, नि, सा, रि
हां, एकदम आधुनिक सप्तक ही प्राप्त होता है। किन्तु दक्षिण में "कनकांगी" मेल को भरतोक्त कहकर, शुद्ध स्वर सप्तक माना है।

प्रणव : कनकांगी मेल न शुद्ध है, न प्राकृत है, और भरतोक्त तो कभी भी नहीं है। इसे अभी स्पष्ट कर दिया गया है। बिलावल का सप्तक शुद्ध ही नहीं, अपितु प्राकृतिक भी है, इसीलिए वह पाश्चात्यों के 'नेचुरल स्केल' से भी एकरूप है, क्योंकि प्रकृति सर्वत्र एक है, उसमें पूर्व-पश्चिम का भेद नहीं।

ऋ : तो हम शुद्ध ही नहीं।

ध : अपितु प्राकृतिक भी—

ऋ : और विश्व-व्याप्त भी।

जि : विद्वत् ग्रंथों ! क्या आप "प्रणव-भारती" के वक्तव्यों से सहमत हैं।

ना० शा० : वत्स जिज्ञासु ! ग्रंथ तो अपने ग्रंथकार के अनुगत हैं, उनेक सहमत या असहमत होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसपर स्वयं स्वरदेवों ने ही "प्रणव भारती" के वक्तव्यों को जब स्वीकृति दे दी है, तो पुनः मत गणना कैसी ? हमारे मत में तो सत्य अविचल है, अटल है, और अनंत भी। और कौन जाने, कि आज 'प्रणव भारती' ने जिस प्रकार सत्य को उद्घाटित किया है, तद्वत् कल और एक नवीन भारती कदाचित् तुमसे ही-प्रगट होकर सत्य को और भी उज्वल रूप से प्रकाशित नहीं करेगी ? वस्तुतः हमारी आकांक्षा है कि भारतीय संगीत परंपरा अपने सत्य की रक्षा के साथ अक्षुण्ण बनी रहे। शुभमस्तु।

(सभी ग्रंथ बंद हो जाते हैं)

जिज्ञासु स्वर देवों तथा ग्रंथों के समक्ष नतजानु हो जाता है और गा उठता है—

असतो मा सद्गमय,
तमसो मा ज्योतिर्गमय,
मृत्योर्मा अमृतं गमय"

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

FINE ARTS AS A CAREER

By

Sri M. V. Krishnan

1. General opinion about Fine Arts.
2. Professional Education in Fine Arts.
3. Relationship of Fine Arts with other branches of knowledge.
4. Need for improved training in the subject.

(1) General Opinion about Fine Arts

There is a wide-spread belief that Fine Arts is not a paying vocation. Due to this belief parents seldom allow their children to choose Fine Arts as a career. But this is due to lack of knowledge about the career open to a good artist in various Industries and professions. It is an admitted fact that scope for a free lance artist is limited. An artist who is able to apply his training to the various needs of the public is able to carve a carreer for himself without loosing his creative talent.

In the present day competitive world a man seldom gets a job quite suitable to his training unless he is a specialist in a certain field. An average student of B. A., B. Sc. or even M. A., is enforced to start his career as a clerk or Secretary or such other jobs which take away the sap of one's life but offer very little to exercise one's knowledge acquired during the college career.

(2) Professional Education in Art

Professions open to artists are many and varied, provided one is ready to apply one's talent for a particular need. The list given below will give an idea about the various professions open to artists. Each one of them requires specialisation after a general study of Fine Arts.

1. Portrait painting. 2. Mural & Decorative art. 3. Book & Magazine illustration. 4. Commercial Art. 5. Lithographs. 6. Museum assistants. 7. Photo retouching. 8. Handicraft designing. 9. Industrial designing. 10. Textile designing. 11. Monumental sculpture. 12. Architectural sculpture. 13 Ceramic Sculpture & modelling. 14. Film & stage designing. 15. Art Teaching. 16. Dress designing.

Art plays a prominent part in promoting the sale of products by way of advertisement in newspapers, wall posters, hoarding etc. The printing industry requires the service of artists in many forms as illustrator, designers etc. The textile industry

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

employs large number of talented artists to bring out new designs for the market. The various plastic, metal and ceramic Industries employ artists to design thin wares. Now Indian handicraft products are in constant demand in the western countries and the promotion of handicrafts is being done by employing talented artists in creating new designs. From all these it will be clear that a good artist gets employment in his own line and is not thrown out of the gear like a man having an average B. A. Degree.

(3). RELATIONSHIP OF FINE ARTS TO OTHER BRANCHES OF KNOWLEDGE.

It is an accepted fact that a proper illustration of a certain thing is worth two pages of written matter. This can be done only with the proper knowledge of drawing and painting. Besides people can be made to understand better about a thing by proper models of the subject than by long lectures and writings. In this too, art plays a prominent part by way of models etc. I am giving below a list of a few subjects which use art is one way or the other for illustration and demonstration :—

a. Geography b. Archeology c. Anthropology d. Zoology e. Botany f. Medicine g. Architecture h. Engineering.

a. *Geography* : This is a subject which uses art in many ways. Maps, diagrams, relief maps and charts, landscape drawing etc.

b. *Archeology* : In the preservation of ancient monuments, art plays, a great part in aiding archeology. An understanding of Art is of much help to an archeologist.

c. *Anthropology* : To display the different characters and cultures of various races, art plays a very significant part in Anthropology.

d. *Zoology* : Drawing, paintings, charts, models are a necessity both in the teaching of the subject and in the publication of works of research.

e. *Botany* : Similar to Zoology this subject too uses art in many forms for research work and in teaching of the subject and in the publication of research work thereon.

f. *Medicine* : Models, charts, paintings etc. are used in various ways in teaching the Anatomy, surgery etc. In this too art plays a good part.

g. *Architecture & engineering* : In these branches of learning art has a significant part in interior and exterior decoration, both in graphic and plastic mediums.

4. NEED FOR IMPROVED TRAINING IN FINE ARTS :

Human mind naturally and spontaneously responds whenever it beholds objects of beauty in any shape or form. That being so, it would be obvious why art education even in its rudimentary form is essential for every adult especially in our country where this fact has not been sufficiently realised.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हिन्दू संगीत

डॉ० लालमणि मिश्र

यदि हम आज 'भारतीय संगीत' को 'हिन्दू संगीत' कहें तो संभव है कुछ लोक चौंके और कहें कि यह क्या ? संगीत भी क्या हिन्दू और मुस्लिम होता है ? क्या आप संगीत में भी जातीयता, प्रांतीयता आदि आदि की संकुचित भावनायें भरना चाहते हैं ? जी, नहीं ! मैं संगीत ऐसे व्यापक, सर्वोपयोगी विषय को किसी संकुचित दायरे में बन्द नहीं करना चाहता और न हिन्दू संगीत कहकर किसी अन्य प्रकार के संगीत से विद्वेष की भावना ही उत्पन्न करना चाहता। मैं तो केवल यह कहना चाहता हूं कि आज हम जिसे 'भारतीय संगीत' कहते हैं वह वास्तव में 'हिन्दू संगीत' है, चाहे वह उत्तर भारतीय हो अथवा दक्षिण भारतीय। यदि हम संगीत की तुलना अपनी संस्कृति के अन्य अंगों से करें तो पता चलेगा कि प्राचीन हिन्दू संस्कृति में समय समय पर शक, हूण, पठान, मुग़ल, ईसाई आदि विदेशी संस्कृतियों तथा धर्मों के सम्पर्क में आने से जितना, जो कुछ परिवर्तन, भाषा, आचार-विचार, रीति-रिवाज, रहन-सहन आदि में पड़ा है उतना 'हिन्दू संगीत' पर नहीं पड़ा है। अतएव आज हम धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक दृष्टि से हिन्दू संस्कृति को भले ही भारतीय संस्कृति कहने लगें, किन्तु 'हिन्दू संगीत' को मैं भारतीय संगीत कहने की आवश्यकता नहीं समझता।

जाने कैसे कुछ संगीतज्ञों तथा संगीत-कला-प्रेमियों के मस्तिष्क में यह बात बैठ गई है कि हमारे संगीत में मुस्लिम प्रभाव बहुत अधिक आ गया है। दक्षिण भारतीय संगीतज्ञ तो इस मुस्लिम प्रभाव की बात कहकर न केवल अपनी संगीत-पद्धति को शुद्ध एवं श्रेष्ठ सिद्ध करना चाहता है, अपितु उत्तर हिन्दू संगीतशैली को भ्रष्ट तथा अहिन्दू तक कह डालता है। लेकिन क्या आजतक किसी ने हिन्दू संस्कृति को अन्य अंगों के समान हिन्दू संगीत का सूक्ष्म अध्ययन करके यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि इसमें अमुक वस्तुएं अन्य संस्कृति से आई हैं तथा जिन वस्तुओं का आगमन माना जाता है उनमें से कितनी वस्तुएं उनकी अपनी हैं तथा कितनों में उन्होंने हमारी ही वस्तु को लेकर केवल नई दिशा अथवा नया मोड़ प्रदान किया है ?

किसी एक संस्कृति की एक वस्तु किसी दूसरी संस्कृति के द्वारा ज्यों का त्यों अपना लेना एक बात है तथा किसी एक संस्कृति के व्यक्ति द्वारा किसी दूसरी संस्कृति को किसी विशेष वस्तु में उसी संस्कृति की सामग्री के साथ उस वस्तु के विकास में सहयोग देना दूसरी बात है। यदि हिन्दू संगीत में मुसलिम प्रभावों का सूक्ष्मता के साथ अध्ययन किया जाय तो दूसरे प्रकार के प्रभावों के ही लक्षण अधिक दिखाई पड़ेंगे। उदाहरण के लिए हम एक बात रख सकते हैं। मान लीजिये एक मुसलिम गायक ने एक नवीन राग की रचना की। अब यह देखना आवश्यक हो जाता है कि उस राग की रचना का आधार हिन्दू संगीत की रागपद्धति है अथवा मुसलिम संस्कृति की कोई वस्तु। जब हमें यह मालूम हो जाता है कि जिस राग की नवीन कल्पना की गई है वह हिन्दू संगीत में प्रचलित किन्हीं दो रागों का मिश्रण है, कोई विदेशी वस्तु नहीं, तब आप उसे क्या कहेंगे ? क्या यह अन्य संस्कृति का मिश्रण हुआ ? अथवा अन्य संस्कृति के कलाकार द्वारा हिन्दू संगीत का उत्थान ? यह बिल्कुल वैसी ही बात है जैसी यदि रसखान के कृष्ण-भक्ति-काव्य को हम मुसलिम संस्कृति के मिश्रण के रूप में देखें। डा० ग्रियर्सन ने भारतीय भाषाओं की खोज की है तथा भाषा सम्बन्धी कुछ नये नियम प्रतिपादित किये हैं ; क्या उनके इस कार्य को हम भारतीय भाषाओं में ईसाई संस्कृति का मिश्रण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मानते हैं ? हां, हिन्दी भाषा ने जिन विदेशी शब्दों को अपना लिया है वे निश्चय ही अन्य संस्कृति के प्रतीक हैं, किन्तु किसी एक संस्कृति के व्यक्ति द्वारा किसी दूसरी संस्कृति के लिये किये गये कार्यों को हम दो संस्कृतियों का मिश्रण नहीं कह सकते।

जैसा कि मैं ऊपर कह आया हूं कि हमारी भाषा, आचार-विचार, रहन-सहन आदि में विदेशी संस्कृतियों का प्रभाव पड़ा है। इस प्रभाव को हम अध्ययन द्वारा स्पष्ट रूप से देख सकते हैं और यदि चाहें तो उसका अनुपात भी निकाल सकते हैं। किन्तु संगीत के क्षेत्र में इस प्रकार की चेष्टा का अभाव सा ही है। हां, संस्कृति के अन्य अंगों की ही भांति हमने यह अवश्य मान लिया है कि जिस प्रकार अन्य दिशाओं में संस्कृतियों का आदान-प्रदान हुआ है उसी प्रकार संगीत में भी हुआ होगा। साथही भारत के जिन क्षेत्रों में विदेशी संस्कृति का प्रभाव कम रहा है उस क्षेत्र का संगीत भी अपेक्षाकृत अधिक शुद्ध होगा। इस प्रकार की भ्रांत धारणाओं ने ही हमें अपने संगीत को हिंदू संगीत कहने से रोका और ऐसा कहने पर संकोच एवं संकुचित भावना को उत्पन्न किया। आज मेरा प्रयास इन्हीं भ्रांत धारणाओं को जड़ से नष्ट करने का है। अतः हम संक्षेप में यहां उन बातों की चर्चा करेंगे जो हिंदू संगीत में मुसलिम संस्कृति के योग का कारण कही जाती हैं।

हिंदू संगीत में मुसलिम संस्कृति के प्रभाव की जितनी बातें बताई जाती हैं उन्हें हम सुविधा के लिए निम्नलिखित वर्गों में बांट सकते हैं:—

१—वाद्य-यंत्र। २—राग। ३—गायन अथवा वादन शैली। ४—शास्त्रीय व्याख्या अथवा शब्दावली।

उपरोक्त विषयों में ही मुसलिम संस्कृति के प्रभाव का दावा किया जा सकता है। अतएव यहां हम प्रत्येक विषय पर इसी दृष्टि से अलग-अलग विचार करेंगे।

सर्वप्रथम हम वाद्य यंत्रों में मुसलिम संस्कृति के प्रभाव की बात लेंगे। वाद्य यंत्रों में आज के सर्वाधिक प्रचलित सितार के लिए यह कहा जाता है कि अमीर ख़ुसरो ने इसका निर्माण किया। इसके प्रमाण में यह तर्क उपस्थित किया जाता है कि इसका आदि नाम सेहतार रक्खा गया। फ़ारसी में 'सेह' तीन को कहते हैं अतएव यह पहले तीन तारों का बाजा था। किंतु बाद में गुणीजनों ने आवश्यकतानुसार इसके तारों की संख्या में वृद्धि की तथा आजकल इसमें सामान्य रूप से सात तार लगाने लगे हैं। इस संबंध में कुछ लोगों का यह मत भी उल्लेखनीय है कि उस समय मुख्य प्रचलित हिन्दू वीणा में चार तार लगा करते थे, अतएव उसे सरल रूप प्रदान करने के लिये सेहतार की रचना हुई और इस वाद्य में केवल तीन तार रक्खे गये।

उपरोक्त मान्यता का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है। अमीर ख़ुसरो से सम्बन्धित ऐतिहासिक तथ्यों को एकत्र करने पर कहीं इस बात का निश्चित पता नहीं चलता कि उन्होंने सितार अथवा सेहतार नामक किसी वाद्य यंत्र का निर्माण किया। अमीर ख़ुसरो श्रेष्ठ कलाकार, कुशल राजनीतिज्ञ तथा प्रौढ़ साहित्यकार थे, किंतु उनके द्वारा किसी नवीन वाद्य का निर्माण हुआ इसका उल्लेख नहीं मिलता। दूसरी और संगीत के कई आधुनिक विद्वानों का मत है कि सितार 'सप्त तंत्री' वीणा का ही बिगड़ा रूप है। इसके रूप परिवर्तन का क्रम यूं बताया जाता है,—'सप्त तंत्री' से 'सप्त तार' फिर सत्तार और अन्त में सतार अथवा सितार। एक और मत है जिसके अनुसार यह कहा जाता है कि समुद्रगुप्त के समय में भारत में एक त्रितंत्री वीणा थी और उसी को अरब वालों ने सेहतार के नाम से सम्बोधित किया था। इस सिलसिले में निम्नलिखित उद्धरण पठनीय हैं।

"हज़रत मुहम्मद से १६५ वर्ष पूर्व बिनतोई नामक एक गायक और कवि हो गया है जो निरंतर ओकाज के मुशायरे में तीन साल तक आता रहा था। इसी की तीन कविताएं सोने के पत्रों में अंकित होकर मक्का के मन्दिर में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लटकाई गई थीं। वह लिखता है कि वे लोग धन्य हैं जो राजा विक्रमादित्य के राज्य में रहते हैं, जो बड़ा दानी, धर्मात्मा, प्रजापालक इल्मे मौसीक़ी (संगीत) का ज्ञाता है। उसके सेहतार (सितार) वादन से दिल की कली खिल जाती है। परन्तु ऐसे समय में हमारा "अरब" ईश्वर को भूलकर भोग विलास में लिप्त था। हृदय से इस अद्भुत कला को हम भूले हुए थे। सारे देश में अमावस्या की रात्रि के समान अन्धकार छाया हुआ था, परन्तु अब जो सूर्य की प्रातःकालीन किरणों के समान प्रकाश दिखाई देता है, वह कैसे हुआ ?

वह उसी धर्मात्मा राजा विक्रमादित्य की कृपा है। जिसने हम विदेशियों को भी अपनी दया दृष्टि से वंचित नहीं रक्खा और पवित्र धर्म का संदेश देकर अपनी जाति के विद्वानों को यहाँ भेजा।

जिन महापुरुषों की कृपा से हमने ईश्वर ज्ञान, संगीत ज्ञान, काव्य ज्ञान, सामाजिक ज्ञान जाना और सत्पथगामी होकर आत्म तल्लीनता के लिये सेहतार वादन जाना....." 'भारतीय संगीत का इतिहास'–'गुप्तकाल'

यदि फिर भी दुराग्रह वश हम यही कहते रहें कि सितार की रचना अमीर खुसरो ने की है तो भी निम्न-लिखित बात ध्यान देने की है। पं० जवाहरलाल नेहरु ने अमीर खुसरो के सम्बन्ध में लिखा है कि "अमीर खुसरो, जो कि एक तुर्क था, और जिसका घराना उत्तर प्रदेश में दो तीन पीढ़ियों से बस गया था, यह चौदहवीं सदी में हुआ और इसने कई अफगान सुल्तानों के जमाने देखे।"

इस बात से यह साफ़ मालूम होता है कि अमीर खुसरो स्वयं बाहर से नहीं आया था। हां, उसके पूर्वज अवश्य बाहर से आए थे और उत्तर प्रदेश में घर बसा कर रहने लगे थे। अतएव यदि अमीर खुसरों ने सितार का निर्माण भी किया तो भी इस निर्माण में न तो किसी विदेशी वाद्य का आधार था और न नक़ल। हाँ, किसी भारतीय वीणा में, जो उस समय प्रचलित रही होगी, कुछ रूप परिवर्तन करके भले ही इस नवीन वाद्य का निर्माण किया गया हो। यदि हम खुसरो द्वारा सितार की रचना को सच भी मान लें तो भी इससे हम यह नहीं स्वीकार कर सकते कि हम ने इस वाद्य के रूप में किसी मुसलिम संस्कृति के वाद्य को अपना लिया। यही बात तबला आदि वाद्य-यंत्रों के लिए भी लागू होती है। हाँ, रबाब नामक एक वाद्य जो लगभग १६वीं शताब्दी से १९वीं शताब्दी तक प्रचलित रहा वह अवश्य मुसलिम संस्कृति की वस्तु थी, लेकिन आज उसका प्रचार बिलकुल समाप्त हो चुका है।

दूसरा विषय है रागों का। आजकल कई ऐसे राग प्रचलित हैं जिनमें 'मियां' नाम जुड़ा हुआ है अथवा जिसकी रचना मुसलमान गुणियों ने की है, जैसे मियां की तोड़ी, मियां की सारंग, बिलासखानी तोड़ी, दरबारी कान्हड़ा आदि। इनके सम्बन्ध में कुछ भी कहने के पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि संगीत विषय के मुसलमान गुणी कब से प्रारम्भ हुए। इस सम्बन्ध में यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि मुसलमान संगीतज्ञों में सब से पहला महान् संगीतज्ञ तानसेन था। इसके पूर्व के नामों में अमीर खुसरो का नाम अवश्य मिलता है, किन्तु उसके बाद लगभग १५० वर्षों तक किसी प्रसिद्ध मुसलमान संगीतज्ञ का नाम प्राप्त नहीं होता। मुसलमान संगीतज्ञों की परम्परा अथवा उनके घराने तानसेन के समय से ही प्रारम्भ हुये। 'आइने अकबरी' के अनुसार अकबर बादशाह के दरबार में ३६ संगीतज्ञ थे तथा उनमें से अधिकांश मुसलमान थे। किन्तु न केवल तानसेन अपितु इनमें से प्रायः सभी पहले हिन्दू थे जो बाद में राज्याश्रय पाने के लिये अथवा किसी विशेष घटना के कारण मुसलमान धर्म में दीक्षित कर लिये गये थे। अतएव इन मुसलमान संगीतज्ञों में धर्म परिवर्तन के बावजूद भी हिन्दू संस्कार विद्यमान थे।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है तानसेन अपने युग का सर्वश्रेष्ठ गायक था। उसने अनेक नये राग बनाये अथवा उनके रूपों में परिवर्तन किए। तानसेन ने दो रागों को मिलाकर एक नये राग की रचना का भी सूत्रपात किया। तानसेन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गायक के साथ-साथ कवि भी था। कहा जाता है कि प्रसिद्ध कवि सूरदास तथा तानसेन में घनिष्ठ मैत्री थी। एक समय जब यह दोनों आपस में मिले तो तानसेन ने सूर की प्रशंसा में निम्नलिखित दोहा पढ़ा :—

किधौं सूर को सर लग्यो किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद लग्यो तन मन धुनत शरीर॥

इस पर सूरदास ने भी तानसेन की प्रशंसा करते हुये कहा :—

विधना अस जिय जानि के शेषहिं दिये न कान।
धरा मेरु सुन डोलते तानसेन की तान॥

तानसेन ने अपनी फुटकल पद रचना के अतिरिक्त दो लक्षण-ग्रन्थों की भी रचना की है जिनके नाम 'रागमाला' तथा 'संगीत सार', हैं। इन दोनों ग्रन्थों में संगीत की महत्ता तथा लक्षणों की व्याख्या की गई है। इन ग्रन्थों के अध्ययन से यह पता चलता है कि तानसेन ने जिन सिद्धान्तों की चर्चा इन ग्रन्थों में की है वे विशुद्ध भारतीय हैं। उनमें कहीं भी विदेशी संस्कृति की छाया तक नहीं है। उदाहरण के लिये निम्नलिखित कुछ पंक्तियां उपस्थित हैं।

सुर मुनि को परनाम करि, सुभग करौं संगीत।
तानसेन वाणी सरस, जान गान की प्रीति॥
देख्यो शिवमत भरतमत, हनूमान मत जोई।
कहै संगीत विचारि कै, तानसेन मत सोई॥

(रागमाला)

गीत वाद्य अरु नृत्य को कह्यो नाम संगीत।
तानसेन सुमतंग मुनि, भरत मते हो गीत॥

(रागमाला)

वीन विदित सुर ताल में, निपुन पूरुष है जोय।
बिना परिश्रम जात है, मोक्ष पंथ को सोय॥ २०॥

(संगीतसार)

उपर्युक्त 'संगीत सार' का दोहा याज्ञवल्य स्मृति के निम्नलिखित श्लोक का सरल अनुवाद है।

वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः।
तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं निगच्छति॥

(या. स्मृति ३।११५)

अपने उक्त दोनों ग्रन्थों में तानसेन ने प्रायः उन सभी विषयों का संक्षेप में वर्णन किया है जो भरत के नाट्यशास्त्र, मतंग के बृहद्देशी, शार्ङ्गदेव के संगीत रत्नाकर आदि में प्राप्त होते हैं। तानसेन के इन ग्रन्थों से कहीं इस बात का पता नहीं चलता कि उन्होंने संगीत की कोई बात मुसलिम संस्कृति से ली। भले ही वह मुसलमान हो गये थे और संभवतया उसके बाद उन्होंने अकबर की प्रशंसा में भी कुछ पद लिखे, लेकिन उनकी सम्पूर्ण रचना देखने से प्रतीत होता है कि उनकी वृत्ति ईश्वर-आराधना तथा संगीत-साधना में ही लगी थी और किसी ओर नहीं। उनके पदों के दो एक नमूने यहां दे देना अनुचित न होगा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(१) अनहद शब्द उपज्यो मों घट में ताको ध्यान धरूं अष्ट जाम।
अर्थ धर्म काम मोक्ष चारों पदारथ पाये।
जब प्रगट्यो नाद ब्रह्म सहस रूप आनन्द धाम ।।

(२) आज कान्ह वृन्दावन मुरली बजाई सुखदाई है।
स्वर्गलोक नरलोक पताललोक सब सुन धुन सुध बिसराई है ।।
सप्त सुर तीन ग्राम इकइस मूरछना बाइस सुतैं उनचास कोट तान रंध्रन में छाई है।
तानसेन को प्रभु रस बस कर लोने ब्रज बधू घर छोड़ स्याम जू पै आई है ।।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि तानसेन के काव्य तथा संगीत में हिन्दू संस्कृति की स्पष्ट छाप है।

तानसेन के पश्चात् भारत के गायकों अथवा वादकों के जितने प्रसिद्ध घराने बने वह सभी प्रायः तानसेन की वंश-परम्परा के ही थे। तानसेन के पुत्रों का वंश, ध्रुपद गान करता था और वाद्यों में 'रबाब' बजता था अतएव वह सब 'रबाबिये' कहलाये। तानसेन की पुत्री का वंश भी ध्रुपद गान करता था किन्तु वाद्यों में यह लोग 'वीणा' बजाते थे अतएव यह लोग 'वीनकारिये' कहलाये। यहाँ पर यह बता देना आवश्यक है कि तानसेन की पुत्री सरस्वती का विवाह उस समय के महान वीनकार राजा मिस्री सिंह से, जो सिंध प्रदेश स्थित एक छोटे भाग के राजा थे, अकबर के दबाव के कारण हुआ था। यह भी बाद में मुसलमान बना लिए गए और इनका नाम नबात खाँ रक्खा गया था। इन्हीं की वंश-परम्परा में दो पीढ़ी के पश्चात् न्यामत खाँ नामक एक बहुत प्रसिद्ध संगीतज्ञ हुआ, जो ध्रुपद का गायक था और श्रेष्ठ वीनकार था। न्यामत खाँ ने अपने वादन पर गर्वोक्ति लिखी है, वह कहता है:—

आदि महादेव वीन बजाई पाई न्यामत खान
(बड़ा ख्याल, राग शंकरा)

अर्थात् प्रारम्भ में महादेव ने वीणा वादन किया था और उसके बाद अब मैं वीणा वादन कर रहा हूँ। महादेव के बाद वीणा वादन में मेरा ही स्थान है। यहां पर यह बात ध्यान देने योग्य है कि न्यामत खां ने अपना संबंध बाबा विश्वनाथ से जोड़ा है, किसी विदेशी देवता अथवा व्यक्ति से नहीं। न्यामत खां ने काव्य रचना के लिए अपना उपनाम "सदारंग" रखा था और यह माना जाता है कि इन्होंने अन्य दरबारी गायकों को पछाड़ने के लिए ही दो साधारण लड़कों को "ख्याल" की शिक्षा दी थी जो उस समय निकृष्ट गायन शैली समझी जाती थी। उन लड़कों में से एक का नाम रखा "चांद खां" तथा दूसरे का "सूरज खां"। अर्थात् एक को रात्रि के रागों की शिक्षा दी और दूसरे को दिन के रागों की। इस प्रकार सर्वप्रथम ख्याल का प्रदर्शन राजदरबार में हुआ। न्यामत खां, रचित एक ख्याल का उदाहरण देखिये:—

अरे मन समझ समझ पग धरिये।
इस जग में अपना नहिं कोई, परछाहीं सो डरिये।
दौलत दुनियां कुटुम कबीला, इनसों नेह कबहुं नहिं करिये।
सदारंग मन बाल कृष्ण धरि, सुमिरन सों जग तरिये ।।
(ख्याल, राग आसावरी)

उपरोक्त बातों से यह सिद्ध हो जाता है कि तानसेन की वंश परंपरा के लोग मुसलमान होते हुये भी हिंदू संस्कृति के प्रभाव को दूर नहीं कर सके थे। अतएव यह बात भी निःसंकोच कही जा सकती है कि मियां की तोड़ी, मियां

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का सारंग, दरबारी तथा अन्य अनेक रागों की नवीन रचना अथवा रागों के नये रूप का मूल स्रोत हिंदू संगीत ही था न कि मुसलिम संस्कृति का प्रभाव।

तीसरा विषय गायन वादन की शैलियों का है जिसके आधार पर यह कहा जाता है कि उत्तर हिन्दुस्तानी संगीत पर मुसलिम संस्कृति का प्रभाव है। इस सम्बन्ध में कुछ ऐसी बाते हैं जिन पर विचार करने से यह स्वतः सिद्ध हो जायगा कि गायन शैलियों में भी विदेशी प्रभाव नहीं हैं।

भारत में मुसलमानों के स्थायी रूप से बस जाने के बाद मुसलमान कलाकारों में सर्वप्रथम हम अमीर खुसरो को पाते हैं इसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। आज हम जिन गायन शैलियों में मुसलिम संस्कृति की छाप देखते हैं वह हैं—ख्याल शैली, टप्पा शैली, तथा ठुमरी शैली। इसमें से ख्याल शैली का जनक अमीर खुसरो को माना जाता है किंतु इसकी सत्यता पर मुझे संदेह है। इसके तीन मुख्य कारण हैं जो निम्नलिखित हैं।

१—अमीर खुसरो के युग में सारे देश में प्रबंध तथा ध्रुवपद गान का प्रचार था। बाद में प्रबंध गान लगभग समाप्त हो गया और शास्त्रीय संगीत में केवल ध्रुवपद-धमार का गान ही होने लगा। तानसेन जो अमीर खुसरो से लगभग दो सौ वर्ष पश्चात् हुआ ध्रुवपद गान करता था। तानसेन के समय में ध्रुवपद गान के चार मुख्य घराने अथवा वाणियां प्रचलित थीं जिनके नाम थे डागुर, गोवरहार, खंडार, नोहार। तानसेन के पश्चात् भी न्यामत खां, जो मोहम्मद शाह (रंगीले) के दरबार का सर्वश्रेष्ठ संगीतज्ञ था, के समय तक कहीं ख्याल गायक का नाम प्राप्त नहीं होता। अतएव जिस शैली का प्रचार १७वीं शताब्दी के बाद हुआ हो उसका जनक १४वीं शताब्दी का कोई व्यक्ति हो यह समझ में नहीं आता।

२—सदारंग के पूर्व किसी गायक की कोई रचना ख्याल में नहीं प्राप्त होती, उस समय तक के किसी भी ग्रंथ में ख्याल का नामोल्लेख नहीं मिलता और न किसी राज दरबार में ख्याल गायन का प्रदर्शन हुआ हो—ऐसा उल्लेख मिलता है।

३—ऊपर बताया जा चुका है कि सर्वप्रथम सदारंग ने ही ख्यालों की रचना की और दो लड़कों को सिखाकर उनका प्रदर्शन राजदरबार में करवाया। इसके बाद भी यह ध्यान देने की बात है कि सदारंग ने अपने लड़कों को ख्याल क्यों नहीं सिखाया। अपने घर में उन्होंने ध्रुवपद को ही प्रश्रय दिया। जिसका परिणाम यह हुआ कि तानसेन की वंश परंपरा के समस्त संगीतज्ञ अपने पुत्रों को ध्रुवपद की ही शिक्षा देते आए हैं और यदि कोई दूसरा उनसे सीखने गया तो उसे उन्होंने ख्याल की तालीम दे दी। इससे यह स्पष्ट है कि ख्याल का प्रचार सदारंग ने किया अवश्य, किंतु उन्होंने उस शैली को सदैव निकृष्ट ही समझा। और इसलिये उस निकृष्ट शैली को अपने घर में पनपने नहीं दिया। संभवतया उसी प्रकार जिस प्रकार आज का कोई श्रेष्ठ संगीतज्ञ अपने पुत्र को सिनेमा-संगीत से दूर रखता है। किन्तु तानसेन का वंश ज्यों-ज्यों क्षीण होता गया और ख्याल गायकों की जमात बढ़ती गई उसी क्रम में ध्रुवपद गान का प्रचलन कम होता गया और ख्याल गान का प्रचार बढ़ता गया।

उपरोक्त कारणों से यह बात सही नहीं मालूम होती कि ख्याल गायन शैली का आदि निर्माता अमीर खुसरो था। मैं समझता हूँ ख्याल शैली का जन्म भारत में ही प्रचलित किसी शास्त्रीय अथवा लोक संगीत की शैली के आधार पर हुआ है। यह अभी तक अनुसंधान का विषय है। निश्चित कुछ भी कहना कठिन है। किंतु इसमें संदेह नहीं कि इस शैली के मूल सूत्र भारत के ही हैं, जैसा कि टप्पा तथा ठुमरी की उत्पत्ति से भी सिद्ध होता है।

टप्पा के जन्मदाता शोरी मियां माने जाते हैं जो लखनऊ के निवासी थे। हाकिम मोहम्मद करम इमाम ने एक पुस्तक लिखी है जिसका नाम 'मा दानुल मुसुकी' था। यह नवाब वाजिदअली शाह के दरबारी व्यक्ति थे। इस पुस्तक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में उस समय के लखनऊ के संगीतज्ञों के बारे में पूरी जानकारी दी हुई है। इसमें टप्पा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में लिखा है कि यह शैली लखनऊ के गुलाम नबी शोरी की इजाद है जो गुलाम रसूल के लड़के थे। यह कुछ दिनों पंजाब में रहे थे। वहीं इन्होंने एक लोक धुन सुनी जिसके खटके, मुर्कियां आपको बहुत पसन्द आये। अतएव आपने उसी का आधार लेकर पंजाबी भाषा में ही टप्पों का निर्माण किया। लखनऊ वापस आकर उन्होंने जामुन खां को टप्पा की तालीम दी। जामुन का बेटा शादीखांन टप्पा गायन में बहुत प्रसिद्ध हुआ जो कि बाद में काशी नरेश राजा उदित नारायण सिंह के दरबार में आ गया था। इसके अतिरिक्त नवाब हुसेन अली खांन, मम्मी खांन तथा छज्जू खांन भी टप्पा के प्रसिद्ध गवैये थे, जो लखनऊ के ही थे।

ठुमरी का जन्म किसके द्वारा हुआ यह निश्चित अभी तक पता नहीं चला है किन्तु उसके सर्वप्रथम प्रसिद्ध गायक मौलाबख्श थे। ठुमरी, ध्रुवपद, ख्याल, ठप्पा आदि से निम्न कोटि की समझी जाती थी तथा उसे एक प्रकार से नासमझों के मनोरंजन की वस्तु समझा जाता था। ठुमरी का सर्व प्रथम प्रचलन वाराणसी के आसपास हुआ, उसके बाद पंजाब में ठुमरी की शैली का सूक्ष्म अध्ययन करने से ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि यह वाराणसी तथा उसके आस पास के क्षेत्र में प्रचलित 'चैती' का विकसित रूप है। चैती इस क्षेत्र का लोक गीत है जिसे प्रायः चैत मास में ही गाया जाता है। इसकी विलंबित लय, इसके बोल बनाने का ढंग आदि सभी बातें ठुमरी से मिलती जुलती हैं। अतएव चैती से ही ठुमरी का वर्तमान रूप सामने आया होगा इसमें संदेह नहीं।

उपरोक्त विश्लेषण से यह पता चलता है कि भारत में मुसलमानों के आ जाने के बाद तथा संगीत के क्षेत्र में इनके प्रवेश के बाद जिन नवीन गायन शैलियों का प्रचार हुआ उनका मूल स्रोत भारत में पाई जाने वाली ही कोई न कोई गान शैली रही है।

यदि कव्वाली और ग़ज़ल को मुसलिम संस्कृति की वस्तुएं माने तो कोई अनुचित नहीं। किन्तु यह दोनों शैलियां अब तक शास्त्रीय संगीत के अंतर्गत नहीं मानी गई हैं। अतएव इनके रहने पर भी शास्त्रीय संगीत की शुद्धता में कोई बाधा अथवा मिश्रण उत्पन्न नहीं हुआ है।

चौथा तथा अंतिम विषय है—शास्त्रीय व्याख्या अथवा शास्त्रीय संगीत में प्रयुक्त शब्दावली जिससे हमें भाषा के आधार पर इस बात का ज्ञान होता है कि अमुक विषय अमुक संस्कृति-विशेष का है। आज के शास्त्रीय संगीत में जिन शब्दों का प्रयोग होता है वह सभी संस्कृत से तद्भव अथवा तत्सम रूप में आए हुए शब्द हैं। उदाहरण के लिए निम्नलिखित शब्द समूह उपस्थित हैं :—

वादी, सम्वादी, विवादी, अनुवादी, स्वर, नाद, संगीत, ताल, लय, मात्रा, श्रुति, जाति, ग्राम, मूर्च्छना, आरोह, अवरोह, स्थायी, अन्तरा, वर्ण, अलंकार, सप्तक, आदि आदि।

कुछ ऐसे शब्द भी हैं जो उर्दू, फ़ारसी अथवा अरबी भाषा के हैं। यथा :—

मिज़राब, डांड़, तरफ़ या तरब, आमद, पेशकार, कायदा, ख्याल आदि।

इन शब्दों को यदि ध्यान से देखा जाय तो मालूम होता है कि यह संगीत के सैद्धांतिक शब्द नहीं हैं अपितु किसी वाद्य अथवा उसकी वादन सामग्री से सम्बन्धित शब्द हैं। इनमें से मिजराब, डांड़, तरफ आदि के मूल शब्द आर्य भाषा में मौजूद हैं यथा मिजराब के लिए "त्रिकोण", डांड़ के लिए "वराल" आदि। आज जिसे हम तरफ़ या तरब कहते हैं वह वास्तव में "तड़प" शब्द है। "तड़प" सितार अथवा वीणा आदि में प्रयुक्त होने वाले वह तार हैं

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जो मुख्य तारों से भिन्न होते हैं तथा मुख्य तारों को बजाने पर जिनमें स्वर सम्बन्ध के कारण स्वयं अनुरणन होता है। अतएव यहाँ 'तड़प' शब्द का सार्थक प्रयोग हुआ है। मुख्य स्वरों पर आघात करने पर जो ध्वनि उत्पन्न होती है उसी से सम्बन्धित जो तार नीचे रहता है उस में भी उस ध्वनि की स्वाभाविक तड़प आ जाती है। तड़पन की अथवा सहानुभूति की जो स्वाभाविक प्रवृत्ति मानव हृदय में पाई जाती है वही इन यंत्रों में भी मौजूद है। यही 'तड़प' शब्द व्यवहार में तरफ या तरब हो गया है। आमद, पेशकार, कायदा आदि शब्द तबला वादन में तथा कत्थक नृत्य में इन शब्दों का प्रयोग कुछ विशेष प्रकार के बोलों के लिए होता है जिनका सृजन या तो मुसलमानी उस्तादों ने कर लिया है या मुसलमानी दरबार के हिन्दू कलाकारों ने कर लिया है।

इस सम्बन्ध में इस तथ्य की ओर ध्यान देना आवश्यक है कि हिन्दू संगीत का शास्त्र संस्कृत भाषा में रचा गया था, जिसका अध्ययन मुसलमान कलाकारों के लिये संभव न हुआ। धीरे-धीरे कलाकार अपनी क्रियात्मक साधना में इतना तल्लीन होता गया कि उसे दीन-दुनियाँ की भी खबर न रही। अतएव भाषा ज्ञान अथवा साहित्य से वह दूर होता गया। ऐसी स्थिति में जब कभी उसके द्वारा नवीन सामग्री का प्रस्फुटन हुआ तब उसके लिए उसने उसी बोलचाल की भाषा का आश्रय ग्रहण किया जिसका व्यवहार वह स्वयं करता था। अतएव ऐसे कलाकारों के द्वारा केवल उनकी भाषा के आधार पर हमें यह नहीं स्वीकार करना चाहिए कि जो कुछ उन्होंने हिन्दू संगीत के विकास में सहयोग दिया है उसमें विदेशी संस्कृति प्रवेश कर गई है। अपितु यह कहना ही सर्वथा उचित होगा कि जिस हिन्दू संगीत का मूल स्रोत हिन्दू संस्कृति के साथ वेदों में उपलब्ध होता है तथा जिसका क्रमिक विकास उपनिषद काल, पौराणिक काल, बौद्ध काल, जैन काल, गुप्त काल आदि में होता आया था उसी को मुगल काल में मुसलमान कलाकारों ने अपनाया तथा समय समय पर अपनी उत्कट साधना से उसमें नये अंकुर उत्पन्न किये, पर बीज विशुद्ध हिन्दू संगीत का ही रहा। यह संतोष की बात है कि आज जन साधारण में हिन्दू संगीत के प्रति संदेह उत्पन्न हो जाने के बावजूद भी प्रायः सभी श्रेष्ठ मुसलमान गायक हिन्दुओं की भांति संगीत की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती की ही वन्दना करते हैं और आदि देव महादेव को ही इसका आदि जनक मानते हैं।

अतएव इसमें कोई अत्युक्ति अथवा पक्षपात की भावना नहीं कि आज जिस संगीत का प्रयोग सारे भारत, पाकिस्तान, बर्मा, सीलोन, श्याम आदि में होता है वह हमारा प्राचीन हिन्दू संगीत ही है। इसी हिन्दू संगीत में समय समय पर अन्य संस्कृति के महान् साधकों, चिन्तकों द्वारा जो योग-दान दिया गया है, उससे उसमें क्षेत्रीय भिन्नता अवश्य उत्पन्न हो गई है, किन्तु हिन्दू संगीत में अन्य संस्कृति के तत्त्व ढूंढ़ना अथवा सिद्ध करना व्यर्थ की बात है।

* * * *

गङ्गा यत्पादसङ्गात्सरिदुपरि परिक्रीडतेऽनङ्गहारी
यस्याङ्गाङ्गच्छटाभः सृजति सदानुत्तमाङ्गे मणिं तम्।
इन्दुर्यन्नेत्रभावं गत इति जगदालिङ्गिरोचिस्तरङ्गः
पद्मोत्सङ्गाङ्गरागं हरिममृतरुचस्तन्तु धिन्वन्तु वाचः॥

(संगीत दामोदर प्रथमस्तवकः)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'स्केच' और चित्र

(श्री दुर्गाप्रसाद पटनायक)

कभी-कभी प्राकृतिक दृश्य बहुत सुन्दर लगते हैं। कभी-कभी तो मन में बहुत सी ऐसी भावनाएं जागृत होती है जिनको रूप देने के लिए स्वभावतः इच्छा होती है और चित्र बनाकर अपने आप आनन्द लेने को मन हो जाता है। परन्तु जब शिक्षार्थी चित्र बनाने बैठता है तब पता चलता है कि उसके पास इतने साधन नहीं हैं जिनकी सहायता से वह कोई एक चित्र अच्छी तरह बना सके। फिर बनाएगा कैसे ? दूसरे किसी चित्र से नकल करने की इच्छा भी होती है, परन्तु सच्चे शिक्षार्थी के मन की प्यास नकल से नहीं मिटती है। नहीं तो नक़ल के लिए काफ़ी चित्र उसके सामने हैं—अजन्ता है, राजस्थानी है, मुग़ल है, कांगड़ा है, और भी कई आधुनिक कलाकारों के सैकड़ों चित्र विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में निकलते रहते है। फिर क्या, यह तो एक सुगम मार्ग है। दो-चार चित्र सामने रख दो। एक से भाव-भंगी, दूसरे से वर्ण, किसी से पेड़ तो किसी से आकाश चुन-चुन कर ले लो और अपने चित्र में बैठा दो। चित्र बन जाएगा। बन तो जाएगा, पर इसमें तृप्ति कहां है ? चित्र मेरा है—यह कहने का साहस नहीं रहेगा क्योंकि इसमें निजत्व नहीं है। तब होगा क्या ? शिक्षार्थी सोचता है कि कलाकार ने कैसे चित्र बनाया है ? मैं इस लेख में यही कहना चाहता हूँ कि चित्र कैसे बनाया जाता है।

इसका मूल है स्केच। स्केच का चित्रकला में एक भिन्न अर्थ होता है। किसी प्राकृतिक वस्तु को देखकर उसका चित्र जितनी अल्प रेखाओं तथा वर्ण के प्रयोग से हो सके, करने को स्केच कहते हैं। उसका एक अर्थ और भी होता है। किसी एक चित्र को बनाने के पहले शिल्पी एक 'स्केच' बना लेता है। मतलब, चित्र की भूमि पर कुछ रेखाओं की सहायता से एक 'खसड़ा' बना लेता है। कैसे बनाएगा, वस्तु को कहां रखेगा, कहां क्या रंग भरेगा, इन सब का एक अर्थचित्र बना लेता है। इसको भी स्केच या टिप्पणी कहते हैं। मैं 'स्केच' के प्रथम अर्थ के बारे में कहना चाहता हूँ।

कलाकार होने के पहले चित्र सम्बन्धी अन्यान्य शिक्षण के साथ-साथ प्रकृति से स्केच करना आवश्यक है। यहां एक प्रश्न हो सकता है कि जब कला प्रकृति की नक़ल नहीं है तो स्केच की फिर आवश्यकता कहां है ?

हां, प्रकृति की हूबहू नक़ल नहीं भी है और है भी। चित्र के मनुष्य, पशु-पक्षी, पेड़-पौधे प्रकृति की नक़ल है या नहीं इसे देखना है। शिल्पी प्रकृति से नक़ल करता है। चित्र में वह वस्तु के रूप को अपने ध्यान में लाता है। और मन में आये हुए ध्यान को भावयुक्त करके रूप देता है। इससे प्राकृतिक वस्तु का अनुशीलन आवश्यक है। अनुशीलन के लिए 'स्केच' ज़रूरी है। प्राणियों की विभिन्न भाव-भंगियों का अध्ययन करते समय कोई जब उन्हें केवल मन में अंकित न करके काग़ज़ पर अंकित कर लेगा तो उससे स्वस्थ और सजीव चित्र बना सकेगा। मन में अंकित करने से कुछ दिनों के बाद भूल भी सकता है, परन्तु स्केच में यह रह जाएगा और वह कभी भी इस स्केच को देखकर चित्र भी बना सकता है। स्केच को बार-बार देख कर उसे याद भी कर लेगा। प्रकृति में विभिन्न वस्तुओं का कितना परिवर्तन होता है—कभी लाल फूलों से पेड़ लद जाते हैं, कभी आम के बौर से शोभा बढ़ जाती है। ज़रा डालियों का सौन्दर्य जाड़े के दिनों में तो देखिए। साल भर ये सब पत्तियों में छिप जाते हैं परन्तु पतझड़ के समय अपना रूप प्रदर्शित करते हैं।

मनुष्य की भाव-भंगिमा विभिन्न अवस्था में अलग-अलग मालूम पड़ती है। केवल यह सब देखकर कोई चित्र में प्रयोग करने का प्रयास करेगा तो चित्र उतना सुन्दर नहीं हो सकेगा जितना 'स्केच' की सहायता से होगा। यहां एक प्रश्न उठता है कि जितने कलाकार हुए हैं, वे सब क्या 'स्केच' बनाकर कलाकार हुए हैं ? हां जितने कलाकार (नक़लकार नहीं) बने हैं जिनकी कला में कुछ न कुछ विशेषताएं हैं, उन्होंने जरूर 'स्केच' की सहायता ली होगी। प्रत्येक पाश्चात्य शिल्पी ने 'स्केच' किया है। पिकाशो जो विकृत एवं अस्पष्ट चित्र बनाता है, वह भी 'स्केच' बनाता है। इन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लोगों को 'स्केच' ही एक कला है। 'स्केच' देखकर भी एक पूर्ण चित्र देखने का आनन्द मिलता है। भारतीय शिल्पियों को देखिए। अजन्ता चित्र में हाथ की मुद्राएँ, अंगों के हाव-भाव देखने से ज्ञात होता है कि उन लोगों ने स्केच की सहायता ली होगी, मुग़ल चित्र से भी यही धारणा होती है। आधुनिक शिल्पी भी 'स्केच' से चित्रों की रचना करते हैं। नन्द बाबू ने अपना मत व्यक्त किया है कि 'स्केच' शिल्प-शिक्षण का एक अंग है।

बिना 'स्केच' के चित्र बन सकता है, परन्तु कोई एक मन से बनाएगा और दूसरा स्केच की सहायता से—अंतर तुरन्त मालूम हो जायगा। मैं यहां सिद्धहस्त शिल्पी की बात नहीं, बल्कि शिक्षार्थी और जो लोग विनोद के लिए चित्र बनाते हैं, उन लोगों की बात करता हूँ।

'स्केच' बनाते-बनाते शिक्षार्थी के हाथ से इतना सुन्दर 'स्केच' निकलेगा कि वह भी एक सुन्दर चित्र बन जायगा। अभीष्ट वस्तु मन में एक गम्भीर रेखांकन करेगी, जल्दी ही याद हो जायगी क्योंकि जिस वस्तु पर ध्यान देकर 'स्केच' बनाया गया है, आंख बन्द करते ही वह आंख के सामने दिखाई पड़ेगी। 'स्केच' अर्द्ध-चित्र होते हुए भी कभी-कभी पूर्ण चित्र से अधिक आनन्द देता है, जैसे बच्चों की अटपटी वाणी' स्पष्ट भाषा न होकर भी सुन्दर और मनोहारी होती है।

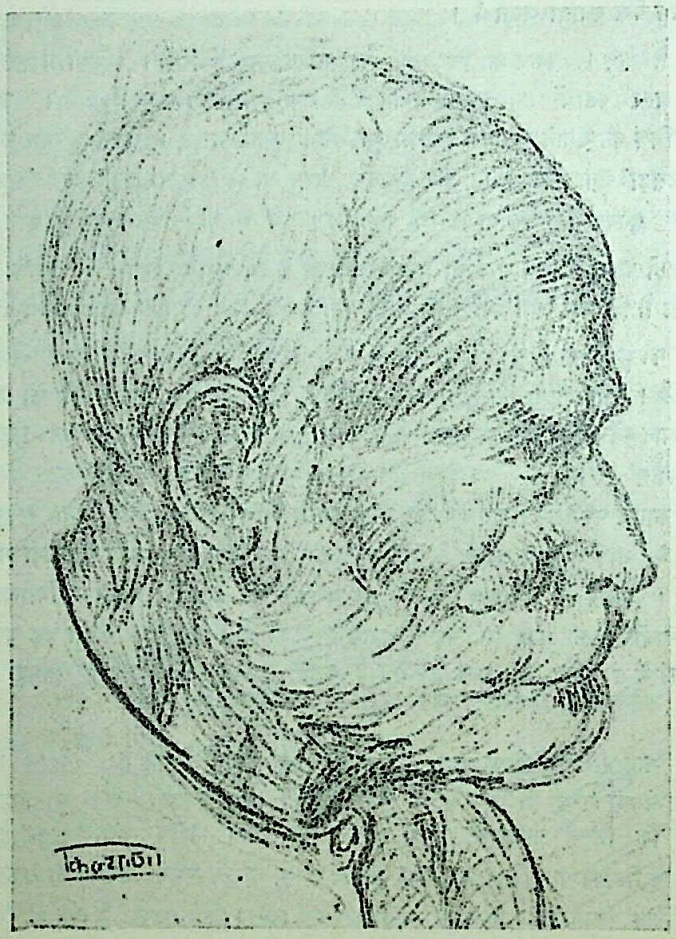

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

NOTES AND SCALES : BHARATA'S SYSTEM

By

SANGĪTA-MĀRTAṆḌA PT. OMKARNATHJI THAKUR

The principle underlying the structure of musical notes and scales is eternal and remains unaffected through the passage of time and holds good for all time admitting no change whatsoever. It is constant and everlasting, may it be propounded by Bharata, Pythagoras or Helmholtz; it matters little whether we express the consonance of notes in Bharata's language as 'nine and thirteen Śruti interval' or through arithmetical fractions 4/3, 3/2 in accordance with Pythagoras.

That the principles expounded by Bharata, the earliest extant authority on Indian Music, still permeate our practice of music without the least modification and that their scientific basis still remains beyond dispute, forms the thesis of this article.

The books and articles that are being written and published nowadays, under the direct influence of the medieval writers who were themselves unable to evaluate the relative positions of notes and Śrutis and were also unable to locate correctly, svara, śruti and grāma on Viṇa, and who had not attained full factual accomplishment in these subjects, are generally responsible for creating confusion and spreading erroneous notions among the students of Music and the public at large. We do not mean to say that this confusion is being deliberately created, but the fact that such writings and publications on the above subjects are undertaken without a complete understanding and practical application of subtle concepts like svara, śruti and grāma, without a definite grasp of their exact location on the Vīṇā and without practically ascertaining the Śruti intervals of the frets on Vīṇa, is rather deplorable. Thus the successive line of wrong notions that came into existence in medieval times gains strength instead of meeting its rightful end and creates an intellectual conflict among immature students and interested laymen.

A thorough grasp of fine Śruti intervals and trained ears are required for a proper understanding of the eternal principles of Svara enunciated by Bharata. Vīṇā is the only medium for establishing correctly these principles of svara by the aural perception accompanied by visual testimony because fine intervals of Śruti-svara, consonance (Saṁvāda), dissonance (vivāda) and assonance (anuvāda) can be demonstrated on the Vīṇā alone.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

The present day Vīṇās can be classified under two heads: under the one we have the vīṇās having their main string on their right side and under the other, on the left side. The arrangement of strings on the Vīṇās of the former type has been described by Rāmāmātya as follows:

वीणायामुपरिस्थाने चतस्रो लोहतन्त्रिकाः । वघ्नीयात्पार्श्वतस्तिस्रोऽधस्ताद्दक्षिणभागतः ।
सप्तस्वेतासु तन्त्रीसु वक्ष्यामः स्वरयोजनम् । तत्रोपरिस्थितानां तु वामे चतसृणामपि ॥
आद्यायां स्थापयेत्षड्जमनुमन्द्राभिधानकम् । अनुमन्द्रं पञ्चमं तु द्वितीयायां निवेशयेत् ।
तृतीयायां तन्त्रिकायां मन्द्रषड्जं प्रयोजयेत् । कल्पयेच्च स्वरं तन्त्र्यां चतुर्थ्यां मन्द्रमध्यमम् ॥

According to this quotation the four main strings of the Vīṇā are tuned in the following order, which commences from the left side of the Vīṇā although, the main string is fixed on the right side.

THE RIGHT SIDE OF VĪṆĀ		THE LEFT SIDE OF VĪṆĀ	
4	3	2	1
Fourth string	Third String	Second string	First string
Mandra Madhyama	Mandra Ṣaḍja	Anumandra Pañcama	Anumandra Ṣaḍja

Apart from these four main strings three small strings are fixed in the lower portion of the right side of the Vīṇā which have nothing to do with the frets. It is therefore unnecssary to deal with these strings here. It may be noted that among the Vīṇās that are played on their right side the Rudra Vīṇā of South India and the *Brahma Vīṇā or Bīna of the other parts of India are particularly in vogue. Other Vīṇās such as Kinnarī (Sitar), Kacchapī (Kachavā) and Sur Bahār that are in actual use in all parts of India excluding the South have their main string on the left side and the order of tuning the strings is as follows :—

RIGHT SIDE OF THE VĪṆĀ		LEFT SIDE OF THE VĪṆĀ		
5	4	3	2	1
Fifth String	Fourth String	Third String	Second String	First String
Anumandra Ṣaḍja	Anumandra Pañcama	Mandra Ṣaḍja	Mandra Ṣaḍja	Mandra Madhyama

A cursory glance at the two arrangements of strings given above will show that the only difference between the two is one of the right and the left side i.e in the first arrangement thefirst string from the right side is tuned to Mandra-Madhyama and in case of the other the first string from the laft hand is tuned to the same note. Apart from this difference of right and left it may be noted that in vīṇās like the Sitār there are two strings for

* The ekatantrī Vīṇā is also called Brahma Vīṇā by some while others name the above noted Bīna as Rudra Vīṇā and the Southern Vīṇā as Sarasvatī Vīṇā. Anyway here by Brahma Vīṇā we mean only the Bīna.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

the Mandra Ṣaḍja which are called the Joda or Yugma (Couple) strings and thus the number of main strings on these vīṇās is five instead of four and consequently the side strings (cikārī) are two instead of three.

The above mentioned traditional orders of tuning the strings on the Vīṇā have remained unimpaired during many past centuries.

The main string of the Vīṇā is invariably tuned to the Mandra Mandhyama in actual practice in all parts of India and the practice is corroborated by the *South Indian works on Music. The following theoretical enunciations can be established only if we follow the traditional rule of tuning of the main string to the Mandra Madhyama :—

1. The Madhyama of the Madhya-Saptaka is obtained exactly in the centre of the Vīṇā and thus its nomenclature 'Madhyama' has a double significance namely, on the one hand it is 'Madhyama' because of its being situated in the Centre of the Vīṇā and on the other it is 'Madhyama' because of its middle position among the seven svaras of the Madhya Saptaka having 'Sa re ga' and 'pa dha ni' at its two sides.

2. The second fret from the Meru would be called pañcama only if we tune the main string to Madhyama, and on that fret itself that real ṣaḍja of Bharata's Ṣaḍja-grāma will be obtained on the fourth Śruti from the Meru. Thus Bharata's dictum 'Pañcamena śuddha Ṣāḍjī' would come true.

3. Taking the main string as Madhyama, Ṣaḍja Grāma is rightly obtained on the Vīṇā and on the basis of this obtainment Madhyama grāma is also rightly obtained and the delusion of Madhyama grāma having gone to heavens is removed.

4. The above mentioned location of Ṣadja grāma leads to Madhyama getting pride of the place 'Sarva svarāṇām pravaraḥ' and of being inexcludable and indispensable. We know that a note can become inexcludable and indispensable only when it is taken as Ṣaḍja and it is true that excluding the Karṇātak system the Hindu and Muslim artists of all other parts of India have been using this very Madhyama of the Ṣaḍjagrāma as Ṣaḍja in their actual practice from the hoary past.

5. Taking the Ṣaḍjagramika Madhyama as Ṣaḍja the natural or Suddha notes are obtained and the wrong notion that the system of Indian (so called North Indian) music is influenced by some non-Indian system of music is uprooted.

6. The Ṣaḍja of Madhya Saptaka establishes its tonal identity with the string of Mandra Ṣaḍja which is adjacent to the main string of the Vīṇā only when it is located

* In actual present-day practice in the South this rule as found in their works is not followed because they take the main string to represent Madhya Ṣaḍja instead of Mandra Madhyama.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

on the fret where the artists of the whole of India excluding the South fix their Ṣaḍja. In other words the very place of Madhya Ṣaḍja which is obtained by taking the main string as Mandra Madhyama that very fret establishes tonal identity with the Mandra-Ṣaḍja string of the Vīṇā with the interval of seven notes. (Saptaka)

7. The obtainment of three sthānas (Registers) under one and the same string is possible only if that string is taken as Mandra Madhyama. We have the Mandra-sthāna (lower Register) extending from Mandra Madhyama to Mandra-Niṣāda, the Madhyasthāna (middle Register) extending from Madhya Ṣaḍja to Madhya Niṣāda and the Tāra-sthāna (upper Register) extending from Tāra-Ṣaḍja to Tāra-Madhyama and thus the three sthānas (Registers) are obtained under that one main string.*

In fact the playing of only two saptakas is easily possible under one string. The three sthānas are therefore obtained on the Vīṇā when we take the main string as Madhyama and get one half of the Mandra-Sthāna, full Madhya Sthāna and one half of the Tāra-Sthāna.

When the main string is taken as Mandra Madhyama there is full scope on the other strings for playing in the Mandra, Mandratara and Mandratama Sthānas and similarly the notes of the Tāra-sthāna can be obtained by straining the strings on the fret of Tāra Madhyama and both these devices are resorted to by the expert artistes. Thus three sthānas are obtained under the main string on the frets of two Saptakas.

But if the main string is taken as Mandra-Saḍja, only Mandra and Madhya-Sthānas will be obtained and there will be no scope for the Tāra-Sthāna. If an attempt is made per force for fixing additional frets after two Saptakas as is suggested by some, the mutual interval of those frets will be so close that actual playing over them will become impossible. Hence those who maintain that the centre of the Vīṇā is the starting point of Madhya Saptaka, have themselves failed to understand the system of Svara propounded by Bharata and thus strengthen the fabric of confusion. Others however mislead the readers by declaring that the ancient Vīṇā used to be nearly one and a half yards in length and that for this reason full three Saptakas could be obtained under one and the same string. How misleading, incoherent, uncovincing and unpractical this declaration is will be evident from the following statement.

---

* The three sthānas have been shown above keeping the Saptaka in view. From the point of view of the (aṣṭaka) octave Ṣadja holds the double position of being responsible for the completion of the Aṣṭaka and the starting point of the Saptaka. Hence according to the aṣṭaka the three Sthānas are obtained on the main string extending from Mandra Madhyama to Madhya Ṣaḍja, from Madhya Ṣaḍja to Tāra Ṣaḍja and from Tāra Ṣaḍja to Tāra Madhyama.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Everyone right from the expert artist to the illiterate artisan of Vīṇā knows it well that it is from the very centre of the length of the string extending from the Meru to the bridge that the note struck on the unstressed string resounds in double pitch. Thus we may keep the length of the string of vīṇā at a hundred, fifty or twenty five inches, the double pitch of the unstressed string will only be available at the very centre of it and however much the length of the Vīṇā be increased, only one Saptaka can be comfortably played after its Madhya-Sthāna.* Over and above the frets of this Saptaka we shall have to leave some length of the string for striking the Nakhī (Striker) for otherwise the Vīṇā shall not give a resonant performance. In this respect the length and breadth of Vīṇā makes no difference, nor can it make any. Those who, in the name of ancient Vīṇās, talk of such instruments that are neither in use nor can be sighted anywhere, and declare that the three Saptakas can or should be obtained under one string by lengthening the Vīṇā, neither understand the principle of Svara nor are they conversant with the procedure of establishment of Svara on the Vīṇā. And yet the fact that articles and papers incorporating such wrong notions are being written and published is deplorable.

In fact the Madhya Saptaka of Vīṇā commences from the place of our present day Madhya Ṣaḍja. This is also the Madhya Saptaka of Matanga regarding which he says 'Madhya Saptakena Mūrcchanā Nirdeśaḥ Kāryaḥ' and this also is the Madhyama Svara of Bharat for which he says ;—'-Madhyama Svareṇa vaiṇena Mūrcchanā Nirdeśaḥ Kāryaḥ, avināśītvānmadhyamasya."

If writers like Rāmāmātya and others who have attempted to establish the notes of Bharata's Ṣaḍja-grāma on Vīṇā, had taken the unstressed string as Madhyama and had started Ṣaḍja grama from the second fret ie. from Mandra Pañcama they would have obtained perfectly the sequence of Śruti-intervals going as 4– 3– 2– 4– 4– 3– 2 and the significance of Bharata's dictum, 'Pañcamena śuddha ṣāḍjī' would have been established.

But those authors started the establishment of Ṣadjagrāma from the string of Mandra Ṣadja itself, although they laid down in accordance with the old tradition that the main string should be tuned to Madhyama, consequently the main string was taken by them as the Madhyama of the scale of Ṣadjagrāma. The utter disorder created by this sort of 'establishment' of svaras will be clarified a little later.

Presently, two misconceptions regarding the establishment of Ṣadjagrāma on Vīṇā are particularly getting current viz :—

1. Some people following in the footsteps of Rāmāmātya take the unstressed string as Ṣaḍja and make an attempt, without success albeit, to establish the notes of

* It should be kept in mind that the length of Vīṇā can be increased only within the limits set by convenient playing. Any length of Vīṇā cannot be suitable for human use.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Ṣaḍjagrāma on the frets of Vīṇā as recognised by tradition. The sequence of Śruti intervals as conceived on the frets of the Rudra Vīṇā by Rāmāmātya, the originator of the wrong notion that the Ṣaḍjagrāmika notes are obtainable as such, is illustrated in the accompanied diagram.

What a great disorder is implied in his sequence of Śruti intervals will become clear from a single example. He has correctly established the Pañcama on the second fret from the Meru, under the string of Madhyama. We know that the four-Śruti-interval of Madhyama-Pañcama is eternally established and this is acceptable to him. Hence in accordance with the establishment of svara as cognised by these writers, we shall have to accept a four-śruti-interval between the second fret of Vīṇā and the Meru. But under the string of Mandra Ṣaḍja, on that very second fret he establishes Śuddha (Ṣaḍjagrāmika) Gāndhāra which in every way is incorrect, for, the interval of Ṣaḍjagrāmika Gāndhāra from Ṣaḍja is that of five śrutis. Thus, how illogical, impossible and unscientific the assumption of two different Śruti intervals under two strings on a single fret is, needs no mention.

2. The other misconception that is being spread by some unqualified writers lacking in consistency of thought is this.

They say that since medieval times the procedure for fixation of frets on Vīṇā has changed, therefore to-day, the sequence of Ṣaḍjagrāmika Śruti intervals on the frets of Vīṇā is not obtainable to us by taking the unstressed string on the Meru as Ṣaḍja. But according to them in the ancient times the frets used to be so fixed on the Vīṇā that the sequence of Śruti intervals of Ṣaḍja Grāma was obtained by taking the unstressed string as Ṣaḍja and which can be obtained even now by adopting the same procedure of the fixation of frets on the Vīṇā. Their conception is practically unacceptable, theoretically groundless, and unpalatable from the point of view of tradition, because :—

(a) It is absolutely false to say that the present day procedure of the fixation of frets on the Vīṇā is a result of a certain change; while to hold that it is influenced by the Mukām system of Iran is equally far from truth.

(b) Whereever and on whatever instrument the frets are fixed according to the natural consonance of notes throughout the world, the same procedure will be followed as has been handed down to us by tradition.

(c) there is complete coherence in the tuning of the frets and the strings in this tradition based on consonance of notes which is prevalent from the last so many centuries. This alone is convenient for the facility of playing. This is the medium for readily obtaining the Ṣaḍjagrāma, Madhyamagrāma

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

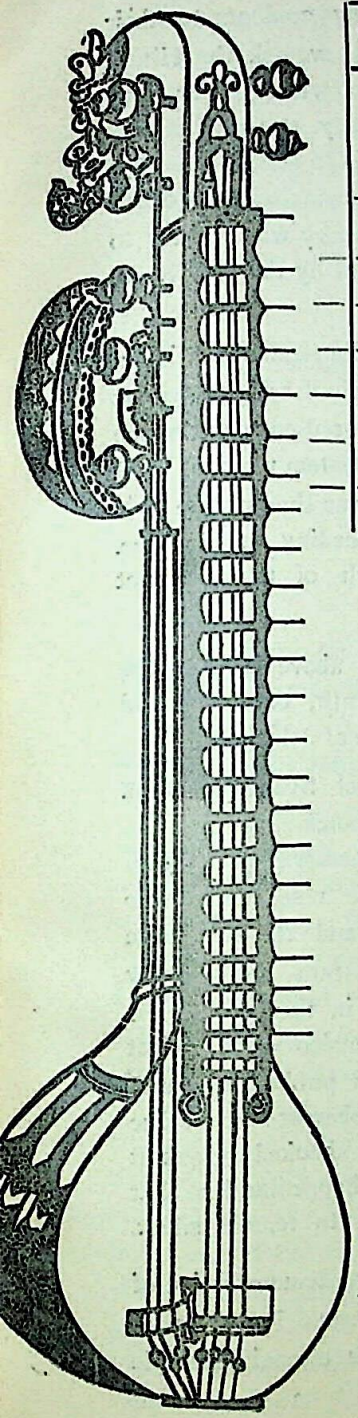

The right side of the Vīṇa						The left side of the Vīṇa			
No. of frets	actual Śruti Intervals	Location of Notes Under the Fourth String	Conceived Śruti intervals	Location of notes under the Third string	Conceived Śruti intervals	Location of notes under the Second String	Conceived Śruti intervals	Location of notes under the First String	Conceived Śruti intervals
Meru	0	Man. Ma	?	Man. Sa	?	A.Man.Pan	?	A. Man. Ṣ a	?
1	2	Cyu.Pan.Ma	2	Śu. Ṛ	3	Śu. Dhai	3	Śu. Ṛ.	3
2	2	Śu. Pan.	2	Śu. gān.	2	Śu. Ni	2	Śu. Gān.	2
3	2	Śu. Dhai	3	Sā. gān.	1	Kai. Ni	1	Sā. Gān.	1
4	1	Śu. Ni	2	Cyu.Ma gān	1	Cyu.Ṣa.Ni.	1	Cyu.Ma.gān	1
5	2	Kai. Ni	1	Śu. Ma	2	Śu. Ṣa	2	Śu. Ma.	2
6	2	Cyu. Ṣa. Ni	1	Cyu.Pa.Ma	2	Śu. Ṛ	3	Cyu.Pan.Ma	2

Note ;—For the sake of convenince the strings of both the right and left side of the Vīnā have been shown on the left side. Actually the main string on the southern Rudra vīnā is fixed on its right side.

The abbreviations of the names of svaras given above stand for the following terms.

Man. = Mandra
A. Man. = Anumandra
Ma. = Madhyama
Pan. = Pañcama
Śu. = Śuddha
Cyu. Pa. Ma. = Cyuta Pañcama Madhyama

Dhai = Dhaivata
Kai. Ni = Kaiśika Niṣāda

Cyu. Ṣa. Ni = Cyuta Ṣadja-Niṣāda
Ṛ = Ṛṣabha
Gān = Gāndhāra
Sā Gān. = Sādhāraṇa Gandhāra
Cyu.Ma.Gān. = Cyuta Madhyama Gāndhāra

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

and the natural scale. How can we forsake such a coherent, easily approachable to all and pure tradition merely by giving credence to their word and why should it be ? How can we and why should we ask the Hindu and Muslim artists to renounce the traditional path of truth ? For they know that to give up this system which is capable of easy accomplishment and which is in accordance with the principle of Svara, is to render the Vīṇā unmusical ; who would then stand performance of that unmusical and dissonant Vīṇā, who would listen to it ? It is always and in every way better to remain away from such misconceptions that are spread by the people infatuated with their vanity in propagating a new system.

(d) Like arithmetic, the consonance of notes is unalterable and invariable. Besides the above reasons, keeping this fact in view, we shall have to admit that either the system of fixing the frets on Vīṇā which is based on consonance and has held the ground so far, is alone true and the system which is said to have been prevalent prior to that is wrong or otherwise the system that has remained in vogue up-till now is wrong and the preceding one is true. If both the systems have remained different then both of them cannot be true at one and the same time.

The conclusion to be derived from all that has been said above is that the tradition which is followed by all artists of India alone represents Truth, Goodness and Perfection ; all other propagated conceptions are fashioned in the fabric of delusion.

The above explained eternal truth regarding the fixation of Svaras on Vīṇā is fully corroborated by the following statements of Bharata. 'Pañcamena Śuddha Ṣāḍjī' 'Sarva svarāṇām pravaro hi avināśī tu Madhyamaḥ' 'Madhyamasvareṇa vaiṇena Mūrcchanā-nirdeśaḥ Kāryo-avinaśitvānmadhyamasya' etc. But, those researchers who simply try to solve these problems in the light of Saṅgīta Ratnākara and its successive medieval works without properly understanding those statements of Bharata are scarcely able to free themselves from the innumerable complexes embedded in them. On the other hand certain people desirous of being counted among the musicologists collect scattered pieces from here and there of the true principles from modern publications and present these subjects in their writings and publications in such an incoherent manner due to their incomplete understanding of those principles that one is simply shocked to look at the after effects of those writings and publications. And yet it is happening like that and there is no remedy for it ; because, it is futile to request them to remain silent.

What then is the solution ?—the exposition of truth, the factual demonstration of Śruti-intervals on the Vīṇā and repeated publication of such expositions. For the sake of this sacred cause we are showing below in accordance with Bharata's eternal principle

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

of Svara the establishment of Ṣaḍja-grāma and Madhyama grāma on the Kinnarī Vīṇā (Sitār) which is easily available to all and with which all are well acquainted ; along with this is also shown the inherent relation of our modern Śuddha or natural scale with the two grāmas. The repeated writing, publication and study of these principles is essential. We hope that for the sake of clear exposition, repetition will not be considered a fault.

Let us take the Ṣaḍja-grāma first.

ṢAḌJA-GRĀMA

Bharata has enumerated the sequence of Śruti intervals of the notes of Ṣaḍja-grāma as follows :—

षड्जश्चतु; श्रुतिर्ज्ञेयः ऋषभस्त्रिश्रुतिः स्मृतः ।
द्विश्रुतिश्चापि गांधारो मध्यमश्च चतुःश्रुतिः ॥
चतुःश्रुतिः पंचमः स्यात् त्रिश्रुतिर्धैवतस्तथा ।
द्विश्रुतिस्तु निषादः स्यात् षड्जग्रामे स्वरान्तरे ॥
(ना० शा० २८)

Four Śrutis for Ṣadja, three for Ṛṣabha, two for Gāndhāra, four for Madhyama, four for Pañcama, three for Dhaivata and two for Niṣāda—these are the Śruti intervals of Ṣaḍja-grāma. The procedure given below is most scientific for accurately establishing on the Vīṇā the Ṣaḍja-grāmika Svaras in this sequence of Śruti intervals.

We have said before that the main string of the Vīṇā which is tuned to Madhyama should only be taken as Madhyama. The second fret from the Meru is called Mandra Pañcama and it is situated at the interval of four Śrutis from the Meru because the four Śruti interval of Madhyama-Pañcama is a truth that transcends time and space. That very fret of Pañcama should be taken as the Ṣaḍja of Ṣaḍja-grāma. The establishment of the Ṣadja of Ṣadjagrāma on the fourth Śruti after leaving three Śrutis is laid down in our texts and this fret of the Vīṇā is the only position from where the sequence of Śruti intervals of Bharata's Ṣaḍjagrāma is perfectly obtained. In the order of Mūrcchanās given by Bharata we find Uttara-Mandra from Ṣaḍja, Rajanī from Niṣāda, Uttarāyatā from Dhaivata and *Śuddha Ṣaḍji from Pañcama.* The name Śuddha Ṣāḍjī for the fourth Mūrcchanā speaks for the fact that the original scale of Ṣadja grāma has been placed in the fourth Mūrcchanā and this Mūcchanā is said to begin from Pañcama. (Pañcamena Śuddha Ṣāḍjī). It may be noted here that on the one hand the first Mūrcchanā of Ṣaḍjagrāma has been named as 'Ṣaḍjena Uttaramandrā' and thus the starting point of the first Mūrcchanā has been said to be Ṣaḍja and on the other hand the fourth Mūrcchanā has been named as 'Pañcamena Śuddha Ṣāḍjī' and thus the location of the original scale of Ṣaḍjagrāma has been pointed out in the fourth Mūrcchanā

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

which clearly indicates that Pañcama, the starting point of this Mūrcchanā is itself tne Śudha-Ṣaḍja of Ṣaḍjagrāma. The Ṣaḍja which has been said to be the starting point of the first Mūrcchanā and the Śuddha Ṣaḍja of the fourth Mūrcchanā which begins from Pancāma raise the question of their location on Vīṇa. Though the question has been dealt with above, yet for a clearer expositon it is being taken up once again.

A careful study of Bharata's order of Mūrcchanās would reveal that the place of the original scale of Ṣaḍja-grāma in Śuddha Ṣāḍjī can be established only if the first Mūrcchanā Uttaramandrā is commenced from the Madhyama of Ṣaḍjagrāma and not from its Ṣadja. Bharata has also given Madhyama a prominent place by describing it as 'Sarvasvaraṇām pravaraḥ' and has called it indispensable and unavoidable. All these attributes of Madhyama can be significant only if that Madhyama is given the place of Ṣaḍja in actual practice. As soon as that Madhyama is taken as Ṣaḍja the nomenclature 'Pañcama' for the starting point of the fourth Mūrcchanā (Pañcamena Śuddha Ṣāḍjī), becomes significant. That Pañcama is itself the Śuddha Ṣāḍja or the original starting point of Ṣaḍjāgrama, as will be clear from below :—

the descending order from the Madhyama of Ṣaḍjagrāma.————————ma-ga-ra-sa
the svaras obtained by taking the Madhyama as Ṣaḍja.————————sa-ni-dha-pa

Thus if we commence the order of Mūrcchanās after taking the Madhyama of ṣaḍjagrāma as Ṣaḍja, the original Ṣaḍja of Ṣaḍjagrama gets the name of Pañcama and makes the dictum 'Pañcamena Śudha Ṣāḍjī' significant.

The conclusion to be derived from the above discussion is that 'Ṣaḍjena Uttaramandrā' and 'Pañcamena Śuddha Ṣāḍjī', these two statements of Bharata can be reconciled only if we hold that the starting point of the first Mūrcchanā Uttaramandrā is the Madhyama of Ṣaḍjagrāma and therefore the original Ṣaḍja of Ṣaḍjagrāma becomes Pañcama by taking that Madhyama as Ṣaḍja. On the one hand the intention is that in actual practice the Madhyama of ṣaḍjagrāma should be given the place of ṣaḍja and therefore, the starting place of Uttaramandrā has been called Ṣaḍja instead of Madhyama and on the other hand the fact that the original Ṣaḍja of Saḍjagrāma becomes Pañcama as soon as the Madhyama is called Ṣaḍja, has been indicated by the statement 'Pañcamena Śuddha Ṣādjī'; but it is really the Śuddha Ṣaḍja of Ṣaḍjagrāma in spite of its getting the name of Pañcama in the scale used in actual practice.

In this connection it is noteworthy that some people raise a doubt as to why the starting points of Ṣaḍjagrama and the scale in actual practice are different. Why this contradiction in theory and practice ? Why such Ṣaḍjagrāma was brought in

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

to existence which was different from the scale in actual practice. Why such a difference in theory and practice as enunciated by the theoreticians ? The solution of these problems is given below.

In fact the purpose of the Śuddha (natural) scale in practice and the theoretical Grāma is different. The natural scale is a self-evident fact while Grāma is purely a scientific and theoretical construction for the understanding and fulfilment of the following purposes :—Theoretical classification, demonstration of fine Śruti intervals and ascertainment of their measurement and establishment of the mutual consonance of Śrutis on the basis of the consonance Sa- Pa and Sa- Ma inherent in the notes. Just as rules of grammar are framed in order to regulate a spoken language, similarly Grāma has been conceived in our theory under the principle of Svara as laid down by the theoreticians for the purposes of classification of the musical scales in practice, ascertainment of the measurements of the fine Śruti-intervals and the establishment of the consonance of notes. If the natural scale be conceived as language, the grāma is its grammar. At the same time it can be maintained without any doubt that our ancient system of grāma comprehended by the Ṣaḍjagrāma and Madhyamagrāma is flawless in scientific precision and unique among the systems of music in the world in mathematical accuracy and the simplest technique of consonance of notes that it presents. Whereas it is true on the one hand that theoretical grāma and the practical natural scale are different because of the difference in their purpose it is also true on the other hand that the two theoretical grāmas have an invariable relation with the natural scale. This relationship has been so intertwined in the structure of the grāma system i. e. the structure of the two grāmas, that the Ṣaḍja of the natural scale becomes Madhyama in Ṣaḍjagrāma and Niṣāda in Madhyamagrāma. In other words the Ṣaḍjagrāma has been established by taking the Pañcama of the natural scale as Ṣaḍja, while the Madhyama grāma has been established by taking the Pañcama of the Ṣaḍjagrāma as Ṣaḍja. In order to bring out the natural relationship of Ṣaḍjagrāma and Madhyamagrāma it has been said in other words that Madhyamagrāma is obtained by taking the Ṣaḍja of ṣaḍjagrāma as Madhyama : ('Ṣaḍjādayo madhyamāditvaṁ pratipadyante').

The consonance of Ṣaḍja-Pañcama prevails among all the intervals of notes in Ṣaḍjagrāma as Sa-pa, re-dha, Ga-ni, Ma-Sa. In Madhyamagrāma the consonance of Ṛṣabha-Pañcama in accordance with Ṣaḍja-Madhyama-bhāva is obtained which is absent in the Ṣaḍjagrāma. When the Ṛṣabha-Saṁvādī Pañcama of Madhyamagrāma was obtained, its lower pitch in comparision with the Ṣaḍja-Saṁvādī Pañcama of Ṣaḍjagrāma was aurally detected by the theoreticians and the pitch interval denoting the difference between the Pañcamas of the two grāmas was called Pramāṇa Śruti. The ascertainment of the measure of other Śruti intervals through the procedure of Catuḥsāraṇā became possible on the basis of this Pramāṇa Śruti.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

After so much clarification the wrong notion that Ṣaḍjagrāma is itself the Śuddha scale of the ancient times, should be uprooted for ever. Let there be no doubt that the two grāmas constitute the theoretical structure which has emanated from the natural scale.

MADHYAMA GRĀMA

We have said above that the difference in the position of Pañcama is the basis of the separate structure of the two grāmas. In Ṣaḍjagrāma the Pañcama is Ṣaḍja-Saṁvādī i. e. it has thirteen Śrutic interval from Ṣaḍjā and consequently its interval from Madhyama is four Śruti. On the other hand the Pañcama of Madhyamagrāma is not ṣaḍjasaṁvādī, but it is Ṛṣabha-Saṁvādī in accordance with Ṣaḍja-Madhyama Bhāva. Hence the Pañcama of Madhyamagrāma has twelve Śruti and three Śruti interval from Ṣaḍja and Madhyama respectively. This difference in the position of Pañcama in the two grāmas should be understood in two ways in two different contexts presented by Bharata ; then alone the problems and "misconceptions regarding Madhyamagrāma" will be removed. The two contexts given by Bharata regarding Triśruti Pañcama are as follows :—

1. *The context of Catuḥsāraṇā* : The comprehension of 'Pramāṇa-Śruti' is indispensable in the very beginning of the four Sāraṇās and for the sake of this obtainment the lowering of the Pañcama of Ṣaḍjagrāma by one Śruti is laid down. This Triśruti Pañcama can be easily obtained by establishing the relationship of consonance according to Ṣaḍja-Madhyamabhāva between the Triśruti Ṛṣabha of the Dhruva-Vīṇā and the reduced Pañcama. It may be noted that the act of converting the Pañcama of Ṣaḍjagrāma into that of Madhyamagrāma by lowering the same is confined to the procedure of Catuḥsāraṇā given by Bharata; it should never be taken that the establishment of Madhyamagrāma on Vīṇā has been laid down through this act of lowering because this act has been mentioned only for the ascertainment of 'Śruti' intervals and not for practical performance on the Vīṇā.

2. *In the Context of Establishing Madhyamagrāma on Vīṇā* : The location of Madhyama-grāma on Vīṇā which is obtainable only through Sanjñābheda (change in nomenclature), is implied in what has been said by Bharata while describing the mutual relationship between Mūrcchanā and grāma. According to Bharata when the Ṣaḍja of Ṣaḍjagrāma is given the name of Madhyama, the names of all other notes change accordingly and Madhyamagrāma is obtained in its pure form on Vīṇā, simply by virtue of Sanjñābheda, without our having to take recourse to any act of lowering (apakarṣa) on Vīṇā or without impairing the musicality of Vīṇā in any way. This Sanjñābheda can be illustrated as follows :— Ṣaḍjagrāmic notes : Sa- re- An. Ga-ma-pa-dha-ni–sa

Madhyamagrāmic notes : ma-pa – dha – ni–sa–-re–ga-ma

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

It is clear that the interval of 'Sa-re' of Ṣaḍjagrāma becomes one of 'Ma-pa' in Madhyamagrāma, and the Antara Gāndhāra of Ṣaḍjagrāma becomes Dhaivata in Madhyamagrāma and thus the significance of Bharata's dicta—'Tulyaśrutyantaratvācca Sanjñānyatvam' and 'Dhaivatīkṛte Gāndhāre' is fully brought out.

It is clear from the above discussion that the establishment of Madhyamagrāma on Vīṇā without effecting any change therein and the construction of Mūrcchanās of that Grāma is acceptable to Bharata through 'Sajñābheda' alone and really speaking that alone is possible, because it is never possible to make Madhyamagrāma fit for use in vocal or instrumental performance through any act of lowering (Apakarṣa)*.

Modern Śuddha Scale

It is clear from the above discussion of two grāmas that the scales of Ṣaḍjagrāma and Madhyamagrāma can be demonstrated in their pure form on the Vīṇā even to-day. The statement that Grāma is a theoretical structure does not imply that it is something imaginary which is beyond the purview of aural and visual perception; contrary to that it can always easily be demonstrated on the Vīṇā. In this connection it deserves also to be mentioned that an unbroken relationship of our practical natural scale with the two gramās has been in existence since the ancient times. This point is clarified below.

The scale of Śaṅkarābharaṇa or Bilāvala is perfectly obtained from the 'Niṣāda' of madhyamagrāma and that very position (niṣāda) is the madhyama of Ṣaḍjagrāma. We have said above that this madhyama is the starting point in actual performance on the Vīṇā in all parts of India, excepting the South. The Śuddha scale obtained from this position forms the basis of the theoretical structure of the two grāmas. Hence to maintain that Ṣaḍjagrāma was itself the Śuddha scale of the ancients and that it was replaced by Śaṅkarābharaṇa or Bilāwala is at once erroneous. Really speaking there has been no break in our practical tradition; right from the ancient times to this day our practical natural scale has had an unbroken relationship with the two grāmas. It is however true that the exact location of the two grāmas on Vīṇā was lost sight of by our theoreticians for nearly one thousand years. It does not fall within the scope of this article to investigate the causes underlying this deplorable situation.

---

* The procedure of establishing Ṣaḍjagrāma and Madhyamagrāma on Vīṇā has been clarified here; regarding the procedure of obtaining an aural perception of the scales of the two grāmas by singing with the accompaniment of Tānpura, pp. 91, 103 of 'Praṇava-Bhāratī' may be referred to, A reproduction of the same has been avoided here, in view of the limited space at disposal.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

The accompanying diagram illustrates the location of the two grāmas and the practical śuddha scale on the Vīṇā.

SVARA SĀDHĀRAṆA

Bharata has mentioned two other bi-śrutic svaras over and above the original scales of the two grāmas viz. Antara-Gāndhāra and Kākalī Niṣāda situated by way of Svara-sādhāraṇa in-between the fourśruti intervals of ga-ma and ni-sa respectively. These two svaras and their nomenclature are quite well known to day. But it is particularly notworthy that Bharata speaks of two kinds of 'Svara sādhāraṇa' viz. Antarasvaratā and Svara-viśeṣa in two different contexts. Antara Gāndāra and Kākalī Niṣāda fall under the Svarasādhāraṇa spoken of as Anantarasvaratā by Bharata, as follows;

साधारणं नामान्तरस्वरता । कस्मात् ? द्वयोरन्तरस्थं तत्साधारणम् यथा ऋत्वन्तरे ।

छायासु भवति शीतं प्रस्वदो वा भवति चातपस्थस्य न च नागतो वसन्तो न च निःशेषः शिशिरकालः ।

इति कालसाधारणम् । स्वरसाधारणं काकल्यन्तरस्वरौ । तत्र द्विश्रुतिप्रकर्षान्निषादादयः । काकलीसंज्ञो निषादो न षड्जः । द्वाभ्यामन्तरस्वरत्वात् साधारणत्वं प्रतिपद्यते, एवं गांधारोऽप्यन्तरस्वरसंज्ञो गांधारो न मध्यमः ।

"Antarasvaratā is called Sādhāraṇa because the 'Antara' svara is 'Ubhaya-sādhāraṇa' as it is situated in the middle of two svaras. For example during the change of season i. e. the transitional period of two seasons, one gets perspiration in sunshine and feels cold in a shaded place. This indicates that Vasanta (spring) has not yet set in nor has Śiśira (winter) ended. Just as this is a 'Kāla-sādhāraṇa' similarly should be understood the 'svara sādhāraṇa'. Antaragāndhāra and Kākalī Niṣāda are obtained by Svarasādhāraṇa between Gāndhāra and Madhyama, and Niṣāda and Saḍja and respectively. Niṣāda (not ṣaḍja) gets the name of Kākalī by its augmentation in the measure of two śrutis. Kākalī, being an Antara svara, has the relation of Sādhāraṇa with both Niṣāda and Saḍja. Similarly Svarasādhāraṇa between Gāndhāra and Madhyama gives the name 'Antara' to Gāndhāra and not to Madhyama.

The above quotation clearly indicates that the Svarasādhāraṇa known as Antarasvaratā finds a place in the four śruti-intervals of Niṣāda and Saḍja and Gāndhāra and Madhyama. This Svarasādhāraṇa establishes Kākalī Niṣāda and Antaragāndhāra and the common name for these two svaras is Antarasvara.

In another context which follows the one giving the portion quoted above, Bharata speaks of the Svarasādhāraṇa called Svara-viśeṣa as follows :

स्वरसाधारणं द्विविधं द्वैग्राक्यिम् । कस्मात् ? षड्जग्रामे षड्जसाधारणं, मध्यमग्रामे मध्यसाधारणम् । साधारणोऽत्र स्वरविशेष इति स्वर-साधारणम्* । एवं मध्यमग्रामेऽपि साधारणत्वं, अस्य तु प्रयोगसौक्ष्म्यात् कैशिकमिति नाम निष्पद्यते ।

* In the Chowkhambha edition the reading is 'षट्साधारणं' while the Nirṇayasāgara edition reads it as 'षड्जसाधारणं' Since these two readings do not fit in the context we have professed to read it as 'स्वरसाधारणं' ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"Svarasādhāraṇa being bigramic is twofold In Saḍjagrāma there is Saḍjasādhāraṇa and in Madhyama-grāma, Madhyama-sādhāraṇa. Here by Ṣaḍjasādhāraṇa is meant the Svaraviśeṣa and hence it is called the Svarasādhāraṇa. In the same way Ṣādhāraṇa obtains also in Madhyamagrāma. Due to subtle usage the name Kaiśika (i, e., as fine as the end of hair), for this Svarasādhāraṇa, becomes significant."

The Svarasādhāraṇa known as Antarasvaratā is said to be obtaining between the notes having four Śruti interval in the two grāmas and it is well known as Antarakākalī. Bharata has used the name Svara-Viśeṣa for another Svarasādhāraṇa obtaining between three Śruti intervals and has used the name Kaiśika in view of its fineness of a hair end. We know that the finest note interval can be of one śruti and such note intervals are two in the scale established on the traditional frets of Vīṇā. The diagram given on page 158 illustrates that the fourth fret from the Meru is situated at one śruti-interval from the third fret and similarly the tenth fret from Meru is situated at one śruti-interval from the ninth. Bharata has spoken of 'Ṣaḍjagrāme Saḍjasādhāraṇam', and 'Madhyamagrāme Madhyamasādhāraṇam' for denoting these fine intervals. We know that the 'Saḍja' of 'Saḍjagrāma' and the 'Madhyama' of 'Madhyamagrāma' are situated on one and the same fret on the Vīṇā. Hence the 'Svara-Viśeṣa Svara Sādhāraṇa' obtaining in the Triśruti interval of 'Saḍja' and 'Ṛṣabha' in Saḍjagrāma finds a place in the interval of Madhyama and Pañcama (Triśruti) in Madhyamagrāma by 'Saṅjñābheda'. The fret coming next to the 'Saḍja' of 'Saḍjagrāma', or the 'Madhyama' of 'Madhyamagrāma' has a two-śruti interval and the fret coming next to it has one śruti interval. Thus the 'svara' obtaining in the 'Triśruti' interval has two-'śruti' interval from its preceding note and its succeeding note has one 'śruti' interval from it. For perfectly describing these successive intervals of notes thus obtained on the Vīṇā, Bharata has spoken of 'Ṣaḍja-Sādhāraṇa' and 'Madhyama-Sādhāraṇa'. This very 'svara-viśeṣa svara-sādhāraṇa' is repeated in the Uttarānga between Pa-dha in Saḍjagrāma and Sa-re in Madhyamagrāma by 'Saṅjñābheda', in accordance with the rule of consonant resounding (saṁvādātmaka pratighoṣa). This will be clear from the diagram given on P. 158 Thus Bharata has given a scientific description of all the note intervals of one, two, three and four śrutis by his system of two grāmas comprehending the twofold 'Svara-sādhāraṇa'.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

S. No. of frets according to Calathāṭa
0 .....
1 .....
2 .....
3 .....
4 .....
5 .....
6 .....
7 .....
8 .....
9 .....
10 .....
11 .....

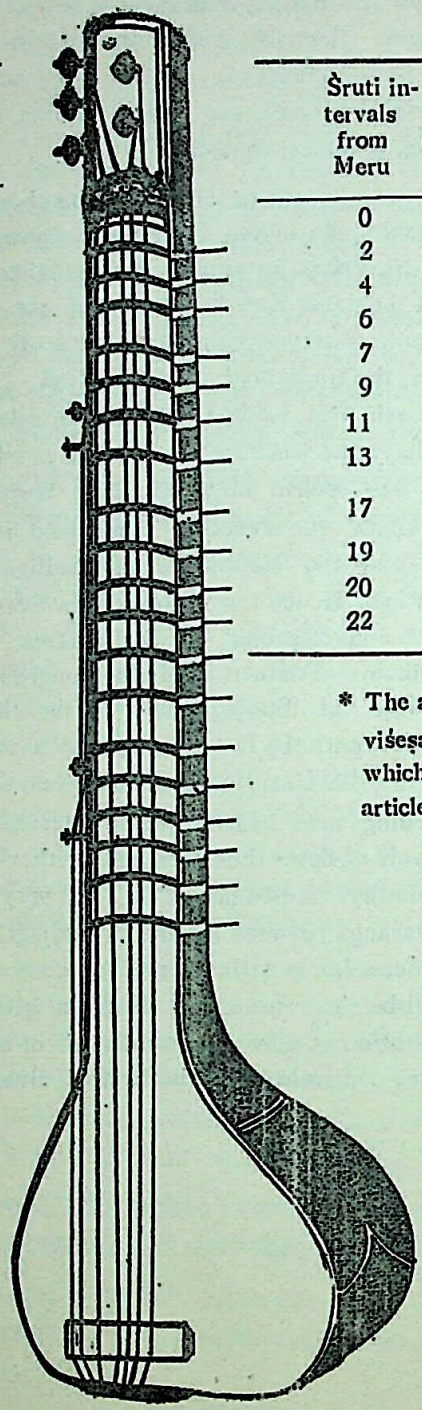

Śruti intervals from Meru	Mutual Śruti intervals	Ṣadja gramic Notes	Madhyama grāmic Notes	Modern nomenclature of the Notes
0	0	Ni	Gān.	Ma
2	2	Kā. Ni.	An. Gān.	Ti. Ma.
4	2	Sa	Ma.	Pan.
6	2	Sva. Vi. *	Sva. Vi.	Ko. Dhai
7	1	Ṛ	Pān.	Dhai
9	2	Gān	×	Ko. Ni.
11	2	An. Gān.	Dhai	Śu. Ni
13	2	Ma.	Ni	Sa
17	4	Pan.	Sa	Ṛ
19	2	Sva. Vi.	Sva. Vi.	Ko. gān.
20	1	Dhai	Ṛ	Śu. Gān
22	2	Ni	Gān.	Ma.

* The abbreviation 'swa. vi.' stands for the 'Swara-viśeṣa 'Svara-Sādhāraṇa' spoken of by Bharata, which has been dealt with on pp. 156–57 in this article.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

After a superficial study of Bharata's Grāma system many people have formed the notion that according to Bharata the minimum interval for a 'Svara' is bi-śrutic and that therefore, there can be no 'svara' with one 'Śruti' interval. But this wrong notion should be uprooted by a proper understanding of the above-quoted exposition of Bharata regarding the note-interval of one 'Śruti'.

Really speaking one-śruti interval is innate and self-evident in the natural scale. The seven-śruti interval of the natural 'Gāṅdhāra' or 'Antara Gāṅdhāra' from Ṣaḍja is established by the natural law of consonance, the measure of which is 5/4. Just as the consonant interval of Ṣaḍja-madhyama is automatically obtained in the Pañchama-Ṣaḍja interval on the basis of the consonant interval of Ṣaḍja-Pañcama, similarly the six-śruti consonant interval of 'Sa' and 'Komala Ga' is obtained on the basis of the consonant interval of 'Sa' and 'Antara Gāṅdhāra'. This fact can be illustrated as follows :—

Sa – pa – Bhāva Sa – ma – Bhāva

Sa.....Pa.....Sa

13 Śruti interval 9 Śruti interval

Sa – Ga – Bhāva Sa – Komala Ga – Bhāva

Sa.....Ga.....Pa

7 Śruti interval 6 Śruti interval

When the Ga- pa interval is added to Ṣaḍja, we get the six-śrutic and seven-śrutic Gāṅdhāras having an interval of one śruti. When the consonance of Ṣaḍja and Antara Gāṅdhāra is accepted, the existence of six-śrutic Gāṅdhāra has also to be recognised; it cannot be denied, and thus the svara-interval of single śruti is established. It is, therefore, nothing but false pertinacity to say that while the seven-śruti interval of Ṣaḍja and Antara Gāṅḍāra was acceptable to the ancients, the six-śruti Gāṅdhāra was either unknown or unacceptable to them. The six śrutic and seven-śrutic gāṅdhāras are used in a good number of our Rāgas even to-day; similarly two Niṣādas having an interval of one Śruti are also used (as in Kafi) and this usage is pleasing to the mind and ears. This one-śruti note-interval which is located between six and seven-śruti interval from the 'meru' of the Vīṇā, is obtained in Bharata's bi-grāmic 'svara-viśeṣa' viz. 'Ṣaḍja-Ṣādhāraṇa' and 'Madhyama Sādhāraṇa'. The repetition of this 'Svara-viśeṣa' in the Uttarāṅga gives us the six-śrutic and seven-śrutic gāṅdhāras in relation to our practical 'Ṣaḍja'.

Apart from the two Gāṅdhāras and two Niṣādas having one-śruti interval, the Ati-komala 'Ri-dha' of Toḍi, the three madhyamas of 'Lalita' (Śuddha, Tīvra and

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain; Digitizagtion by eGangotri

Tīvratara)*, the one-śruti Ṛṣabha of Mārawā, the one-śruti 'Ṛṣabha-Dhaivata' of 'Vibhāsa' in 'SA – Ri – SA' and 'PA – DHA – PA' etc. are glowing examples of this one śruti interval.

It is but natural that the above reference to svaras having one-śruti interval should arouse a desire to know the measure of śruti intervals. A brief treatment of this topic is therefore, given below.

THE MEASURES OF ŚRUTIS

We have said above that the main purpose of Grāma is the ascertainment of Śruti intervals. The procedure of 'Catuḥsāraṇa given by Bharata on the basis of these two grāmas has established beyond doubt the unequal measures of śruti-intervals. These śruti-measures are three as given below :—

1. Comma = 81/80 = 5 savarts. 2. Limma = 256/243 = 23 savarts.
3. Minor Semitone = 25/24 = 18 savarts.

The sequence of these three sruti-measures in Ṣaḍjagrāma is as follows :—

Sa		Ri			Ga		An. Ga		Ma			Pa			Dh		Ni		Kā. ni	
C	M	L	C	L	C	C	M	L	C	C	M	L	C	M	L	C	L	C	C	M	L

C = Comma. L = Limma. M = Minor Semitone.

It should always be remembered that in the sequence of śruti-intervals in Ṣaḍja-grāma as given above, the consonance of 'Ṣaḍja-Pañcama-Bhāva is inherent in all the śrutis and this is the characteristic feature of Ṣaḍjagrāma.

The evaluation of the measures of Saptakāntara (interval of seven notes) Saṁvā-dāntara (interval of consonance) Anuvādāntara (interval of assonance) and vivādāntara (interval of dissonance) in terms of the abovenoted unequal śruti-intervals is shown in the following chart :—

* In 'Lalita' when the phrase 'ma-ma-ma' is used, the Tīvra Madhyama having one śruti interval from śuddha Madhyama is used and in combinations like 'ma-dha' and 'ga-ri-ma-ga ri-sa' the 'Tīvratara Madhyama' having two-śruti interval from Śuddha Madhyama is used.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

'Name of the 'Interval'	Unequal Śruti-Measures	Total Number of Śrutis	Arithmetical Ratio
Saptakāntara	10 Comma + 7 limma + 5 minor semitones	22	2
Saṁvādāntara Sa-Pa	6 „ + 4 „ + 3 „ „	13	$\frac{3}{2}$
„ Sa-Ma	4 „ + 3 „ + 2 „ „	9	$\frac{4}{3}$
„ Sa-Ga	3 „ + 2 „ + 2 „ „	7	$\frac{5}{4}$
„ Sa-Ga	3 „ + 2 „ + 1 „ „	6	$\frac{6}{5}$
Anuvādāntara (Four-śrutic)	2 „ + 1 „ + 1 „ „	4	$\frac{9}{8}$
„ (Three-śrutic)	1 „ + 1 „ + 1 „ „	3	$\frac{10}{9}$
Vivādāntara (Two śrutic)	1 „ + 1 „	2	$\frac{16}{15}$
„ („)	1 „ + 1 Minor Semitone	2	$\frac{135}{128}$

It may be carefully noted that the intervals given above in terms of different Śruti-measures can represent the required consonance, dissonance or assonance only if the definite combination of the above Śruti measures is available. In absence of these definite Śruti-measures, the Śrutis of any given number cannot accomplish the required intervals of consonance, dissonance or assonance. For example 13 Śrutis of any one measure cannot constitute the consonant interval of Ṣaḍja-Pañcama unless the 13 Śrutis are of the definite measures required for that interval. The sequence of these Śruti. intervals, however, can and does change. This change in their sequence is explained below.

There is no such scale, rhe sequence of Śruti-measures in which can accomplish the four types of Saṁvāda among all the twentytwo Śrutis. For example, the Saṁvāda

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

of Sa-Pa' is present among all the 'Śrutis' of 'Ṣaḍjagrāma', but 'Sa-Ma' or 'Sa-Ga' Saṁvāda is not obtainable in all of them. Hence the particular note-combination that is used in a definite set in Vocal or Instrumental performance, leads to an automatic change in the sequence of Śruti-measures in accordance with the essential condition of consonance. The following examples will illustrate this point.

1. The 'Ṛṣabha' of Bhairava Rāga

The sequence of śruti-measures in the four-śruti interval of 'Sā-ri' is Comma + Minor Semitone + Limma + Comma. The measure of the bi-srutic Ṛṣabha of Bhairava according to this sequence will be Comma + Minor Semitone $= \frac{81}{80} \times \frac{25}{24} = \frac{135}{128}$. But the 'Ṛṣabha' of Bhairava has seven-śruti consonance with Śuddha Madhyama and therefore, in accordance with this relationship of consonance the measure of Ṛṣabha naturally comes to Comma + Limma $= \frac{81}{80} \times \frac{256}{243} = \frac{16}{15}$. The 'Ṛṣabha' of $\frac{16}{15}$ measure alone can have seven-śrutic consonance with Madhyama as $\frac{4}{3} \times \frac{15}{16} = \frac{5}{4}$. Thus the original sequence of śruti measures in Ṛṣabha undergoes an unconscious change and the Ṛṣabha of Bhairava comes to measure $\frac{16}{15}$. But in Rāgas where the Komal Ṛṣabha has nine-śrutic consonance with Tīvratara Madhyama, the measure of Ṛṣabha will be Comma + Minor Semitone $= \frac{135}{128}$, because that alone will have consonance with Tīvratara Madhyama as—Tīvratara Madhyama $= \frac{45}{32}$ and ∴ re – ma – Saṁvāda $= \frac{45}{32} \times \frac{128}{135} = \frac{4}{3}$.

2. The 'Ṛṣabha-Madhyama' of Mārawā

The Ṛṣabha of Mārawā has six-śrutic consonance with Antara Gāndhāra in the ascending order and it has seven-śrutic consonance with Dhaivata in the descending order. Thus the measure of that Ṛṣabha is Sa-ga—six-śrutic Interval $= \frac{5}{4} \times \frac{5}{6} = \frac{25}{24}$ or Minor Semitone. In the original sequence of śruti-intervals of Ṛṣabha, Comma finds the first place, but the one-śrutic Ṛṣabha of Mārawā is not Comma, it is Minor Semitone. The Tīvra Madhyama of Mārawā having consonance with this Ṛṣabha will also be of the following measure :— Sa - Ma + Minor Semitone $\frac{4}{3} \times \frac{25}{24} = \frac{25}{18}$.

Thus in all note-combinations the original sequence of Śruti-measures undergoes an unconscious and automatic change in accordance with the natural law of consonance.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Conclusion

In order to avoid a further elaboration of this topic it will suffice to say that the eternal principles of 'Svara' propounded by Bharata, his system of 'Śrutis', Grāma Classification, the inviolable relationship of the natural scale with the two Grāmas, etc., all these theories are most prefect and accurate and this factis established beyond question when these theories are tested with the criterion of truth and are demonstrated on modern mechanical devices. In spite of the passing of at least two thousand centuries these theories are perfect even to-day; they have remained unchanged till now and will remain so in future. The above discussion must have made this clear.

The 'truth' is always unchanged. The association of light and darkness is never possible. Knowledge can be obtained through 'Ṛta' alone, never through 'Anṛta'. With this very purpose in view, the principles enunciated by Bharata have been dealt with above. It is hoped that repeated reading of and thinking on all this will uproot wrong notions.

(Translated from Hindi Original by Dr. Prem Lata Sharma assisted by Sri R.K. Sringy)

× × × × ×

न भावेन विना काव्यं न भावेन विना रसः । न भावेन विना नृत्यं न भावेन विना जगत् ॥
(संगीत दामोदर प्रथम स्तवक)

तत्तत्स्थानसमाहृतैः प्रकटयन्वर्णोत्करं वर्णतो, वर्ण्यान्तां पदसंहतिं पदततेर्वाक्यातिवाक्यैः पुनः ।
सर्वेऽस्य व्यवहारसिद्धिजनको लोकत्रयस्याप्यतो, हेतुं नादमुदीरयन्ति मुनयस्तस्य क्रमो वर्ण्यते ॥
(संगीतराज, गीतरत्नकोष प्रथम उल्लास—५)

यत्स्वरूपं परं ज्ञात्वा चैतन्यं परमश्नुते । चिदात्मानमहं वन्दे नादं ब्रह्मादिवन्दितम् ॥ (वही—४)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भजन

श्रीमती बिजन घोष दस्तिदार

भक्ति-साहित्य के अध्ययन से पता चलता है कि एकादश शताब्दी में रामानुजाचार्य ने द्राविड़ देश में जो भक्ति-बीज बोया था, उसी के फलस्वरूप परवर्त्ती काल में उन्हीं की शिष्य-परम्परा में रामानन्द से आरम्भ कर के सभी भक्त-कवियों और सन्तों की वाणी और पद 'भजन' के नाम से गाए जाते रहे हैं। वास्तव में वैदिक युग से आज तक हमारे देश में दशविध धर्म-कर्म में ईश्वर-स्तुति और लीला-वर्णन करते हुए जो भक्तिमूलक गान गाए जाते हैं, उन्हीं को हम 'भजन' कहते हैं। बङ्गाल का निजस्व संपद् कीर्त्तन भी इस 'भजन' का नामान्तर है।

काल की मांग पूरी करने के लिए संगीत ने जब अपने अवयवों का परिवर्तन किया और ध्रुपद-ख्याल आदि राग-संगीत में नूतन रूप धारण किया, तब भी हमें तत्कालीन ध्रुपद-ख्यालों में 'भजन' के दर्शन होते हैं। सर्वशास्त्रों में पण्डित श्रीरामानन्द ने दक्षिण भारत में ब्राह्मणकुल में जन्म-ग्रहण कर के भी भारत में एकता की मूल भित्ति स्थापित करने के उद्देश्य से उत्तर भारत में आ कर अस्पृश्य, अशिक्षित और समाज द्वारा उपेक्षित नीच जाति को दीक्षा दे कर मानव जाति का परम उपकार किया है। उन्होंने ही अस्पृश्यता दूर करने के लिए भारतवासियों में 'चलती' हिन्दी भाषा द्वारा धर्म-तत्त्व का प्रचार कर के उन सब को भक्ति के एक सूत्र में ग्रथित करने का यत्न किया। उनके शिष्यगण अर्थात् कबीर, रैदास, धना, पीपा आदि की भक्तिमय वाणी और संगीत सुन कर आज भी भक्तिरस में आप्लावित हुए बिना नहीं रहा जाता।

आजकल हम लोग 'भजन' के नाम से चतुर्दश शताब्दी के सन्त कबीर, रैदास प्रभृति, उनके बाद पंचदश शताब्दी के गुरु नानक, सूरदास, षोडश शताब्दी की प्रेम-योगिनी मीरा, तुलसीदास, नन्ददास, दादू दयाल, नरसी मेहता, स्वामी हरिदास, मलूकदास प्रभृति, सप्तदश शताब्दी के मुसलमान कवि यारो साहब, दरिया साहब एवं अष्टादश शताब्दी के चरणदास, सहजोबाई, दयाबाई प्रभृति भक्तों द्वारा रचित पदों को भावानुकूल सुर और ताल में गाना समझते हैं। इन सब पदों में नाना उपदेश, शिक्षा, भक्ति, प्रेम, वैराग्य, नाम-महिमा, लीला-वर्णन, प्रार्थना तथा देहतत्त्व इत्यादि विभिन्न विषयों की रचना पाई जाती हैं।

इन सब से भी बहुत पहले वीरभूम के अन्तर्गत केन्दुविल्व ग्राम-निवासी बंगाली कवि जयदेव ने जिस 'गीत-गोविन्द' की रचना की थी, वह भारत में सर्वत्र बड़े आदर से गाया जाता था। ये 'पद' दाक्षिणात्य प्रदेश में कीर्त्तन के नाम से और बंगाल के बाहर सर्वत्र अब भी 'भजन' के नाम से गाए जाते हैं। इस 'गीत-गोविन्द' के छन्द, भाव, भाषा और सुर से ही बंगाल के कीर्त्तन का निर्माण हुआ। बंगाली पदकर्त्ताओं में चण्डीदास, विद्यापति (मैथिल) के सुर, छन्द, अलंकार, भाषा और शब्द-नैपुण्य इस 'गीत-गोविन्द' के अनुकरण पर ही रचित हुए हों ऐसा लगता है। इन के बाद सन् १४८६ ई० में प्रेमभक्ति-प्रचार के उद्देश्य से महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव का आविर्भाव हुआ। मुसलमानी शासन में जब बंगाल की अत्यन्त दुरवस्था थी, बंगाली जब अपनी जायोय सत्ता खो रहे थे, इतिहास के पट-परिवर्त्तन से जब बंगाल का भाग्य विडम्बित था, ठीक उसी समय श्रीचैतन्यदेव द्वारा प्रचारित कीर्त्तन-गान से बंगाली जाति नव-प्रेरणा प्राप्त कर के पुनः प्राणमय हो उठी और दल-के-दल लोग नगर संकीर्त्तन में मस्त हो कर सारे बंगाल को भक्ति 'की' बाढ़ में प्लावित करने लगे।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बंगाल के कीर्त्तन, श्यामा संगीत, साधन-संगीत तथा भक्तिमूलक गीत से भजन गाने की रीति कुछ भिन्न है। आजकल श्रीखोल, मंजीरा, करताल अथवा काठ-करताल के साथ भाव और समयोपयोगी राग में, कभी दो या तीन रागों के मिश्रण से अथवा राग की ओर ध्यान न रखते हुए भी भावानुकूल सुरों में नाना प्रकार के अलंकार सजा कर काफी, त्रिताल, रूपक, दादरा, झांप तथा द्रुत एकताल में भजन गाने की रीति विशेष जनप्रिय है।

भजन यदि उचित रूप में प्रस्तुत किया जाय तो कलाकार और श्रोता दोनों भाव-समाधि में लीन हो जाते हैं; भजन की अपूर्व वाणी, पदलालित्य, सुर-वैचित्र्य, पवित्र भाव और रस इस जगत् के ऊर्ध्व में एक ऐसे राज्य में उभय को ले जाते हैं कि जहां केवल अपार आनन्द, महाशान्ति का साम्राज्य है। किन्तु हमारे देश में ऐसे समर्थ और सार्थक कलाकार कितने हैं ? फिर भी जितना सा रसास्वादन मिल जाता है उसी से हमें संतुष्ट रहना है।

मानव देह में अवस्थित कुण्डलिनी शक्ति को जागृत कर के योगी कठोर साधना से जब ईश्वर को प्राप्त कर लेते हैं, तब वे ऐसे शक्तिशाली बन जाते हैं कि अनेक असंभव बातों को भी संभव बना सकते हैं। पण्डितगण और महापुरुष कहते हैं कि संगीत साधना भी मनुष्य को ठीक उसी स्थिति में पहुँचा देती है। हां, इन दोनों साधनाओं में पार्थक्य यही है कि प्रथम में कठोरता और कष्टसहिष्णुता है तथा दूसरी में केवल आनन्द का प्राचुर्य है। साधना के विभिन्न स्तरों में जो विभूतियां मिलती है, उन में मुग्ध होने से जिस प्रकार साधक को लक्ष्य-भ्रष्ट होना पड़ता है, और इष्ट-लाभ से वंचित होना पड़ता है, उसी प्रकार संगीत के कलाकार भी जब संगीत को विलास की वस्तु बना डालते हैं, तब संगीत साधक को भी पथभ्रष्ट होना पड़ता है। देह-मन की पवित्रता और प्राण को आकुलता योग-साधन तथा संगीत-साधना दोनों में सिद्धिलाभ की कुंजी मानी गई है। यदि ऐसा न होता तो जयदेव, चण्डीदास, विद्यापति, रामप्रसाद, कमलाकान्त, रवीन्द्रनाथ—ये हमारे देश में चिरवरेण्य न हो पाते, घर-घर में कबीर, मीरा, सूरदास, तुलसीदास की अपूर्व वाणी और पद न गाए जाते।

गीतामें ७।१६-१७ संख्यक श्लोक में भगवान् ने अर्जुन को कहा है—'आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी, ये चार प्रकार के सुकृतिकारीजन भगवान् का भजन करते हैं। इनमें से एकनिष्ठ ज्ञानी भक्त और भगवान् अभिन्न हैं'। भक्त जब भजन गाते हैं तब शोकार्त्त जन शोक से परित्राण के लिए आशापूर्वक प्रार्थना करते हैं, तत्त्व-जिज्ञासु जानना चाहते हैं—'यह क्या है, वह क्या है, मैं कौन हूँ'—इत्यादि नाना विषयों में उनकी जिज्ञासा का अन्त नहीं रहता, अर्थार्थी प्रार्थना करते हैं जागतिक सुख-भोग और अर्थलाभ के लिए, और ज्ञानी ठहरे सर्वज्ञ,—ये भगवान् की महिमा से मुग्ध हैं। संत कबीर ने कहा है :—

लाली मेरे लाल की, जित देखूं तित लाल। लाली देखन मैं चली, मैं भी हो गई लाल॥

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की बहुत-सी रचनाओं में यह भाव पाया जाता है।

पहले ही कहा जा चुका है कि भक्तगण जिस गान में भगवान् का गुणकीर्तन करते हैं, आत्मनिवेदन करते हैं या प्रार्थना करते हैं, यही भजन है, जो कि देह-मन में पवित्रता और शान्ति की छाया ला देता है। जिनके कण्ठ में सुर नहीं है, वे आवृत्ति में ही शान्ति पा लेते हैं और जो गा सकते हैं, वे तो भगवान् के अत्यन्त प्रिय हैं। क्योंकि भगवान् ने भक्त नारद से स्वयं कहा है :—

नाहं तिष्ठामि वैकुण्ठे, योगिनां हृदये न च। मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जिसके सुर की मोहिनी शक्ति के आकर्षण से भगवान् वैकुण्ठ से अवतरित होकर उसकी आकुल प्रार्थना सुनते हैं, वह भक्त महान् कलाकार है। जागतिक सुख-दुःख सब कुछ भूल कर कुछ क्षणों के लिए भी प्रभु के चरणों में आत्मसमर्पण का सुयोग वह कैसे खोयेगा ?

आज हमारे देश में घर-घर में संगीत प्रेम जिस प्रकार बढ़ रहा है, वैसा कुछ काल पूर्व नहीं था। इस वृद्धि का अधिकतम श्रेय पूज्यपाद परम गुरुदेव पं० विष्णुदिगंबरजी को है। फिर भी संगीत का विपुल प्रचार होने पर भी समर्थ कलाकार होने की कामना कितने लोगों में है ? वह साधना, वह धैर्य, वह निष्ठा, भक्ति और एकाग्रता यदि हो तो फिर से घर-घर में चण्डीदास, विद्यापति, रामप्रसाद, मीरा, कबीर, सूरदास, तुलसीदास जैसे भक्त साधक आविर्भूत होकर हमारे देश को गौरवान्वित करेंगे, इसमें क्या आश्चर्य है ?

(मूल बंगला से हिन्दी अनुवाद डॉ० प्रेमलता शर्मा द्वारा)

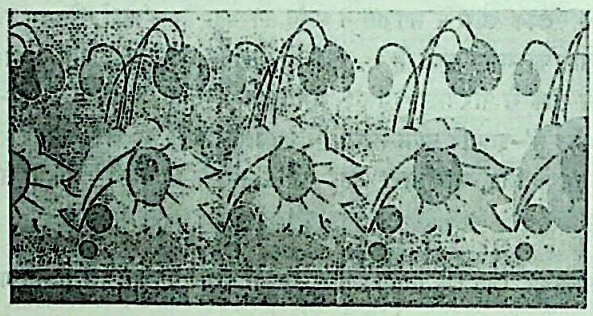

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

INDIAN ÆSTHETICS OR RASAŚĀSTRA AS APPLIED TO MUSIC :

AN INTRODUCTION

DR. PREM LATA SHARMA.

The Rasa-Sūtra (aphorism) of Bharata reading as विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः forms the kernel of Indian Aesthetics. All authors who have tried to interpret or explain this aphorism in order to analyse the process of artistic presentation on the one hand and the level of the experience of æsthetic delight (Rasa or æsthesis) on the other, have invariably taken up the context of 'Nāṭya' (drama) for illustrating their exposition. The fact that Bharata's treatise, the original source of all discussions on Aesthetics, is mainly devoted to drama, the popular appeal of drama due to its comprehension of both aural and visual media, the inherent facilities available in it for a scientific analysis of its æsthetic aspect by virtue of the tangible nature of the media used, the exalted position accorded to drama by Bharata who has spoken of it as the repository of all arts, crafts and branches of knowledge—all these factors have contributed to make drama the invariable centre of all discussions on the Rasa-Sūtra.

It is, no doubt, true that the general principles enunciated in our Aesthetics hold good for artistic presentation and æsthetic delight provided by any art; still the fact that every art has its characteristic features which deserve separate analysis, cannot be ignored. The highest state of æsthetic experience (Rasa) is of course one and the same as aimed at by all arts; but the difference in the media of presentation used in various arts does make some difference in the intermediary stages and a proper estimation of the peculiarties of every art in this respect does require a special study.

Coming to Music we find that no serious study has been made for applying the terminology of our traditional Rasa-śāstra to the analysis of the æsthetic aspect of this art. Those authors on Music as for example Śārṅgadeva or Kālasena (author of Saṅgītarāja) who have devoted a portion of their treatises to the exposition of Rasa, have merely reproduced the general and traditional treatment of this subject in the context of drama and have not cared to bring out the peculiar features of Music.

While trying to lay hands at some clue in the traditional works on Rasa, for a special study of Aesthetics in the context of music one comes across stray references to music, as for example in the portions quoted below : —

१—न हि शब्दस्य वाच्यप्रतीतिपरामर्श एव व्यञ्जकत्वे निबन्धनम् । तथा हि गीतादिशब्देभ्योऽपि रसाभिव्यक्तिरस्ति । न च तेषामन्तरा वाच्यपरामर्शः ! (ध्वन्यालोक तृतीय उद्योत)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तेषामिति गीतशब्दानामिति । आदिशब्देन वाद्यविलपितशब्दादयो निर्दिष्टाः ।

(लोचन On the above)

२—येषामपि स्वरूपविशेषप्रतीतिनिमित्तं व्यञ्जकत्वं यथा गीतादिशब्दानां.....

(ध्वन्या Ibid)

३—न हि यैवाभिधानशक्ति; सैवावगमनशक्तिः । अवाचकस्यापि गीतशब्दादेः रसादिलक्षणार्थावगमदर्शनात् ।

(Ibid)

४—तथा हि गीतध्वनीनामपि व्यञ्जकत्वमस्ति रसादिविषयम् । न च तेषां वाचकत्वं लक्षणा वा कथञ्चिल्लक्ष्यते ।

(Ibid)

All these quotations point out one and the same fact and that is, the power of musical notes to suggest emotions and sentiments without any direct expression of meaning with the help of words. In Gīta where words are used, the primary or secondary powers of words (Abhidhā or Lakṣanā) do not operate in the suggestion of Bhāva or Rasa. Thus the special power of musical notes has been referred to a number of times by Ānanda-Vardhanācārya, the author of the epoch-making work Dhvanyāloka in order to stress the importance of the power of suggestion inherent in words. Similarly, the recognition of 'Kāku or tone-modulation as one of the eight or nine reasons for the operation of Vyañjanā in the spoken or written language, is an indirect approach ta the special power of suggestion innate in musical notes.* But these references do not help much in the application of the Rasa-terminology to the context of music.

It is a proven fact that the media of music are, primarily, 'Svara' and 'Laya' and only secondarily, words of language. That being so it goes without saying that the media of music are extremely subtle and abstract and they defy all attempts at analysis in terms of Vibhāva, Anubhāva etc. The absence of any concrete medium for presenting abstract emotions and sentiments is the greatest hurdle in the way of applying the traditional terminology to music. On the other hand, it is equally noteworthy that the use of abstract media simplifies the process of generalisation (Sādhāraṇīkaraṇa) because the process of elimination of restricting and binding elements becomes more or less superfluous in the artistic presentation of music.

I to have devoted serious thinking to the problem of the application of our Rasaśāstra to music ; but the limited space at disposal here compels me to reserve o detailed treatment of this topic for a future occasion.

* वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः ।
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात्प्रतिभाजुषाम् ॥
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ।

(काव्यप्रकाश ३।२१–२२)

———

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

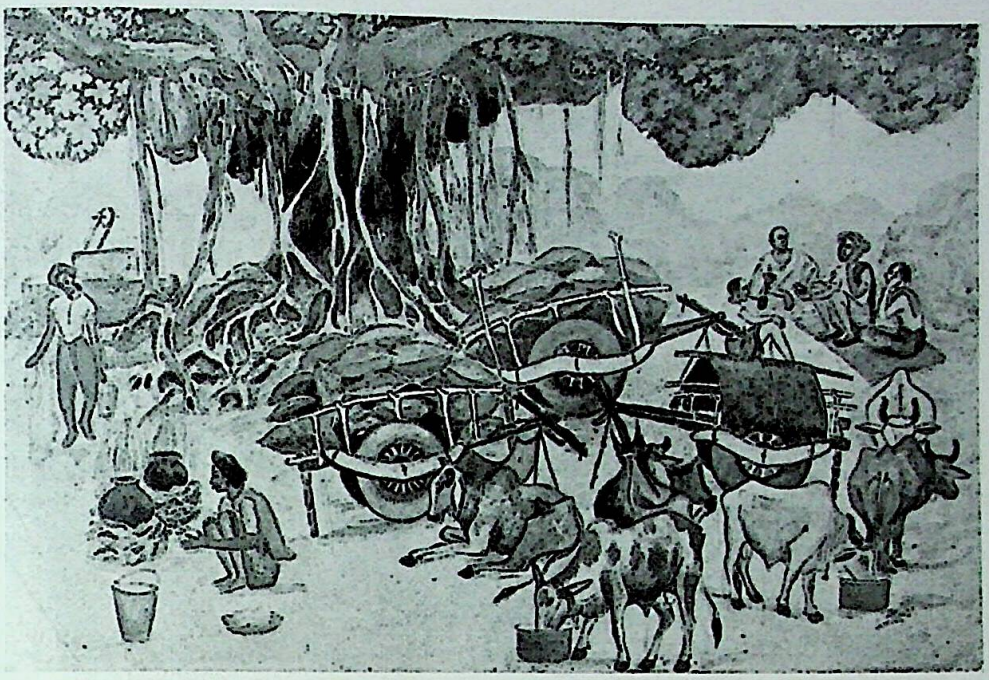

'Rest' (By Jai Shankar Misra)

'Buddha' (By Mrs. Rajeswari)

Old Man—(By Sri M.V. Krishnan)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Saraswati—(By Sri Baijnath Prasad Gupta)

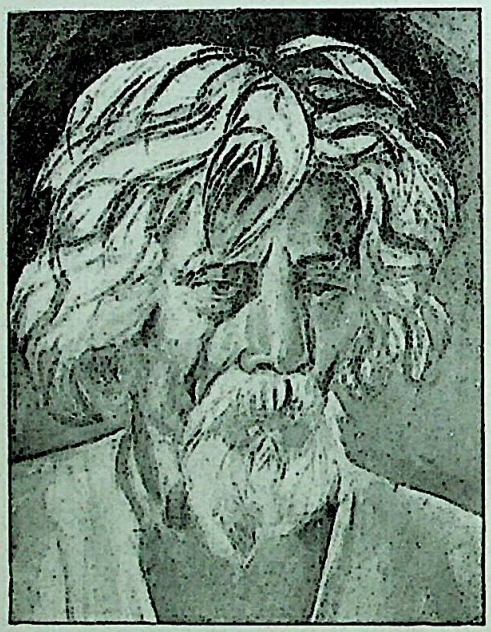

Portrait Study—(By Sri Baijnath Pd. Gupta)

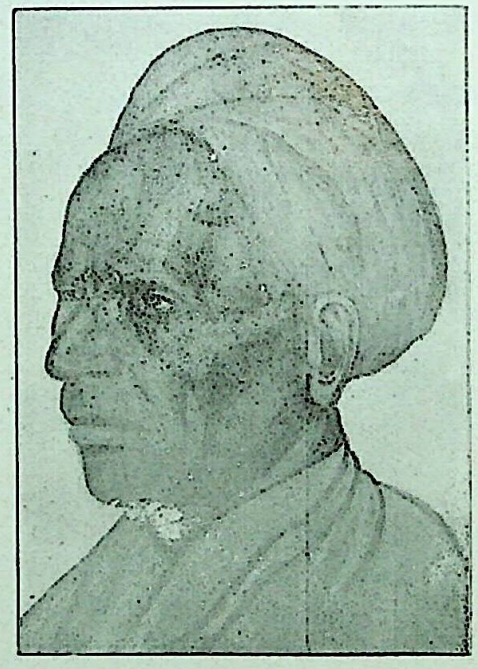

Portrait Study–(By Sri Ram Pyare Singh)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वेदमन्त्र*

स्वर-रचनाकार पूज्यपाद पं० ओंकारनाथजी ठाकुर 'प्रणवरंग'

१—वाग्देवता-स्तुति

ऋग्वेद में वाग्देवता के तीन रूपों की स्तुति की गई है, यथा—इळा, सरस्वती तथा भारती। इळा पृथ्वी के अधिपति अग्नि की शक्ति है, सरस्वती द्युलोक के अधिपति सूर्य की शक्ति है और भारती अन्तरिक्ष के अधिपति इन्द्र की शक्ति है। इन तीनों देवियों के स्तुतिपरक चार मन्त्रों का संगीतबद्ध रूप नीचे प्रस्तुत है। चारों मन्त्रों का स्वर-सहित पाठ तथा शब्दार्थ एक-साथ देने के पश्चात् उनकी संगीत-लिपि नीचे दी जा रही है।

भारतीळे सरस्वति या वः सर्वा उपब्रुवे। ता नश्चोदयत श्रिये॥

(ऋ० १।१८८।८)

भारती पवमानस्य सरस्वतीळा मही। इमं नो यज्ञमागमन् तिस्रो देवीर्मयो भुवः॥

(ऋ० ९।५।८)

सरस्वती साधयन्ती धियं नः इळा देवी भारती विश्वतूर्तिः।
तिस्रो देवीः स्वधया बर्हिरेदं अच्छिद्रं पान्तु शरणं निषद्य॥

(ऋ० २।३।८)

आ नो यज्ञं भारती तूयमेतु इळा मनुष्वदिह चेतयन्ती।
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं स्योनं सरस्वती स्वपसः सदन्तु॥

(ऋ० १०।११०।८)

हे अन्तरिक्षाधिपति इन्द्र की शक्ति भारती! हे पृथ्वी के अधिपति अग्नि की शक्ति इळा! हे द्युलोक के अधिपति सूर्य की शक्ति सरस्वती! हमलोग तुम सभी देवियों के पास आकर स्तुति कर रहे हैं; अतः तुम तीनों हमलोगों के पास आने के लिए लक्ष्मी को प्रेरित करो!

भारती, सरस्वती तथा इळा ये तीनों सुरूपिनी देवियाँ हमारे जीवन को पुनीत करने वाले सोमरस-प्रधान इस यज्ञ के लक्ष्य से आएँ।

---

* वेदमन्त्रों को ध्रुवपद तथा ख्याल शैली में स्वर-लय-बद्ध करने का यह प्रयास अपने ढंग का अनूठा है। श्री कला संगीत भारती की दैनिक प्रार्थना के लिए 'शिवसंकल्प' मन्त्रों को स्वर-लय-बद्ध करने के पश्चात् 'प्रणवरंग' ने कम से कम १०८ वेदमन्त्रों को संगीतमय रूप में प्रस्तुत करने का शुभ संकल्प किया था। उसी संकल्पानुसार जो मन्त्र संगीतबद्ध किए गए हैं, उनमें से सात मन्त्रों का चयन करके यहाँ प्रकाशित करने का हमें गौरव प्राप्त हुआ है।—संपादक।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हमारी बुद्धि को ठीक बनाती हुई सरस्वती देवी—(मन्त्र शक्ति) सब विषयों में अप्रतिहत गति वाली इळा देवी (अन्न शक्ति) एवं भारती देवी (प्रभाव शक्ति)—ये तीनों देवियाँ हमारे घर में विराजमान होकर भली-भाँति देय हविष् के लिए इस यज्ञ को निर्विघ्नता से सम्पन्न करें।

भारती देवी हमारे यज्ञ में शीघ्र आएँ, तथा मनुष्य जिस प्रकार अपना कर्तव्य समझता है, उसी प्रकार समझ कर इळा देवी भी इस कर्म (यज्ञ) में आएँ, एवं सरस्वती देवी शुभकर्मशील हैं,—ये तीनों देवियाँ इस सुखद यज्ञ में उपस्थित हों।

———:o:———

राग गौड़सारंग

त्रिताल

×				५				०				१३			
								म	ग	म	रि	(नि)सा	रि	(ग)नि	सा
								भा	·	·	र	ती	·	·	·
ग	रि	म	ग	प	म्	ध	प	पनि	सांरिं	सांनि	सां	प म्	ध	प म्	प
ळे	·	·	स	र	·	स्व	ती	या ·	· ·	वः ·	·	स ·	·	र्वा ·	·
म	ग	—	म	ग	रि	म	ग	सा	सांनि	रिं	सां	प म्	ध	प म्	प
उ	प	ऽ	द्भु	वे	·	·	·	ता	· ·	·	न	श्वो ·	·	द ·	य
म	ग	—	म	ग	रि	म	ग	ग	-म	ध म् प-	रि	(नि)सा	रि	(ग)नि	सा
त	:	ऽ	श्रि	ये	·	·	·	भा	ऽ ·	· · · ऽ	र	ती	·	·	·
म	रि	म	ग	प	म्	ध	प	धमप्-	ग	म	रि	सा	रि	नि	सा
ळे	·	·	स	र	·	स्व	ती	भा · · ऽ	·	·	र	तो	·	·	·

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

राग तिलंग

त्रिताल

स्थायी

×				५				०				१३			
												—	पनि	सां	नि
												ऽ	भा	·	र
सां	—	—	—	—	—	प	नि्	प	म	प	ग	म	पनि	सां	नि
ती	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	प	व	मा	·	न	·	स्य	भा	·	र
सां	—	—	—	—	—	—	—	सां	गं	सां गं	मं	गं	सां	सां	रिं
ती	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	स	र	·	स्व	ती	·	इ	·
नि	सां	नि्	प	सां नि	सां	रिं	—	सां रिं	निसां	पनि्	मप	गम	पनि	सां	नि
छा	·	·	म	ही	·	·	ऽ	··	··	··	··	··	भा	·	र

अन्तरा

								प	ग	म	नि्	प	नि	—	नि
								इ	मं	·	नो	·	य	ऽ	ज्ञ
सां	नि	रिं	सां	रिं	नि	सां	सां	नि्	प	नि	सां	गं	मं	गं	सां
मा	·	·	ग	म	·	·	न्	ति	·	स्रो	·	दे	·	वी	·
नि	सां	नि्	प	नि	सां	रिं	—	सांरिं	सांनि	पनि्	पम	गम	पनि	सां	नि
मं	यो	·	भु	व.	·	·	ऽ	··	··	··	··	··	भा	·	र

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

राग काफ़ी

त्रिताल

×			५				०				१३				
											रि	म ग्	रि सा	रि	
											स	र	· ·	स्व	
नि्	निध	ध प	—	—	म ग	मनि्	नि्प	म ग	म	ग्	रि	रि	ग्	—	—
ती	· ·	·	ऽ	ऽ	सा ·	· ·	ध .	यं ·	·	तो	·	धि	यं	ऽ	ऽ
सा	रि	—	—	नि्	सा	—	नि्	रि	सा	—	—	रि	ग्	रि	मग्
नः	·	ऽ	ऽ	धि	यं	ऽ	· ·	नः	·	ऽ	ऽ	इ	ळा	·	· ·
रि	सा	रि	—	रि	ग	म	प	म	ग	पग	म	ग्	रि	ग्	मग्
दे	·	वी	ऽ	भा	·	·	र	तो	·	· ·	·	भा	·	·	र ·
रि	सा	ग्रि	रि	रि	म	प	सां नि्	ध	म	ध प	प	प	नि	सां	रिं
ती	·	· ·	·	वि	·	·	श्व	तू	·	तिः ·	·	भा	·	·	र
सां	नि्	ध	प	म	ग	मनि्	नि्प	म ग	म	ग्	रि	रि	ग्	—	—
ती	·	·	·	भा	·	· ·	र ·	तो ·	·	·	·	धि	यं	ऽ	ऽ
सा	रि	—	—	नि्	सा	—	नि्	रि	सा	—	—	रि	ग्	सा	रि
नः	·	ऽ	ऽ	धि	यं	ऽ	·	नः	·	ऽ	ऽ	स	र	·	स्व

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अन्तरा

×				५				०				१३			
												म	प	नि	सां
												ति	·	स्रो	·
रिं	मं ग्ं	—	रिं	ग्ं	रिं	ग्ं	रिं	सां	रिं	सां	नि	सां	मं ग्ं	—	रिं
दे	·	ऽ	वी	·	·	·	·	स्व	ध	या	·	·	ब	ऽ	हिं
सां	रिं	नि	सां	सां	नि	सां	रिं	सां	नि	रिंनि	सां	सां	नि्	ध	प
रे	·	दं	·	अ	·	·	·	च्छि	·	द्रं	·	पा	·	·	न्तु
ग	म	प	ध	नि्	सां	प	धप	मग	म	ग्	रि	रि	ग्	—	—
श	र	णं	·	·	·	·	नि	प	·	द्य	·	धि	यं	ऽ	ऽ
सा	रि	—	—	नि्	सा	—	नि्	रि	सा	—	—	रि	ग्	सा	रि
नः	·	ऽ	ऽ	धि	यं	ऽ	·	नः	·	ऽ	ऽ	स	र	·	स्व

———

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

राग भैरवी

त्रिताल

स्थायी

५				५				०				१३			
												सा	रि्	नि्	सा
												आ	·	नो	·
प	ध्	प	—	—	प	ध्	म	(म)प	—	—	—	—	प	ध्	नि्
य	·	ज्ञं	ऽ	ऽ	भा	·	र	ती	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	तू	·	य
ध्	प	म	ग्	ग्	ग्	म	ध् प	म	ग्	रि्	सा	सा	रि्	नि्	सा
मे	·	·	तु	·	तू	·	य ·	मे	·	·	तु	आ	·	नो	·
प	ध्	प	—	—	प	ध्	म	प	—	—	—	—	सां नि्	सां प	ध्
य	·	ज्ञं	ऽ	ऽ	भा	·	र	ती	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	भा ·	· ·	र
प	—	—	—	म	ग्	ध्	म	नि्	ध्	सां	नि्	सां	—	सां	सां
ती	ऽ	ऽ	ऽ	इ	ळा	ऽ	·	·	·	·	·	·	ऽ	म	नु
—	नि्	(ग)रि'	सां	सां	नि्	ग्'	सां	नि्	सां	धप	ध्	ध्	प	ध्	नि्
ऽ	ष्व	दि	ह	चे	·	·	त	यं	·	ती ·	·	चे	·	·	त
ध्	प	म	ग्	ग्	म ·	ध् प	प ·	ग्	म	रि्	सा	सा	रि्	नि्	सा
यं	·	ती	·	चे	·	· ·	त	यं	·	ती	.	आ	·	नो	·

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अन्तरा

×				५				०				१३			
												मग्	—	म	—
												ति	ऽ	स्रो	ऽ
ध्	—	नि्	—	—	सां	—	नि्	ग्' सां	ग्'	ग्' रि्'	सां	मग्	—	म	—
दे	ऽ	वी	ऽ	ऽ	व	ऽ	हि	रे ·		दं ·		ति	ऽ	स्रो	ऽ
ध्	—	नि्	—	—	सां	—	नि्	सां ग्'	रि्' ग्'	सां रि्'	नि् सां	सां	मं	ग्'	मं
दे	ऽ	वी	ऽ	ऽ	व	ऽ	हि	रे ·	· ·	दं ·	· ·	स्यो	·	नं	·
सां	रि्'	नि्	सां	नि् ध्	नि्	ग्'	सां	ध्	—	प	—	म	ध्	प	नि्
स्यो	·	नं	·	स	र	·	स्व	ती	ऽ	·	·	स	र	·	स्व
ध्	प	म	ग्	ग्	म	प	ध्	म ग्	रि्	—	सा	सा	रि्	नि्	सा
ती	·	·	·	स्व	प	सः	·	स ·	द	ऽ	न्तु	आ	·	नो	·

———

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रजापति-स्तुति

यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने ।
यत्राधि सूर उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

(ऋ० १०।१२१।५)

जिस प्रजापतिरूप अधिकरण में सूर्य उदित हो कर प्रकाशित होता है, एवं लोकरक्षार्थ रचित हो कर द्यावा-पृथिवी जिस प्रजापति को मन से देखती रहती हैं, उस प्रजापति को हम ऋत्विज् लोग हविष् समर्पण करते रहें ।

राग मालकौंस

चौताल

×		०		५		०		९		११	
मग्	मग्	मसा	—	सा	नि् सा	ग्-ग् सा	नि् ध्	सा नि्	ग् सा	सा म	—
यं ·	· ·	· ·	ऽ .	क्रं	· ·	द ऽ · ·	सी	·	·	·	ऽ
मग्	ध् म्	नि् ध्	नि् म	—	ध्म - -	ध् ग् - -	मसा - -	मग्	म	सा ग्	सा
अ	व	सा	·	ऽ	त · ऽऽ	· · ऽऽ	स्त · ऽऽ	भा	·	ने	·
मग्	—	—	ध् म	—	—	नि् ध्	—	—	नि्	सां	—
अ	ऽ	ऽ	भ्यै	ऽ	ऽ	क्षे	ऽ	ऽ	तां	·	ऽ
ग्'	ग्' नि्	सां	—	सां	—	नि्	सां ग्'	नि् सां	ध्	ध्	म
म	न	सा	ऽ	रे	ऽ	ज	मा .	· ·	ने	·	·
म	ध्	नि्	- नि्	ध	नि्	सां	— सां	ग्' सां	मं गं	मं	- सां
य	त्रा	·	ऽ धि	य	त्रा	·	ऽ धि	सू	·	·	ऽ र
सां - - नि्	ग्' सां - -	नि् ध्	नि् म	ध ग्	म सा	म ग्	ध् म	ध् ग्	म सा	ग् नि्	सा
उ ऽऽ,	दि · ऽऽ	तो	·	·	वि	भा	·	·	·	·	ति

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ग् नि	ग् सा	म ग्	म	—	—	म ग्	ध् म	नि ध्	सां नि	सां	सां
क	•	स्मै	•	ऽ	ऽ	दे	•	वा	•	•	य
सां ग्	नि	सां	—	—	ग् सा	ग्	म	—	ग्	म	सा
ह •	वि	षा	ऽ	ऽ	वि	धे	•	ऽ	म	—	•
नि सा	—	—	—	सा	—	ग् - गसा	नि ध्	सा नि	ग् सा	सा म	—
यं	ऽ	ऽ	ऽ	क्रं	ऽ	द ऽ • •	सी	•	•	•	ऽ

इन्द्र-स्तुति

विश्वजितें धनजितें स्वर्जिते सत्राजितें नृजित उर्वराजितें ।
अश्वजितें गोजितें अब्जितें भर इन्द्राय सोमं यजताय हर्यतम् ॥
अभिभुवेंऽभिभङ्गाय वन्वते अषाळ्हाय सहमानाय वेधसें ।
तुविग्रये वन्हये दुष्टरीतवे सत्रासाहे नम इन्द्राय वोचत ॥

(ऋ० २।२१।१,२)

येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि यो दासं वर्णमधरं गुहाकः ।
श्वघ्नीव यो जिगीवाँ लक्षमाददर्यः पुष्टानि स जनास इन्द्रः ॥

(ऋ० २।१२।४)

हे अध्वर्यु ! विश्वविजेता इन्द्र के लिए स्पृहणीय सोम का सम्पादन करो । जिस इन्द्र ने शत्रुओं को पराजित करके धन जीत लिया है, जो स्वर्ग का अधिपति है, जो निरन्तर विजयशील है, जो नेताओं का विजेता है, जो उर्वराभूमि का विजेता है, जो बलपूर्वक अश्व और गोवंश को अधिकृत कर चुका है, जो वृत्र से अधिकृत जल को जीत चुका है, उस पूज्य इन्द्र को स्पृहणीय सोमरस के सम्पादन से तुष्ट करो ।

जो सबका अभिभव करने वाला है, जो असुरों का संहारक है, जो शत्रुओं के धन का विभाजन करके लेने वाला है, जो शत्रुओं से पराभूत न होने वाला है, जो सर्वजित् है, जो सबका विधाता है, जो बहुतों से स्तोतव्य है, जो सबका वहन करने वाला है, जो दूसरों से अहिंस्य है, जो सदा पर-पराभव-परायण है, उस इन्द्र को प्रणाम करो ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जिस इन्द्र के द्वारा ये सभी लोक विनाशशील बनाए गए हैं; जो अपने कामों (सेवा-कार्य) द्वारा आवश्यकताओं को क्षीण कर देता है, ऐसे सेवक (दास) वर्ग तथा निकृष्ट असुर वर्ग को जो छिपा देता है;* जो कुत्तों द्वारा मृगों का शिकार करने वाले बहेलिये की तरह अपने लक्ष्य को जीत लेता है, और जो शत्रु के संचित पुष्ट धनों को बलात् ग्रहण कर लेता है, हे मनुष्यो ! वह इन्द्र है।

राग अडाणा

त्रिताल

स्थायी

×				५				०				१३			
												नि	नि	प म	प
												वि	•	श्व •	जि
सां	—	—	—	नि	सां	रिं	सां	रिं	नि	सां	—	निप	निनि	प म	प
ते	ऽ	ऽ	ऽ	ध	न	जि	ते	•	•	•	ऽ	वि •	••	श्व •	जि
सां	—	—	—	नि	सां	रिं	नि	सां	नि	प	नि	म	प	—	—
ते	ऽ	ऽ	ऽ	ध	न	जि	ते	•	स्व	•	जि	ते	•	ऽ	ऽ
नि	म	नि	प	नि	ग्	—	—	मग्	यम	निप	सांनि	ग्	म	रि	सा
स	•	श्रा	•	जि	ते	ऽ	ऽ	नृ	जि	ते	•	उ	•	र्ध	रा
—	रि	नि	सा	निसा	रिम	पनि	सांरिं	ग्रिं	सांनि	ध्नि	रिंसां	नि	नि	पम	प
ऽ	जि	ते	•	ए •	••	••	••	••	••	••	••	वि	•	श्व् •	जि

* यहाँ इन्द्र की अनुग्रह और निग्रह दोनों शक्तियों का निर्देश है। सेवक को जो आपत्ति पड़ने पर रक्षार्थ छिपा लेता है, यह उसकी अनुग्रह शक्ति है तथा असुरों को दण्ड देने के लिए गुफ़ा में क़ैद करके जो छिपा लेता है, यह उसकी निग्रहशक्ति है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अन्तरा—१

×				५				०				१३			
म	—	प	प	नि॒ध	नि॒ध	नि॒	सां	नि॒	सां	—	सां	नि॒	रिं	नि॒	सां
अ	ऽ	श्व	जि	ते	•	गो	•	जि	ते	ऽ	अ	•	ब्जि	ते	•
रिं	सां	रिं	मं ग॒	मं ग॒	मं	रिं	सां	रिं	नि॒	सां	—	—	—	—	—
भ	रे	•	द्रा	•	य	सां	•	मं	•	•	•	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ
सां	नि॒	सां	रिं	सां	नि॒	प	नि॒	म	प	—	—	नि॒	नि॒	पम	प
य	ज	ता	•	य	ह	•	यं	तं	—	ऽ	ऽ	वि	•	श्व	जि

अन्तरा—२

म	म	प	ध	ध॒	ध॒	नि॒	—	सां	—	सां	सां	नि॒	रिं	नि॒	सां
अ	भि	भु	वं	•	भि	मं	ऽ	गा	ऽ	य	व	•	न्व	ते	•
सां	नि॒	रिं सां	रिं	—	रिं	सां	रिं	मं ग॒	पं मं	पं	रिं	—	सां	नि॒	सा
अ	पा	.	हळा	ऽ	य	स	ह	मा	•	•	ना	ऽ	य	वे	•
रिं सां	नि॒ प	नि॒	प	नि॒	म	—	प	सां	—	—	—	—	नि॒	म	प
द •	से •	•	•	तु	वि	ऽ	ग्र	ये	ऽ	ऽ	ऽ	ऽ	व	•	ह
सां	—	—	—	प सां	सां	नि॒	सां	रिं	रिं	नि॒	सां	नि॒	—	प	—
ये	ऽ	ऽ	ऽ	दु	•	ष्ट	री	•	त	वे	•	स	ऽ	श्रा	ऽ
नि॒	म	नि॒	प	प	म	नि॒	प	ग॒	ग॒	म	—	प	—	प	रि
सा	•	हे	•	•	•	•	न	म	•	इं	ऽ	द्रा	ऽ	य	वो
सा	रि	नि॒	सा	नि॒ सा	रिम	रिसा	रिम	प नि॒	पम	पनि॒	सां	नि॒	नि॒	पम	प
•	च	त	•	आ •	••	••	••	••	••	••	•	वि	•	श्व •	जि

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

राग प्रभात

मत्ततात

स्थायी

×		०		५		७		०		११		१३		१५			
														ध			सां
														प	ग	प	ध
														ये	•	ने	•
सां																	
प	—	ध	—	प	—	ग	रि्	ग	प	प	ग	रि्	सा	सा	ध्	सा	रि्
मा	ऽ	वि	ऽ	श्वा	ऽ	च्य	व	ना	•	कृ	ता	•	नि	यो	•	दा	•
सा	—	सा	—	रि्	ग	प	ध	प	ग	प	ग	रि्	सा				
सं	ऽ	व	ऽ	र्णं	म	ध	रं	•	•	गु	हा	•	कं				

अन्तरा

														प	ग	प	ध
														श्व	•	श्री	•
														ग			
सां	सां	—	ध	सां	रि॑	सां	—	सां	ध	सां	ध	—	प	रि॑	गं	सां	रि॑
व	यो	ऽ	जि	गी	•	वां	ऽ	ल	•	क्ष	मा	ऽ	द	द	•	र्यः	•
														ध			सां
ध	सां	ध	—	प	प	ग	प	ध	प	प	ग	रि्	सा	प	ग	प	ध
पु	•	ष्टा	ऽ	नि	स	ज	ना	•	स	इं	•	द्रः	•	ये	•	ने	•

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

राग मालकौंस

ध्रुपद-चार ताल

श्रीमान् टी. एल. राणा (नेपाल राजवंशीय)

स्थाई--पञ्चकोश पञ्चभूत पञ्चप्रान पञ्चतन, पञ्चदेव पञ्चानन पञ्चकरन पञ्चजात ।
अन्तरा—पञ्चज्ञान पञ्चदान पञ्चव्रत पञ्चतप, पञ्चरंग पञ्चसूर पञ्चपाप पञ्चरात ।
अभोग--साधे पञ्च पञ्च बाँधे प्रथम तब भेद कर षटरूप एक होत पञ्चगात ।
सञ्चारी—बैजू पायो पद मन भये गदगद बाजे अनहत सुर ताल जो अघात ।

स्थायी

म	—	म	ग	म	म	ध्	—	म	ग्	म	स
पं	ऽ	च	को	•	श	पं	ऽ	च	भू	•	त
×		०		५		०		९		११	
स	—	नि् स	ध्	नि् ध्	स	स	म	म	ग्	—	मं
पं	ऽ	च •	प्रा	•	न	पं	•	च	त	ऽ	न
×		०		५		०		९		११	
म ग्	म ग्	म	नि् ध्	नि् ध्	नि्	सं	नि् —	सं	नि् —	सं	सं
पं	•	च	दे	०	व	प	ऽ	चा	ऽ	न	न
×		०		५		०		९		११	
सं	—	नि्	ध् नि्	ध् नि्	ध् नि्	ध् म	नि् ध्	सं नि्	ध् नि्	—	म
पं	ऽ	च	क	र	न	पं	•	च	जा	ऽ	त
×		०		५		०		९		११	

अन्तरा

म ग्	म ग्	म	नि् ध्	नि् ध्	नि्	सं	—	सं	नि् सं	—	सं
पं	•	च	ज्ञा	•	न	पं	ऽ	च	दा	ऽ	न
×		०		५		०		९		११	

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सं	—	मं	मं ग्	—	मं	ग्	मं ग्	मं	गंमं	—	सं
पं	ऽ	च	व्र	ऽ	त	पं	·	च	त	ऽ	प
×		०		५		०		९		११	
सं	—	ग्	सं	—	सं	सं	नि्	ध्	नि्	ध्	म
पं	ऽ	च	रं	ऽ	ग	पं	·	च	सू	·	र
×		०		५		०		९		११	
सं	नि्	ध्	नि	ध्	म	ध् म ग्	ग्	म	नि् ग्	१म	स
पं	·	च	पा	·	प	पं	·	च	रा	·	त
×		०		५		०		९		१	

अभोग

स	ध्	—	ध्	—	नि्	—	म	—	ग्	—	म
सा	·	ऽ	धे	ऽ	प	ऽ	च	ऽ	पं	ऽ	च
×		०		५		०		९		११	
नि् ग्	—	—	म	—	नि्	ध्	म	—	ग्	म	स
बां	ऽ	ऽ	धे	ऽ	प्र	थ	म	ऽ	त	·	व
×		०		५		०		९		११	
स	नि्	स	नि् ध्	—	म	नि्	नि्	ध्	स नि्	स	स
भे	·	द	क	ऽ	र	प	ट	·	रू	·	प
×		०		५		०		९		११	
ग् स	—	म	म ग्	म	म	ग् म	—	म	ग्	म	स
ए	ऽ	क	हो	·	त	पं	ऽ	च	गा	·	त
×		०		५		०		९		११	

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संचारी

ग्	म	—	ध्	नि्	—	सं	नि् —	सं	नि् —	सं	स
बै	.	ऽ	जू	.	ऽ	पा	ऽ	या	ऽ	प	द
×		०		५		०		९		११	
सं	सं	—	मं	—	मं	गं्	मं	—	गं्	मं	सं
म	न	ऽ	भ	ऽ	ये	ग	द	ऽ	ग	.	द
×		०		५		०		९		११	
सं	सं	गं	सं	—	सं	नि	—	—	नि ध	नि्	म
वा	ऽ	.	जे	ऽ	अ	न	ऽ	ऽ	ह	ऽ	त
×		०		५		०		९		११	
सं	नि्	ध्	नि	ध्	म	ध	म ग	म	गम	—	स
सु	.	र	ता	.		जा	.	अ	धा	ऽ	त

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

राग जोगिया

ध्रुपद-चारताल*

श्रीमान् टी० एल० राणा (नेपाल राज-वंशीय)

स्थाई—अखिल गुणन भंडार। रचत सृष्टि सुरजनहार करतार।

अन्तरा—सकल गुणन को अधार। दास ताप भंजन हार। माया पति जगत पति निराधार के अधार।

अभोग× सञ्चारी—नाद विकट सागर तामें भ्रमर तान। गमकलाग डाँट लिये नाद तन को करत पार।
कहे 'गोपाल' लाल कठिन सब भेद जान, बिन कृपा भगवान। नमन करो बार-बार।

स्थायी

म(रे)	म(रे)	म	म	प	प	ध	—	—	ध	—	ग
अ	खि	ल	गु	ण	न	भं	ऽ	ऽ	डा	ऽ	र
×		०		५		०		९		११	
म	प	म	म(रे)	—	स	रे	म	—	प	—	ध
र	च	त	स	ऽ	ष्टि	सु	र	ऽ	ज	ऽ	न
×		०		५		०		९		११	
सं	—	—	सं ध	—	म	म प	म	—	रे	—	स
हा	ऽ	ऽ	०	ऽ	र	क	र	ऽ	ता	ऽ	र
×		०		५		०		९		११	

अन्तरा

म	म	प	प	ध	ध	सं	—	सं	सं	—	सं
स	क	ल	गु	ण	न	को	ऽ	अ	धा	ऽ	र
×		०		५		०		९		११	

---

* पं० भातखण्डे कृत क्रमिक पुस्तकमालिका पंचम भाग (पृ० ३२६) में यही ध्रुपद अपूर्ण रूप में दिया गया है। उसी का परंपराप्राप्त पूर्ण रूप यहाँ प्रस्तुत है।

× किसी-किसी परंपरा में सञ्चारी अभोग ऐसे प्रचलित क्रम के स्थान पर अभोग-सञ्चारी यह क्रम रखते हैं। उसी परंपरानुसार श्रीमान् राणा साहब ने प्रस्तुत क्रम अपनाया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रे॒'	—	मं	रे॒'	—	सं	रे॒'	सं	सं	ध॒	—	प
दा	ऽ	स	ता	ऽ	प	भं	ज	न	हा	ऽ	र
×		०		५		०		९		११	
प	—	ध॒	—	सं	सं	ध॒	ध॒	प	ध॒	सं	सं
मा	ऽ	या	ऽ	प	ति	ज	ग	त	प	·	ति
×		०		५		०		९		११	
ध॒	ध॒	—	सं	—	सं	ध॒	—	म	रे॒	—	स
नि	रा	ऽ	धा	ऽ	र	के	ऽ	अ	धा	ऽ	र
×		०		५		०		९		११	

आभोग

सं	प	—	प	—	ध	ध॒	ध॒	ध॒	—	म	म
ना	·	ऽ	द	ऽ	वि	क	ट	सा	ऽ	ग	र
×		०		५		०		९		११	
प	—	—	म	—	प	म	पम	—	रे॒	—	स
ता	ऽ	ऽ	में	ऽ	भ्र	म	र	ऽ	ता	ऽ	न
×		०		५		०		९			
पध॒	पध॒	स	रे॒	—	म	प	—	ध॒	सं	ध	—
ग	म	क	ला	ऽ	ग	डां	ऽ	ट	लि	ये	ऽ
×		०		५		०		९		११	
सं	—	ध॒	प	म	पम	प	म	पम	रे॒	—	स
ना	ऽ	द	त	न	को	क	र	त	पा	ऽ	र
×		०		५		०		९		११	

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitization by eGangotri

संचारी

म	प	—	ध्	—	सं	—	सं	—	सं	—	सं
क	हे	ऽ	गो	ऽ	पा	ऽ	ल	ऽ	ला	ऽ	ल
×		०		५		०		९		११	
सं	रें	मं	पं	मं	—	रें'	—	रें'	सं	—	सं
क	ठि	न	स	ब	ऽ	भे	ऽ	द	जा	ऽ	न
×		०		५		०		९		११	
रें'	मं	रें'	सं	—	—	ध्	सं	—	ध्	—	प
वि	न	कृ	पा	ऽ	ऽ	भ	ग	ऽ	वा	ऽ	नं
×		०		५		०		९		११	
सं	ध्	प	ध्	म	—	प	—	प म	रे	—	स
न	म	न	क	रो	ऽ	वा	ऽ	र	वा	ऽ	र

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

सरस्वती स्तुति

राग हंसध्वनि—ताल आड़ाचौताल

शब्द-स्वर-रचनाकार गायनवादनाचार्य पं० बलवन्तराय भट्ट 'भावरंग'

स्थाई—विहरति ब्रह्म नंदिनी, गगन मँह श्वेत हंस आरूढ़ा सुर वन्दिता, पुनित नाम नित्य जपत नर मुनि।

अंतरा—वेदान्त विज्ञानमयी, गिरा रसगानमयी, दे मातु प्रज्ञा प्रसाद "भावरंग" को अब कृपा करि प्रणव सहित सबल साम मंत्र भनि॥

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४
×		३		० प	नि	७ सा	रे'	० गरे	सारे'	११ सानि	पग	० रेसा	निसा
				वि	ह	र	ति	ब्र ऽ	ऽऽ	ह्मा ऽ	नं ऽ	ऽऽ	दि ऽ
ग रे	—	—	ग										
नी	ऽ	ऽ	ऽ	वि	ह	र	ति	ब्र	ऽऽ	ह्मा	नं	ऽऽ	दि
			ग	ग रे	रे	सा	सा	निसा	ग रे	सारे	नि	—	प
नी	—	—	ग	ग	न	म	ह	श्वे ऽ	ऽ	त ऽ	हं	ऽ	स
नि	सा	ग	ग रे	रे	—	—	ग	प	ग रे	—	रे	सा	—
श्रा	ऽ	रू	ऽ	ढ़ा	ऽ	ऽ	सु	र	वं	ऽ	दि	ता	ऽ
सा	रे	सा	ग रे	ग	रे	ग	प	ग	प	नि	प	नी	सा'
पु	नि	त	ना	ऽ	म	नि	ऽ	त्य	ज	प	त	न	र
गं'	रे'	—	गं'	गरे'	सारे'	सानि	पग	पनि	सारे'	सानि	पग	रेसा	निसा
मु	नि	ऽ	•	वि ऽ	ह ऽ	र ऽ	ति ऽ	ब्र ऽ	ऽऽ	ह्मा ऽ	नं ऽ	ऽऽ	दि ऽ

CC0. In Public Domain, Digitization by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(१८८)

— अंतरा —

प	गप	सां	—	सां	सां	—	सां	—	सांनि	रें	सां	—	—
वे	ऽऽ	दा	ऽ	न्त	वि	ऽ	ज्ञा	ऽ	नऽ	म	यो	ऽ	ऽ
प	गप	सां	—	सां	सां	—	सां	—	सांनि	रें	सां	—	गं
वे	ऽऽ	दा	ऽ	न्त	वि	ऽऽ	ज्ञा	ऽ	नऽ	म	यो	ऽ	गि
गं रें	—	सांनि	निप	प	नि	सां	गं	गं रें	—	—	—	गं	पं
रा	ऽ	रऽ	सऽ	गा	ऽ	न	म	यी	ऽ	ऽ	ऽ	दे	ऽ
गं रे	—	सां	गं	गं रें	सां	सां नि	प	निसां	रें	रें	सां	—	नि
मा	ऽ	तु	प्र	ऽ	ज्ञा	ऽ	प्र	साऽ	ऽ	द	भा	ऽ	व
प	ग	प	ग रे	—	सा	सानि	प	सा	-नि	रे	सा	—	सा
रं	ऽ	ग	को	ऽ	अ	वऽ	कृ	पा	ऽऽ	क	रि	ऽ	प्र
रे	सा	रे	ग	रे	ग	प	ग	प	नि	प	प	नी	सां
ण	व	स	हि	त	स	ब	ल	सा	ऽ	म	मं	ऽ	त्र
गं	रें	—	गं	गंरें	सांरें	सांनि	पग	पनि	सांरें				
भ	नि	ऽ	ऽ	विऽ	हऽ	रऽ	तिऽ	वऽ	ऽऽ				

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

राग दरबारी कानड़ा—ताल धमार

शब्द-स्वर-रचनाकर—गायनवादनाचार्य पं० बलवन्तराय भट्ट 'भावरंग'

स्थायी—राग के दरबार विराज भावरंगी शाह कानर। संग सोह साजराज मृदङ्ग मुख सों करत मंद धुनि विलंवित धीर धमार।

अन्तरा—मंद्र सों महाराजा चले मध्य और तार भुवन, ताल रथ में त्रिभुवन विजय कर निज भवन आये सुधीर; सब रागन साधु पुकार।

स्थायी

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४
×			०		६		०			११		०	०
							नि॒ रे	—	सा	रे नि॒	सा	रे--सा	रे
							रा	ऽ	ग	के	ऽ	दऽऽ:	र
म ग॒	म —	म ग॒	ग॒ म	रे	—	सा	रे नि॒	रे सा	सा रेरे--	नि॒ ध॒	नि॒	प॒	—
बा	ऽ	र	वि	रा	ऽ	ज	भा	ऽ	व ऽऽ	रं	ऽ	गी	ऽ
प॒ सा	—	नि॒ ध॒	सा नि॒	नि॒ सा	सा	सा	रे नि॒	सा —	सा--नि॒	रे सा रे	—	रे	—
शा	ऽ	ह	का	ऽ	न	र	सं	ऽ	गऽऽऽ	सो ऽ	ऽ	हे	ऽ
म ग॒	प म	प	म ग॒	ग॒ म	रे	सा नि॒	नि॒ रे	—	सा	रे नि॒	सा नि॒	रे सा	रे
सा	ऽ	ज	रा	ऽ	ज	मृ ऽ	दं	ऽ	ग	मु	ख	सों	ऽ

CC0. In Public Domain, Digitization by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नि़ध़	ध़ नि़	प़	म़	—	प़	मप़	निध़	नी—	नि़ध़	सानि़	सा	सा	सा--नि़
क	रऽ	त	मं	ऽ	द	धु	नि	ऽ	वि ऽ	लं	ऽ	वि	तऽऽऽ
नि़रे	---सा	रे	प	मग़	म—	मग़म	मरे	—	शा				
धी	ऽऽऽऽ	र	भ्र	मा	ऽ	रऽ	रा	ऽ	ग				

अन्तरा

×			०		६		०			११		०	
							नि़ध़	स नि़	सा--नि़	सा रे	—	रें--सा	रें
							मं	ऽ	द्रऽऽऽ	सों	ऽ	मऽऽऽ	हा
मग़	म—	मग़	म—	पम	मप	—	नि़ध़	नि़—	नि़ध़	नि़धू	ध़नि़	प	प
रा	ऽ	जा	ऽ	च	ले	ऽ	म	ऽ	ध्य	औं	ऽ	ऽ	र
पसां	—	नि़ध़	सं नि़	नि़सां	सां	—	रें नि़	सां—	सां नि़	सां रें	रें	रें	—
ता	ऽ	र	भु	व	न	ऽ	ता	ऽ	ल ऽ	र ऽ	थ	में	ऽ
मं ग़ं	मं ग़ं	मं ग़ं	मं ग़ं	मं ग़ं मं	म रें	रें	सां	सां	रें नि़	सां नि़	सां	सां	सां नि़
त्रि	भु	व	न	वि ऽ	ज	य	क	र	नि	ज..	भ	व	न ऽ

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

रें		नी	नि	ध्				नि		नि			
सां	रें रें — —	ध्	—	नि	प	—	प	म	म	प सां	—	सां	सां
आं	ऽऽऽऽ	ये	ऽ	सु	धीं	ऽ	र	स	व	रा ऽ	ऽ	ग	·
म	म	म	प	म			रें	सा ग्		नि	सा	रे	
ग्	—	ग्	म	रे	—	सा	नि सा	म म	रे सा	ध्	नि	सा	रे
सा	ऽ	धु	पु	का	ऽ	र	रा ऽ	ऽऽ	ग ऽ	के	ऽ	द	र
म	म	म	ग्										
ग्	—	ग्	म	रे	—	सा							
वा	ऽ	र	वि	रा	ऽ	ज							

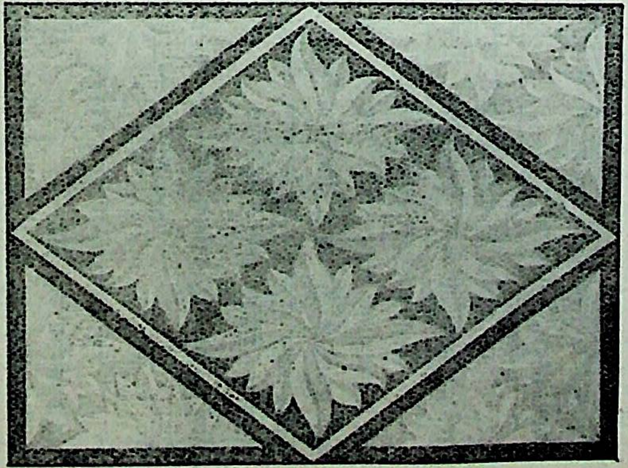

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri
Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

राग-अहीर ललित*

श्री राजभान सिंह

राग वर्णन – इस राग की रचना दो रागों के मिश्रण से हुई है अहीर भैरव एवं ललित। यही कारण है कि इस राग का नाम भी अहीर-ललित रक्खा गया है।

इसमें रे और नी कोमल तथा ग ध शुद्ध लगता है तथा दोनों मध्यम लिया जाता है। पंचम का इसमें बिलकुल प्रयोग न होने से यह षाड़व जाति का राग है। इस राग में मध्यम तथा षड्ज अति प्रबल है। यह राग प्रातः काल में बजाया जाता है।

राग का मुख्य स्वरूप इस प्रकार है :—

ध नि् रे , सा रे , ग म म् म, ग म रे सा। इस प्रकार यदि देखा जाय तो ध नि् रे यह भाग अहीर भैरव का है किन्तु ग म म् आ जाने से ललित की छाया आ जाती है। इस प्रकार दोनों के समन्वय से यह राग अपना एक नवीन ही स्वरूप बना लेता है।

---

* इस राग का आविष्कार तथा प्रथम नामकरण 'प्रणवरंग' (पूज्यपाद गुरुदेव पं० ओंकारनाथजी ठाकुर) द्वारा 'प्रणवेन्द्रमध्यमा' के रूप में हुआ था। उसका स्वल्प इतिहास यहाँ पाठकों को रुचिकर होगा।

इस राग का उद्भव मध्यम से होने के कारण तथा इसका सर्वप्रथम दर्शन प्रायः ३५ वर्ष पूर्व 'प्रणवरंग' को होने से इसका नाम 'प्रणवेन्द्रमध्यमा' रखा गया था। कर्णाटकीय संगीत में 'सिंहेन्द्रमध्यमा' नाम का जो मेल अथवा राग प्रचार में है, उसकी संप्राप्ति भी मध्यम से हुई है। इसी विचार से उपर्युक्त नवीन रागरूप का नामकरण भी 'सिंहेन्द्रमध्यमा' के जोड़ में 'प्रणवेन्द्रमध्यमा' किया गया था। इन दोनों रागों की उपलब्धि मायामालवगौड़ या भैरव के मध्यम से निम्नोक्त प्रकार से हुई है :—

भैरव :—सा—रि्—ग—म—प—ध्—नि—सां—रिं - गं— मं।

सा—रि—ग्—म्—प—ध्—नि—सां।

तद्वत् मध्यम को षड्ज मानकर वहीं से भैरव के स्वर जोड़े जाएं तो जो रूप प्राप्त होता है, उसी को 'प्रणवेन्द्रमध्यमा' कहा गया :—

म—म्—ध—नि्—सां—रि्—गं—मं

स—रि्—ग—म—प—ध्—नि—सां

नित्य की मन्द्र साधना के अवसर पर मध्यम को षड्ज मान कर इस प्रकार प्रयोग करने से सहज ही इस रूप की उपलब्धि हुई थी और आज से कई वर्ष पूर्व कलकत्ता में अखिल बंगाल संगीत सम्मेलन में 'प्रणवरंग' ने इसका स्वनिर्मित ख्याल गाया था। उस अवसर पर प्रसिद्ध सरोद नवाज़ हाफ़िज़ अली खाँ साहब ने तथा अन्य श्रोताओं ने इस रचना की भूरि प्रशंसा की थी। इस घटना के कुछ वर्ष बाद कुछ वाद्य-वादकों ने इसी स्वरावलि को 'अहीर ललित' नाम दे कर बजाना शुरू किया। अहीर भैरव में जैसे शुद्ध धैवत के साथ कोमल निषाद प्रयुक्त करते हैं, तद्वत् इसमें इन दोनों स्वरों का प्रयोग तथा साथ ही पूर्वांग में ललित का जो रूप है, उसे देख कर इसे अहीर ललित नाम दे दिया गया है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस राग का आरोहावरोह इस प्रकार है :—

आरोह—नि॒ रे॒ ग म म॒ म, ग म ध नि॒ सां।

अवरोह—सां नि॒ ध म॒ म ग म रे॒ सा।

अथवा

ग म ध नि॒ रे॒ सां नि ध म॒ म, ग म रे॒ सा।

राग अहीर ललित

जोड़ आलाप

नि॒ न॒ ध॒

सा सा

नि॒ नी॒—सा—∠ सा सा ∠ ध॒ नी॒ ध॒ नी॒ सा—∠ सा सा ∠ नी॒ सा. ध॒ नी॒ रे॒ — मा — ∠

दा दा ऽ दा ऽ ∠ दा दा ∠ दा ऽ दा ऽ ऽ ऽ ∠ दा दा ∠ दा ऽ दा ऽ ऽ ऽ दा ऽ ∠

रे॒ रे॒

सा सा ∠ ध॒ नी॒ सा रे॒ ग म भू म — ∠ म य ∠ रे॒ ग म॒ म—∠ म म ∠

दा दा ∠ दा दा दा दा दा ऽ ऽ ऽ ऽ ∠ दा दा ∠ दा ऽ ऽ ऽ ऽ ∠ दा दा ∠

रे॒

रे॒ ग म॒ म म॒ ग म रे॒ — ∠ रे॒ रे॒ ∠ नि॒ रे॒ सा — ∠ सा सा ∠ सा सा ∠ सा सा नी॒ — नी॒ — — रे॒ सा ❀

दा ऽ ऽ ऽ ऽ दा ऽ दा ऽ ∠ दा दा ∠ दा दा दा ऽ ∠ दा दा ∠ दा दा ∠ दा ऽ दा ऽ ऽ दा दा

×

❀—पहले दो अलाप अति विलम्बित लय में विस्तार।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ध ध ध ध

नी॒ रे॒ ग म ध नी॒ रे॒ सां — ∠ सां सां ∠ ध॒ नी॒ सां रे॒ नी॒ सां ध नी॒ रे॒ सां रे॒ नी॒ सां ध नि॒ रे॒ सा — ∠

दा दा दा दा दा ऽ ऽ दा ऽ ∠ दा दा ∠ दा ऽ ऽ ऽ दा दा दा ऽ ऽ दा ऽ दा ऽ दा ऽ ऽ दा ऽ ∠

रे॒ रे॒

सां सां < नी॒ रे॒ गं मं मं॒ मं — < मं मं < गं मं रें॒ — < रें॒ रें॒ — < नी॒ रें॒ सां — < सां सां < सां रें॒ नि॒ सां

दा दा < दा दा दा ऽ ऽ दा ऽ < दा दा < दा ऽ दा ऽ < दा दा ऽ < दा दा दा ऽ < दा दा < दा दा दा दा

म॒

ध नी॒ म॒ नि॒ ध म॒ म — < म म < ग म म॒ म ग रे॒ ध॒ नी॒ रे॒ सा — < सा सा < सा सा < सा सा <

दा दा दा ऽ दा दा दा ऽ < दा दा < दा ऽ दा दा दा दा दा दा दा दा ऽ < दा दा < दा दा < दा दा <

सा सा < नी॒ — नी॒ — रे॒ सा | ०

दा दा < दा ऽ दा ऽ दा दा |

सा < < < सा < < < नी॒ नी॒ रे॒ रे॒ ग म म॒ म॒ म < < < म < < < ध म॒ म — ध म॒ म — ग म म॒ म ग म ग रे॒

दा < ∪ < दा < < <

दिर दिर दा < < < दा < < < दा ऽ ऽ ऽ दा ऽ ऽ ऽ दा दा दा रा दा दा दा रा

दिर दिर

नी॒ — रे॒ — सा < < < सा < < < सा < < < सा < < < नी॒ नी॒ रे॒ रे॒ ग ग म म ध ध नी॒ नी॒ रें॒ रें॒ गं गं मं॒ < < <

दा ऽ रा ऽ दा < < < दा < < < दा < < < दा < < < दिर दिर दिर दिर दिर दिर दिर दिर दा < < <

०—तीसरा व चौथा मध्यलय में विस्तार :—

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

म॑ < < < म < < < म॑ < < < म्॑ म॑ ग॑ म्॑ म॑ ग॑ म्॑ म॑ ग॑ रे॑ नी॒ सां ज नो॒ सां रे॑ सां < < नी॒ < <

दा < < < दा < < < दा < < < दा दारा दा दा रा दा रा दा रा दा रा दा रा दा रा दा < < दा < <

ग

ध < < म्॒ ∠ < म < < < म < < < ग॑ म॑ म्॑ ग॑ म॑ म्॑ ग॑ म॑ रे॒ < < < रे॒ < < < सा < < सा < <

दा < < दा < < दा < < < दा < < < दा ऽ ऽ दा ऽ ऽ दा ऽ दा < < < दा < < < दा < < दा < <

सा < < सा < < सा < सा < नी॒ - नी॒ ऽ ऽ ऽ रे॒ सा ऽ ऽ ऽ ऽ | $

दा < < दा < < दा < दा < दा ऽ दा ऽ ऽ ऽ दा दा - ऽ ऽ ऽ |

— समाप्त —

$—पाँचवाँ अधिक द्रुत लय में झाला बजा कर समाप्त हो जायगा।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

राग—अहीर ललित—गतकारी—ताल—विलंबित

—स्थाई—

										१२	१३	१४	१५	१६
										मम	ग	रे सा	नी—सा सा	ध नी
										दिर	दा	दिर	दा ऽ दिर	दा रा
											१३			
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	०			
रे	रे	सा	रे रे	ग	मम	म	म	ग	रे	सा				
दा	दा	रा	दिर	दा	दिर	दा	रा	दा	दा	रा				
×				५				०						
					अंतरा						मम	ग	म म	ध	नि
											दिर	दा	दिर	दा	रा
												१३			
रें	सां	सां	सां सां	नी	रें रें	गं	मं	गं	रें	सां	रें रें	सां	रें रें	नी	सां
दा	दा	रा	दिर	दा	दिर	दा	रा	दा	दा	रा	दिर	दा	दिर	दा	रा
×				५				०				१३			
ध	नी नी	म	ध	नी	ध ध	म	म	ग	रे	सा	म म				
दा	दिर	दा	रा	दा	दिर	दा	रा	दा	दा	रा	दिर				
×				५				०							

CC0. In Public Domain, Digitization by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तानें :—

१—		नि॒—रें॑ रें॑ ग म	म॒ म ग म	ग रे॒ सा—	म॒ म	ग	रे॒ सा	नी॒—सा सा	ध॒ नि॒	रे॒
		दा ऽ दिर दा रा	दा रा दा रा	दा रा दा ऽ	दिर	दा	दिर	दा ऽ दिर	दा रा	दा
×	५	०				१३				
२—		घ—नी॒ नी॒ घ म	घ घ म॒ म म॒	म ग रे॒ सा	म॒ म	ग	रे॒ सा	नी॒—सा सा	ध॒ नि॒	रे॒
		दा ऽ दिर दारा	दिर दा दा रा	दा रा दा रा	दिर	दा	दिर	दा ऽ दिर	दा रा	दा
×	५	०				१३				×

३—ध॒ ध॒ नी॒ सा नी॒ नी॒	सा रे॒ सा रे॒	ग म म म॒ म	ग रे॒ सा—	नी॒ नी॒ ध म॒ ध ध	म॒ म ग म	म॒ मम ग म	ग रे॒ सा—
दिर दा रा दिर	दा दा दा रा	दा दिर दा रा	दा रा दा ऽ	दिर दारा दिर	दारा दारा	दा दिर दारा	दा रा दा ऽ
×				५			

म॒ मम ग रे॒	सा ध॒—नि॒	रे॒—ध॒ नी॒	रे॒—सा ध॒	—नी॒ रे॒—	ध॒ नी॒ रे॒—	सा ध॒—नी॒	रे॒—ध॒ नि॒	रे॒
दा दिर दा रा	दा दा ऽ रा	दा ऽ दा रा	दा ऽ दा दा	ऽ रा दा ऽ	दा रा दा ऽ	दा दा ऽ रा	दा ऽ दा रा	दा
०				१३				×

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(४)

सां रिं रिं सांनि सां नि	धा निनि ध म् ध म्	म म् म म ग म ग	रे-म् म् मग	रे सा ध नि	रे ध् नि	रे-ध नि	रे···
दा दिर दा दा रा दा	दा दिर दा दा रा दा	दा दिर दा दा रा दा	दा ऽ दिर दा रा	रा दा दारा	दा ऽ दारा	दा ऽ दा रा	दा ऽ ऽ ऽ
×				५			

म ग रे सा	ध नि रे	ध नि रे-	ध नि रे-	-- म ग	रे सा ध नि	रे—ध नि	रे ऽ ध नि	रे
दा रा दा रा	दा रा दा ऽ	दा रा दा ऽ	दा रा दा ऽ	ऽ ऽ दा रा	दा रा दा रा	दा ऽ दा रा	दा ऽ दा रा	दा
०				१३				×

(५)

धनि सासा नि सा रे रे	सारे गम रे ग मम	गम म्म् मम् धध	मध नीनी धनि सांसां
दारा दारा दारा दारा	दारा दारा दारा दारा	दारा दारा दारा दारा	दारा दारा दारा दारा
×			
सांरे सांरे निसां निसां	धनि धनि म्ध म्ध	मम् मम् गम गम	साध-नि रे-धनि
दारा दारा दारा दारा	दारा दारा दारा दारा	दारा दारा दारा दारा	दा दा ऽ रा दा ऽ दा रा
५			

रे-रे-	रे-सा ध	-नी रे-	धनी रे-	रे-रे-	साध-नि	रे-धनि	रे रे	रे
दा ऽ दा ऽ	दा ऽ दा दा	ऽ र दा ऽ	दा रा दा ऽ	दा ऽ दा ऽ	दा दा ऽ र	दा ऽ दा रा	दा दा	दा
०								×

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

राग अहीर—द्रुत गत

मात्रा ७ | ताल—रूपक | सम पर-खाली ४, ६, ताली

स्थाई

१	२	३	४	५	६	७
रे	—	सा	रे	गग	म्	म
दा	ऽ	र	दा	दिर	दा	रा
०			४		६	
ग	रे रे	सा	नी	सासा	ध	नी
दा	दिर	दा	दा	दिर	दा	रा
१			४		६	

अन्तरा

म्	म	ग	म	धध	नी	ध
दा	दा	रा	दा	दिर	दा	रा
०			४		६	
नी	रे'रे'	सारे'	नी	सासा	नी	ध
दा	दिर	दारा	दा	दिर	दा	रा
०			४		६	
रे'	—	नि	ध	म्	म	ग
दा	ऽ	दा	दा	रा	दा	रा
०			४		६	
रे रे	सा	रे	नी	सासा	ध	नी
दिर	दा	रा	दा	दिर	दा	रा
१			४		६	

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तानें—

तोड़े—

१	धनि	सारे	गम	मम	गरे	सारे	नीसा	
	दारा ०	दारा	दारा	दारा ४	दारा	दारा ६	दारा	
	धनि	रे	—	धनि	रे	—	धनि	रे
	दारा	दा	ऽ	दारा	दा	ऽ	दारा	दा
२—	सा रें	— सा	नि सा	— नि	ध नि	— ध	म ध	
	दा दा ०	ऽ दा	दा रा	ऽ दा ४	दा दा	ऽ दा ६	दा रा	
	— म	ग म	— म	ग रे	सा —	—	ध	
	ऽ दा ०	दा दा	ऽ दा	दा रा ४	दा ऽ	ऽ ध	दा	
	—	नी	रे	—	—	ध	—	
	ऽ ०	दा	दा	ऽ ४	ऽ	दा ६	ऽ	
	नि	रे	—	—	ध	—	नि	रे
	दा ०	दा	ऽ	ऽ ४	दा	ऽ ६	दा	दा ०
३—	ध नि	सा ध	नी नी सा—	रे सा	रे रे ग—	म म	ग रे	
	दा रा ०	दा दा	दि र दा ऽ	रा दा ४	दि र दा ऽ	दा रा ६	दा रा	
	सा —	रे नि	सा ध	— नि	ध —	नी ध	— नी	रे
	दा ऽ ०	दा दा	रा दा	ऽ दा ४	दा ऽ	दा दा ६	ऽ दा	दा ०

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

४—	ध नि	सां रें	गं मं	मं रें	सां रें	नी सां	ध नि
	दा रा	दा रा	दा रा	दा रा	दा रा	दा रा	दा रा
	०			४		६	
	सां नि	ध सां	नी ध	सां नि	ध नि	ध म	म ग
	दा रा	दा रा	दा रा	दा रा	दा रा	दा रा	दा रा
	०			४		६	
	रे सा	नी सा	ध नी	रे —	ध नि	रे —	ध नि
	दा रा	दा रा	दा रा	दा ऽ	दा रा	दा ऽ	दा रा
	०			४		६	
५—	नि नि	नी सा	सा रे	रे ग	ग ग	म ग	रे सा
	दा रा	दा दी	र दि	र दा	रा दा	दा रा	दा रा
	०			४		६	
	ग ग	ग म	म ध	ध नि	ध म	म ग	रे सा
	दा रा	दा दि	र दि	र दा	रा दा	दा रा	दा रा
	०			४		६	

रे
दा
०

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

५	१	२	३	४	५	६	७	८—९
	नि नि	नी सा	सा रे	रे ग	ग ग	म ग	रे सा	
	दा रा	दा दि	र दि	र दा	रा दा	दि र	दि र	
	०			४		६		
	ग ग	ग म	म ध	ध नि	ध म	म ग	रे सा	
	दा रा	दा दि	र दि	र दा	रा दा	दा रा	दा रा	
	०			४		६		
	ध ध	ध नि	नी रें	रें सां	रें सा	नी सां	नी ध	
	दा रा	दा दि	र दि	र दा	रा दा	दा रा	दा रा	
	०			४		६		
	नी नी	नि ध	ध म	म ग	ग ग	म ग	रे सा	
	दा रा	दा, दि	र दि	र दा	रा दा	दा रा	दा रा	
	०			४		६		
	नी सा	ध नी	रे—	ध नि	रे-	नि सा	ध नि	
	दा रा	दा रा	दा ऽ	दा रा	दा ऽ	दा रा	दा रा	
	०			४		६		
	रे—	ध नि	रे—	नि सा	ध नि	रे-	ध नि	रे
	दा ऽ	दा रा	दा ऽ	दा रा	दा रा	दा ऽ	दा रा	दा
	०			४		६		०

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

"श्री"—राग झपताल

शब्द तथा स्वरलिपि रचयिता—पं० कं० सु० अवधानी (एम० म्यूज़)

गीत :—

स्थाई :—ओंकार झंकार नाद ब्रह्मानन्द अनमोल करतार ।।

(१) अन्तरा :—साकार अवतार निरगुण निराकार, परमात्म में आत्म हो एक आधार ।।

(२) अन्तरा :—विनती करे "सुम" कर जोरे बहुवार, तेरी सुरत का न टूटे कभी तार ।।

स्थाई

×		३			०		८		
रे	प	प	—	प	ध्	प	ध्म्	प	प
ओं	•	का	•	र	झं	•	कार	•	र
म्	म्	ध्	नी	—	रें	नी	ध्	प	प
ना	•	द	ब्र	•	ह्मा	•	नं	•	द
म्	ध्	म्	ग	ग	रे	ग	रे	सा	सा
अ	न	मो	•	ल	क	र	ता	ऽ	र

अन्तरा–१

म्	ध्	म् ध्	निसां	सां	रें	गं	रें	सां	सां
सा	•	का	••	र	अ	व	ता	ऽ	र
नि	रें	गं	गं	मंरें	गं	रिं	सां	—	सां
नि	र	गु	ण	नि	रा	का	•	•	र
नि	रें	नी	ध्	नी	ध्	प	ध्	प	प
प	र	मा	•	त्म	में	•	आ	•	त्म
रे	मप	ध्	म्	ग	रि	ग	रे	सा	सा
हो	एऽ	•	क	•	आ	••	धा	•	र

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अन्तरा–२

×		३			०		८		
म्	ध्	म्ध्	नीसां	सां	सां	सां	रें	सां	सां
वि	न	तीऽ	ऽऽ	क	रे	•	सु	भा	•
नी	नी	रें	गं	गं	मं रें	रें	सां	—	सां
क	र	जो	•	रे	वऽ	हु	वा	•	र
नी	नी	रिं	नी	ध्	नी	ध्	प	—	प
तें	री	•	सूं	र	तं	का	•	•	न
रिं	म्प	ध्	मं	गं	रे	ग	रे	सा	सा
टू	टे	ऽ	क	भी	ऽ	ता	—	—	र

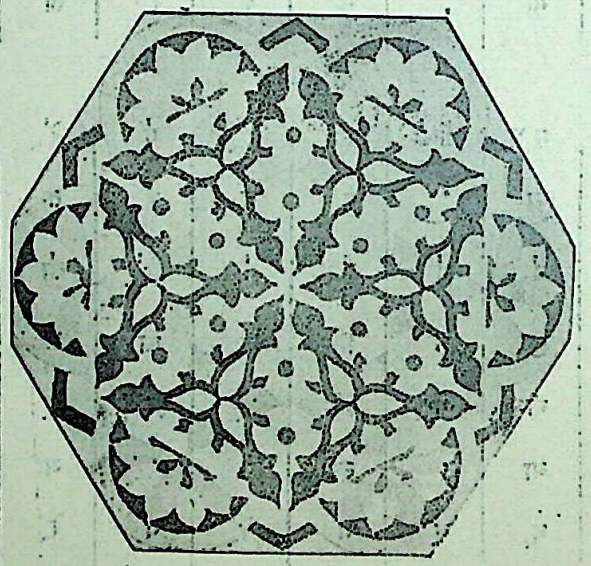

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

NĀDA RŪPA

RESEARCH SECTION

(CONTRIBUTED BY DR. PREMLATA SHARMA ASSISTED BY SRI R.K. SHRINGY)

OUR CONTRIBUTION TO RESEARCH

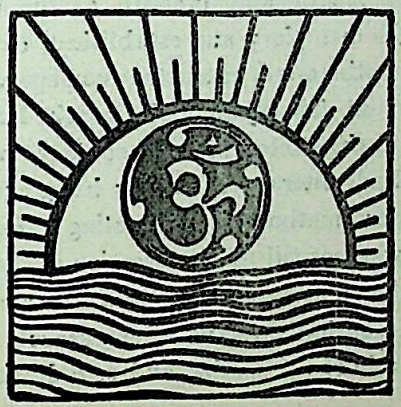

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

AIMS, OBJECTIVES AND ACTIVITIES OF THE RESEARCH SECTION

SRI R. K. SHRINGY

To begin with the Research Section of the College was brought into existence by the collaboration of Prof. Alain Danielou the ex-Honorary Prefessor (subsequently re-designated as Reader) for Research, in 1950 with only one full time research Assistant assisted by a few part-time workers. He carried on some preparatory works, as hitherto little research work was done in the field of music, but unfortunately he had to leave Banaras in May 1953 before he could give any shape to the work initiated by him. Afterwards the section remained in the charge of Shri V. V. Narlikar, the then Pro-vice Chancellor of B. H. U.. But this state of affairs could not be allowed to continue for long because it was absolutely essential that the section be brought under the supervision of a senior member of the College staff who may, by virtue of his wide knowledge and insight in the subject, be able to formulate the necessary plans for research work.

From the very beginning Revered Pt. Shri Omkarnath Thakur, the ex-founder Principal of this College was interested in the activities of the section and had been in an indirect touch with its work; it was therefore quite natural that the burden of restoring the section to a fresh order was accepted by him. He rightly visualised the aweful and ever-widening gulf between the theory that had fallen in obscurity through the vagaries of times, accident of circumstances and misguided association and, the present practice of Music which has flourished by the dint of age-old tradition of preceptor-disciple relationship. Moreover keeping in view the modern system of education and the nominal relationship obtained between the teacher and the taught in the present system it became quite apparent to him that if the theory of Indian Music enshrined in the monumental ancient works available in Sanskrit manuscripts, indiscriminately scattered over the length and breadth of the country, and some libraries abroad, was not restored to its own glory and established on a right footing, a process of decay was imminent. He therefore, entrusted the supervision of the Research Section of the College, to the Reader in Theory and Research Dr. (Miss) Prem Lata Sharma, the present Acting principal of the College, his old student, who is well versed in every branch of Sanskrit and Hindi literature besides being equipped with the knowledge of practical music and the modern methods of conducting research. But due to administrative and other difficulties it was not till the last session of the year 1957-58 that she could entirely re-organise the section and establish it on a firm and permanent footing when she restored the section to the strength of two full-time research assistants, one copyist and a typist. She redefined the role of the section and co-ordinated its activities in the grand pattern of the institution.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

The former Principal of the College, Revered Sangīta Mārtaṇḍa Pt. Omkarnath Thakur set forth the following aims and objectives for the Research section to cater to :—

1. To reconstruct and reconcile the theory of Indian Music, available in the ancient works in Samskrit on Music, with the modern practice of classical music in India.
2. To decipher old Sanskrit manuscripts on the subject and prepare them for publication, or arrange the publication thereof,
3. To prepare translations of such other texts in Hindi and other modern Indian languages as may be considered necessary.
4. And to compile such research work and other data as indices etc. which may assist the future scholars in their researches.

In view of these objectives Dr. (Miss) Prem Lata Sharma redefined the activities of the Section as under :—

1. Deciphering and collation of ancient Sanskrit Manuscripts on Music.
2. Editing these manuscript copies for their publication,
3. Preparing Hindi and English translations of classical treatises on musicology available in Sanskrit as well as other modern Indian languages,
4. Doing the necessary ground work of indexing and collecting basic material for research work and
5. Assisting the research students of the College in making available to them the required data of the source materials of the theory of Music enshrined in Sanskrit works.

Now having set the outline of the aims and objectives of the section and the brief sketch of its short history it is desirable to present an introductory account of the work so far done in the section :—

As already stated some preparatory works were taken up by the ex-Honorary Professor in Research Prof. Alain Danielon with a view to compiling a dictionary of Technical terms in music but unfortunately he gave up the work in its initial steps. However the scanty record of his work presently available with the section indicates the following lines on which he had launched his project :

1. A glossary of Technical terms found in the works on Music, ancient as well as modern,
2. A glossary of technical terms found in 'Saṅgīta Darpaṇa,'
3. A Catalogue of Sanskrit, Hindi, Urdu, Bengali, Marathi and English works on Indian Music,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

4. An index of authors on Music in the above languages, and
5. An index of musicians, ancient as well as modern.

The compilation of a Dictionary of Music is not only a difficult task in so far as there is no such existing work on the subject but it also requires a huge establishment which is not possible within the allocated budget of the section. Therefore after his departure this project was rightly abandoned in view of the aims and objectives of the Section set before it by Pt. Omkarnath Thakur, and apart from some pieces of pure research work, the following manuscripts were obtained from various sources and copies thereof were prepared for further research :—

1. Abhinava-Bhāratī (Chap. 29, 30 and 31) of Abhinava Gupta.
2. Saṅgīta Dāmodara by Śubhaṅkara
3. Saṅgītasetu (a commentary on 'Saṅgīta Ratnākara in Brajabhāṣā by Gaṅgārāma)
4. 'Rāga Sāgara by Viśwanātha Singh.
5. Rāga Viveka by Kavi Puruṣottama
6. Bharatārṇava by Sri Nandikeśvara
7. Saṅgīta-Śiromaṇi by (?)–Incomplete
8. Nāda Dīpaka (Copied from Ramnagar Palace Library)
9. Saṅgīta Pāṭha " " " " "

An introluctory note with respect to some of the important manuscripts is given for the benefit of the readers elsewhere in this Section.

Besides, during the period 1955-1958 the following works were also carried out under the direct supervision of Dr. Prem Lata Sharma.

1. A detailed table of contents of Nānya Deva's Bharata Bhāṣya (Unpublished)
2. Hindi translation of Saṅgīta Ratnākāra (incomplete)
3. A list of quotations from 'Saṅgīta Ratnākara and Kallinātha's commentary thereon.
4. Preparation of a copy of the original manuscript of Saraswati Hṛdayalaṁkāra

After the section was re organised in 1958 some minor works were carried out in the year 1958-59 in order to complete previous plans and thereafter the manuscript 'Saṅgīta Rāja' was obtained from the Anūp Sanskrit Library, Bīkāner of which twelve copies have been made available to us by the good offices of Shri Pt. Oṁkārnāth Thākur and the kind favour of Mahārāja of Bīkāner with a view to publish it for the benefit

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

of scholars and the public at large. A critical appreciation of a part of the work finds its place elsewhere in the Section and therefore an introductory note will be sufficient for the purpose of this account. We may therefore divide the work done after the re-organisation of the Section into two phases.

i. Minor works and ii Major works. Among the minor works the following are worthy of mention :–

1. Halfline Index ef Bharata Nāṭya Śāstra (seven chapters on Music only)
2. Half line index of Rāga Kalpadruma (incomplete)
3. An authorwise index of quotations found in Bharata Bhāṣya of Nānya Deva with special reference to Bharata ; the difference in readings available in the Chowkhamba and 'Nirṇayasāgar' editions for the portions quoted by Nanyadeva has also been noted.
4. An authorwise index of quotations found in Sangītarāja.
5. An index of quotations found in Bṛahaddeśī of Mataṅga
6. A comparative study of Mataṅga and Śaraṅgadeva with reference to their treatment of Gīti & Rāgas with special attention to their treatment of bhāṣa, Vibhāṣa and antarabhāṣa. The study has been compressed into a tabular form.
7. A study of Saṅgīta Makaranda with reference to its treatment of Svaras, and Rāgas which has been squeezed in a single table each, giving the Vaṁṣa, Jātī, Varṇa etc (thirteen points) in case of 'svaras' and various methods of classification with respect to Rāgas.
8. With a view to make a comparative study of the classification of Rāgas, a sketch of Pundarīka Vitthal's treatment of the subject in his 'Rāga Mālā, has also been prepared.
9. A comparative study of 'Rāga Mālā' with reference to the treatment of the subject found in 'Saḍrāgacandrodaya' and 'Rāga Mañjarī.

Among the major works, a copy of the Manuscripts 'Saṅgīta Rāja' or Kāla Sena and Rasa Kaumudī of Śrīkaṅṭha has been prepared. An introductory note to each is given below Saṅgīta Rāja :—Saṅgīta Rāja of Kāla Sena or Mahārāṇā Kumbhā is the most extensive treatise on Music (including dance and dramaturgy) available among Sanskrit works on the subject, published or unpublished. It consists of about sixteen thousand verses divided into five cantos called Pāṭhya Ratna Koṣa, Gīta Ratna Koṣa, Vādya Ratna Koṣa and Rasa Ratna Koṣa, where the names of the chapters speak for the subject matter dealt within them. Each of the cantos is further divided into five Ullāsas (lustres) each of which in its turn is further divided into five parīkṣaṇas

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(observations). As would be clear from the scheme and the extent of the book, the author has left nothing untouched in the field of Music. 'Saṅgīta Ratnākara' the most widely known work in Sanskrit on Music, apart from Nāṭya Śāstra of Bharata is only one third of its volume, while the Nāṭya Śāstra is no more than 6000 Ślokas. The work was completed in 1456 as can be seen from the internal evidence available in the book itself, which is also called 'Saṅgīta Mīmāmsā'. Apart from 'Sangīta Rāja' (King of Music) the other known works of the author are 'Rasika Priya', a commentary on Gīta Govinda, Sūḍaprabhandha and a commentary on Canḍī Śataka. There are twelve copies of the manuscripts available with the Anup Sanskrit Library, only one of which is a complete copy of the work. All other copies are, more or less incomplete and even framentary. But none-the-less they have proved of a great value by way of providing variant texts and by lending us an opportunity of filling up blanks in the only complete copy available to us. At present the work of comparing various texts is in hand and the second book of Gīta Ratna Koṣa, it is hoped, will soon find its way to the press for, the first book Pāṭhya Ratna Koṣa which is only one twelfth of the whole work has already been published by the Anup Sanskrit Library, Bikaner, in their Ganga Oriental series No. 4.

2. Rasa Kaumudī is a short treatise on Music which also deals extensively with theories on Rasa etc. on the pattern of similar works on Sanskrit poetics. The work therefore is divided into two parts, the first of which deals with music and the other with literature. Under the Heading of Music i. e. Saṅgīta, the author deals with vocal and instrumental music on the one hand and dancing on the other, for the Indian conception of Saṅgīta comprehands the three in a single Art.

In addition to the programme of the publication of critical edition of 'Saṅgīta-Rāja' and 'Rasakaumudī' in the near future, the Section has a long term programme of preparing and publishing a critical edition of the six chapters of Bharata's Nātya Śāstra dealing with music along with translation and critical notes on both. In the meanwhile the publication of the half line index of 6 chapters of Nātyaśāstra dealing with music, which is almost ready, is intended to be shortly brought out for the benefit of scholars and researchers in the field of music.

The importance of Bharata's Nāṭyaśāstra for research on Indian music can never be over-emphasized and this proposed publication will be most valuable for students of music and research workers. A long felt need will be fulfilled by this publication, as it will make accessible to the scholars the basic principles of music and aesthetics which have so far remained more or less a closed book in the absence of authoritative interpretation of the text. It will also help to a great extent such other scholars and researchers in Musicology who find themselves handicapped for want of

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

proper initiation in the methods of research in Sanskrit texts, in so far as it will present to them an authentic translation with critical notes which can give them an insight into the fundamentals of the science of music as propounded by Bharata. This publication, it is expected, will set at rest the various doubts and unfruitful argumentation presently prevalent due to lack of proper access to the original source of Bharata. We are confident that this publication would help a long way to re-instate the fundamental principles, lost sight of for long by our musicians, in our tradition of practical music.

In conclusion, it will be fair to say that the recognition accorded to the work of the section is worthy of appreciation but hardly adequate to fulfil the demands of the gigantic task entrusted to it. It is however hoped that as soon as the importance of Research in the field of Music is properly felt greater patronage will not be hard to gain, for, indeed we can neglect this work only at the cost of our national heritage.

A SYNOPTICAL AND CRITICAL SURVEY OF THE 'GĪTA-RATNA-KOṢA' OF 'SAṄGĪTARĀJA'

By

Dr. Prem Lata Sharma Assisted By Sri R. K. Śringy

A brief introduction to the general scheme of Saṅgītarāja has been given in the preceding note on the activities of the Research Section. Due to limitations of space available it will not be possible to give a critical appreciation of the entire work. As the first Canto viz., the 'Pāṭhya-Ratna-Koṣa' has already been published by the Anup Sanskrit Library, Bikaner, it is proposed to review the next Canto viz., the 'Gīta Ratna Koṣa' which is divided into four Ullāsas viz., Svara, Rāga, Prakīrṇaka and Prabandha. As the first two Ullāsas are of cardinal importance and the last two concerning Prakīrṇaka and Prabandha are of a secondary importance and deal with miscellanous topics or various forms of music in detail, we shall confine our present study to the first two Ullāsas dealing with Svara and Rāga. Moreover the topics dealt with in Prakīrṇaka and Prabandha are not so very significant from the point of view of the reconciliation of the present day practice with the theory contained therein.

It is generally observed that the author's treatment of 'Gīta Ratna Koṣa' closely follows that of 'Śaṅgīta Ratnākara' of Śarṅgadeva. To take up the Svara Ullāsa which corresponds to the Svarādhyāya of Śārngadeva, we find that his Sthānakadi Parīkṣaṇa (folio 36–38) deals with six subjects (Prakaraṇas) the first of which is named Sthānādi. Here the author, after a propitiatory prayer to Nāda in the form of primordial sound in the terminology of Tantra and Yoga, proceeds from the subtle element of

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

sound to the gross manifestation of Nāda in Śruti and Svara. He subdivides Nāda into Ahata and Anāhata Nāda and also deals with the Ṣaṭcakra of the Yogins and also classifies Nāda as Sūkṣma, Puṣṭa etc. probably under the influence of Mataṅga who has also cited a similar scheme. But in his Śruti Prakaraṇa (Folio 38–42 A) his treatment of Śruti is noteworthy. He rejects the infinite number of Śrutis from the practical point of view. However, following the scheme of Saṅgīta Ratnākara in contrast with that of Bharata he deals with Śruti before Svara, whereas Matanga, while observing the same order of treatment, gives priority to grāma and svara in explaining śruti. But the present author has obviously ignored the importance of this method.

Regarding the number of Śrutis he admits that we can conceive sixty-six śrutis as a total number of Śrutis for the three Sthānas (Registers); thus he concedes only twenty-two śrutis in principle by clearly stating that the difference in Sthāna cannot result in the difference of the substance of Śruti. He then relates these twenty-two Śrutis to the twenty-two Nāḍīs and establishes svaras of two Śruti, three śruti and four śruti—interval on the Veṇu. His Śruti maṇḍala is peculiar in so far as the nomenclature of the Śruti is quite different from the one prevalent today i. e. he gives Kāntā, Prabhāvatī, Siddhī, Prabhā etc. instead of Chandovatī, Tīvrā etc. But in his treatment of Śrutijātis he entirely agrees with his predecessors and deals with five jātis—Dīptā, Āyatā etc. Then he takes up the question of the position of svaras among the Śrutis, according to the acheme of Saḍjagrāma without its mention. Here he gives the well known names to the Śrutis. He accepts only two grāmas and recognises the principle of Vādī-Saṁvādi Jñana for distinguishing the two grāmas and it may be observed to his credit that he gives a correct view of the concept of grāma.

For the demonstration of catuḥsāraṇā he lays down that two vīnās each having twenty two strings should be taken and follows—rather reproduces—the method of Ratnākara, in using such phrases as 'atīmandra dhvani' of the first string and 'kinciduccoccataratā' of the other strings. This method is unpractical to a large extent. His loose expressions corresponding to Śārngadeva's 'Manāgucca' and 'Mandratama' and his laying down as 'Tantrikayormadhye Dhvanyantaram yathāna syāt tathā', clearly show that he has not been able to detect that Śārangadeva's treatment of Sāraṇā is unpractical, unscientific and confusing for he has not taken into account the very basis of Sāraṇā given by Bharata by way of two grāmas and their Saṁvāda system.

In the Vādī, Saṁvādī, Anuvādī and Vivādī Prakaraṇa (folio 42 A-47A) he gives the derivation of the word svara and deals with the mutual relationship of Śruti and Svara. With respect to this question he discusses various views like Vyaṅgya Vyañjaka

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

bhāva', 'Vivarta', 'Samuccaya', 'Bhinnatva' and the 'Anūsvanatva' of Śruti and Svara, at a great length and finally rejects all of them. He gives his opinion in the following words, and repeats the definition of svara given by Ratnākara.

ऐक्यादैक्यं तच्छ्रुतीनां इति सिद्धान्तवाक्यतः ।
कालसेनधराधीशोपदेशोऽमृतपायिनः ॥७५॥
श्रुत्यनन्तरभावी यः स्निग्धोऽनुरणनात्मकः । Folios 43.

He conceives two Adhiṣṭhānas of svara i. e. the human body and the Veṇu or Vīṇā, and then goes on to give the derivations of the names of the seven svaras. Dwelling upon the Śuddha and Vikṛita svaras he follows Ratnākara ditto–ditto but gives no such reference. In fact five out of these vikṛta names really denote only a change in the intervals and not a change in the position of the svaras concerned as illustrated in the following chart.

Names of Vikṛta notes	The change in their intervals
1. Acyuta Ṣaḍja	When 'ni-sa' interval is reduced to two Śrutis by the use of Kākalī Niṣāda.
2. Catuḥśruti Ṛṣabha	When the 'Sa-re' interval stands as 4 Śrutis because of the reduction of Ṣaḍja by one Śruti (Cyuta Ṣaḍja).
3. Acyuta Madhyama	When 'ga-ma' interval is reduced to two Śrutis by the the use of Antara Gāndhāra.
4. Catuḥśruti Pancama	When the Apakṛṣṭa Pañcama regains the four Śruti interval from madhyama on account of the reduction of Madhyama by one Śruti.
5. Catuḥśruti Dhaivata	When 'Pa-Dha' interval becomes four-Śrutic due to the reduction of Pañcama by one Śruti.

In the end he again deals with four types of svara, viz., Vādī, Saṁvādī, Anuvādī, Vivādī.

His Svara prakaraṇa (folio 47A–47) is too brief and gives the mythological description of svaras in the terms of Varṇa, Vaṁśa, Ṛṣi, Kula etc. of each of the svaras. Similarly his Grāma prakaraṇa (folio 41–49A) is also a brief one and states the purpose of grāma in the following words :

न हि स्वराणां व्यस्तानां दृष्टादृष्टफलं प्रति ।
उपयोगस्ततस्तेषां समूहं विवृणे वरम् ॥२६६॥ Folio 47.

and he lays down the following principle for the non-omission of notes in the two grāmas :—

न लोप्यो मध्यमग्रामे पञ्चमो धैवतः पुनः ।
षड्जग्रामे तु सर्वत्र मध्यमो नैव लुप्यते ॥२८४॥ Folio 48A.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Although the theory of the third grāma is within his acquaintance he does not deal with it saying :

स्वर्गान्नान्यत्र गान्धार इति पूर्वैरुदीरणात् ।
त्रित्वेऽपि द्वितयस्यैवात्र ग्रामो व्यपदेशितः ॥२९४॥

Folio 48.

In his mūrcchanā prakaraṇa (Folio 42A–61) he gives the traditional names given by Bharata to the fourteen Mūrcchanās i.e. seven each in both the Grāmas and also forms the Mūrcchanā Maṇḍala. He follows the classification of Mūrcchanās set forth by Śaṅgadeva as Śuddhā, Sāntarā, Sakākalī and Sakākalyantarā as against that of Bharata viz. Pūrṇā, Ṣāḍavā, Auḍavā, and Sādharaṇīkṛtā and he actually works out the details of this classification (i.e. 4 × 14 = 56 Mūrcchanās). He clarifies briefly Antara Gāndhāra and kākalī Niṣāda, and thereafter also gives the Mūrcchanā classification of Bharata referred to above. He disagrees with the Dvādaśa-svara Mūrcchanā given by Matanga as follows :—

अत्र या मूर्च्छनाः प्राह द्वादशस्वरसंभवाः ॥८३॥
मतंगस्तन्मतं नैव सुन्दरं प्रतिभाति मे ॥
अत्रैव कोहलाचार्यो नन्दिकेश्वर एव च ॥८४॥
मतंगमनुमृ (ह?) त्यैवीचतुस्तदिह वर्ण्यते ॥
द्वादशस्वरसम्पन्ना ज्ञातव्या मूर्च्छना बुधैः ॥८५॥
जातिभाषादिसिद्धयर्थं तारमन्द्रादिसिद्धये ॥
त्रिस्थानप्रतिसिद्धयर्थं द्वादशस्वरमूर्च्छना ॥८६॥
प्रयोक्तव्यान्यथा चोक्त(क्ष?)षाडवो नैव सिद्धयति ॥
त्रिस्थानप्राप्तिपर्यन्तं यावद्रागो न मूर्च्छति ॥८७॥
न तु तावच्छरीरस्य लाभः संजायते विदाम् ॥
न च सप्तस्वरैरेव त्रिस्थानव्याप्तिसंभवः ॥८८॥
अत्र प्रतिसमाधत्ते तामेन्द्रकुलनन्दनः ॥
क्रमात्स्वराणामारोहावरोहौ मूर्च्छनेति यत् ॥८९४॥ Folio 59-60A

The most noteworthy point in this Prakaraṇa is his exposition of the 'Anytaratva' of Grāma and Mūrcchanā as expounded by Bharata. He clearly brings out :

(1) how the 'Antaragāndhāra' of Ṣaḍjagrāma becomes Dhaivata in Madhyamagrāma and how the Apakṛṣta Dhaivata of Madhyamagrāma becomes again the Gāndhāra of the Ṣaḍjagrāma, and

(2) how the Madhyama etc. of Ṣaḍjagrāma become Niṣāda etc. in Madhyamagrāma.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

षड्जग्रामभवा एव मूर्च्छना मध्यमाश्रिताः ।। चित्रं मध्यभवा एव ताः स्युः षड्जगता यथा ।। १०१ ।।
षड्जे श्रुतिद्वयोत्कर्षाद्गांधारो धैवतो भवेत् ।। द्विश्रुत्यपचयाद्ग्रामे मध्यमे धो गतां व्रजेत् ।। १०२ ।।
तद्वशान्मादिकाः षड्जे भजन्ते न्यादितां स्वराः ।। नाद्यास्युर्मादिका मध्ये श्रुतिसाम्यत्वतः स्वराः ।।१०३।।
एवं यावतिथी षड्जग्रामे या मूर्च्छना भवेत् ।। १०४ ।।
तावतिथ्येव सा मध्ये चित्रमत्राभवत्स्वयम् ।। वैणिकानामयं पन्थाः सुगमः श्रुतिशालिनाम् ।। १०५ ।।

101–5

Folio 60–A

He indirectly pays his homage to Bharata by calling himself 'Bharata-tattvajñya.' In the end of the Prakaraṇa he introduces the topic of Kuṭatānas but does not deal with it as such.

He opens his Tāna-prakaraṇa (folio 61-73A) with the derivation of Tāna and deals with Śuddha Tānas and Kūṭa tānas at a great length. Śuddhatānas according to him are not different from Ṣāḍava Auḍava mūrcchanās. He gives eighty four mūrcchanā-tānas as given by Bharata which he works out in detail. Kūṭa tānas are characterised by the change in the order of the notes (Kramabhaṅga). He also works out the kūṭa-tānas, and closes the prakaraṇa as well as the Sthānādi Parīkṣaṇa with a detailed exposition of Prastāravidhi and Naṣṭoddiṣṭa.

The Sādharaṇa Parikṣaṇa is not further divided into Prakaraṇas and runs from Folio 73-76. He illustrates Svarasādhāraṇa on the pattern of Bharata. He divides Sādhāraṇa into Svarasādhāraṇa and Jātīsādhāraṇa. In Svarasādhāraṇa he first takes up Antaragāndhāra and Kākalī Niṣāda under Madhyamasādhāraṇa and Ṣaḍja-sādhāraṇa respectively and later on he speaks of Sādhāraṇa Gāndhāra and Kaiśika Niṣāda in the above two Sādhāraṇas. In fact the Ṣaḍjaṣādhāraṇa and Madhyama-sādhāraṇa, spoken of by Bharata for denoting the Svarasādhāraṇa obtaining in the three-śrutic interval of 'Sa-re' of Ṣaḍjagrāma and 'Ma-pa' of Madhyamagrāma, has not been properly grasped by the author. He gives an account of Sādhāraṇa Gāndhāra and Kaiśika Niṣāda in this context on the lines of Śarṅgadeva incorporating, thereby, in his Svara system the misconceptions inherent in 'Ratnākara.'

He speaks of Śrutisādhāraṇa, which seems to be an innovation, but concludes by saying that Śrutisādhāraṇa is not really different from Antara gāndhāra and Kākalī-niṣāda or from the Kaiśika svaras.

Next he takes up the topic (Parikṣaṇa) of Varṇālaṅkāra (folio 76A–83). After an initial explanation of Varṇa he gives a detailed treatment of the four Varṇas and goes on to deal with the allied topic of Alaṅkāras. He gives a detailed exposition with illustrations of eightyeight Alaṅkāras as against thirty-three of Bharata and Maṭaṅga and 63 of 'Ratnākara.'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

He commences his jātī Parīkṣaṇa (folio 83-110-A) with an etymological explanatian of Jātī which is quoted below.

यतः श्रुत्यादिकं सर्वं यत्किंचिद्गीयते जनैः । तत्सर्वं जायते याभ्यो जातयस्तेन कीर्त्तिताः ॥१॥
स्वरग्रामादिकग्रामा जायन्ते वेति जातयः । जायन्ते वा ग्रहादिभ्यो जायते वा यतः स्फुस्टम् ॥२॥
रसप्रतीतिरथवा ब्राह्मणत्वादिजातिवत् । शुद्धत्वविकृतत्वादि भेदास्तन्नामतः स्मृताः ॥३॥
तेनेमा जातयः प्रोक्ता भूभृता रागमातृकाः ।

Follo 83.

It is noteworthy that this explanation which is not found in Ratnākara is clearly based on Mataṅga.

After giving a traditional description of the classification of Jātis into Śudhā and Vikṛtā he effectively clarifies the difference between the Vikṛtā variations of Śudhā Jātīs and the eleven Saṁsargajā Vikṛtā jātis. While dealing with the ten Jāti lakṣaṇas he makes a subtle observation regarding an exception to the general rule laid down by Bharata which states that all the Aṁśa svaras are also Graha svaras. He points out that in 'Nandayantī' this rule does not hold good because it has Pañcama as Aṁśa and Gāndhāra as Graha. In his detailed exposition of the characteristics of individual Jātis he refers to Mūrcchanās of Jātis in the very terms of Mataṅga and Ratnākara. It is noteworthy that this treatment of the mūrcchanās of Jātis cannot be reconciled with Bharata's system which implies that the 'nyāsa svara' of a jāti regulates its mūrcchanā. He gives the Rasas of Jātīs as given by Bharata and emphasises the sanctity of Jātis by saying that they have emanated from Sāmaveda.

Next he gives a mythological account of Kapālagāna with elaborate details of eight Kapālas of Brahmā and eight other Kapālas of other gods. It may be noted that all the Kapālas contain eulogy of Śiva. He also speaks of seven Kapālas as related to the seven Śuddha Jātjs and closes this topic with a brief reference to Kambalagāna.

His 'Svara-ullāsa' ends with a detailed treatment of the four Gītīs given by Bharata viz. Māgadhī, Ardhamāgadhī, Sambhāvitā and Pṛthulā and he distinctively explains them on the basis of the 'layabheda' (difference in tempo) inherent in them.

The Rāga ullāsa (folio 110–A to 176) opens with the author's pronounced determination of presenting the classification of Rāgas into Grāmarāga, Bhāṣārāga etc. with full details. It is noteworthy that the author makes no reference to the system of Rāga classification in Meḷa or in Rāga-rāgiṇī. On the other hand he strictly follows the classification propounded by Mataṅga and elaborated by Śārṅgadeva. This fact, it is hoped, will help us to a great extent in determining the approximate period upto which the Grāma-rāga classification was in vogue and the period of transition to the systems of Meḷa and Rāga-rāgiṇī. But it will have to be kept in view how far this classification was actually accepted by the musicians of his times.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

In the beginning he cites four Gītis of Bharata, seven of Mataṅga, five of Durga-Śakti, three of Yāṣṭika, two of Kaśyapa and one of Śārdūla and himself accepts the five Gītīs given by Durga-Śakti. It may be noted that Śaraṅgdeva has also accepted the same view but our author makes no reference whatsoever to him.

This Ullāsa is divided into four Parīkṣhaṇas, namely Grāma-rāga (110A to 159A), Rāgāṅga (159-167), Bhāṣaṅga (167-173) and Kriyāṅga (173-176). It may be observed that his treatment of Rāga is practically identical with that of Saṅgīta Ratnākara; But it goes to the credit of the author that he dwells upon the subject in greater detail as he gives elaborate ālāpa, karaṇa etc. in each rāga along with at least one gītā with notation.

While concluding it may be remarked that though the author closely follows Saṅgīta-Ratnākara he seems to avoid giving reference to that work. It is also noteworthy that while he accepts the elaboration available in Ratnākara of the principles of ancient writers such as Mataṅga he deliberately seems to shirk due acknowledgement of the fact. His intention, it appears, is to claim greater originality in critically presenting the views of the ancient authors and also to impart a mark of antiquity to his work. Although he gives nearly six hundred quotations from about fifty two authors, he refers to Śāraṅgadeva only ten times and that too in not very significant contexts. The accompanying index of the authors quoted by him will, it is hoped, prove to be informative and interesting to the readers.

S. No.	Names of Author quoted	No. of times quoted
1.	Arjuna	2
2.	Ācārya	18
3.	Abhinava Gupta	3
4.	Ādya Maharṣayaḥ (General)	1
5.	Bharata	67
6.	Bhattābhinavagupta	1
7.	Brahmā	1
8.	Bṛhaddeśī	1
9.	Bahūlaka	1
10.	Bhojarāja	2
11.	Bhāravi	1
12.	Candraśekhara	2
13.	Dattila	11
14.	Durga Śaktī	5

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

S. No.	Names of Author quoted	No. of times quoted
15.	Devarāja Priyaṅkara	1
16.	Dhanañjaya	1
17.	Kṣetra Rāja	1
18.	Kambala	2
19.	Kohala	2
20.	Kaśyapa	7
21.	Kīrtidhara	5
22.	Kālidāsa	3
23.	Kapila	1
24.	Lollaṭa	2
25.	Mataṅga	42
26.	Mātṛgupta	1
27.	Maharṣi	3
28.	Muni	47
29.	Mārkaṇḍeya Purāṇa	1
30.	Māgha	2
31.	Nandī	2
32.	Nandikeśwara	4
33.	Nārada	2
34.	Nakuleśa	1
35.	Nāthaka bhaṭṭa	1
*36.	*Others*	263
37.	Rāvaṇa	2
38.	Ratnākara	1
39.	Śārṅgadeva	10
40.	Ṣaṇmukha	1
41.	Śārdūla	6
42.	Śvetavāhana	1
43.	Śaṅkuka	1
44.	Śākya & Śākyabhikṣu	9
45.	Śaṇi	4
46.	Śūtrakāra	6
47.	Viśwāvasu	1
48.	Vṛddha *Kaśyapa* ?	1
49.	Viśākhila	7
50.	Vātsyāyana	6
51.	Yāṣṭika	29
52.	Yājñyavalkya	1
	Total	596

NOTE : Quotations given under the name of Ācārya, Muni, Munindra & Bharata can be taken as from Bharata only as in many places they are given to be of Ācārya Bharata, Muni Bharata etc. So also Abhinavagupta & Abhinavagupta Bhaṭṭa can be taken as one and likewise Kaśyapa and Vṛdhakaśyapa ; Nandī & Nandikeśvara.

* Quoted unspecifically.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitization by eGangotri

A CRITICAL NOTE ON RASAKAUMUDĪ OF ŚRĪKAṆṬHA

The name of this work suggests that it might be dealing mainly with Rasa, but actually it deals with both Saṅgīta and Sāhitya. The work comprises of ten chapters and is divided into two parts 'Pūrvakhaṇḍa' and 'Uttarakhaṇḍa', with five chapters each containing a treatment of Saṅgīta and Sāhitya respectively.

The author Śrīkaṇṭha hails from Navanagar (Saurāṣṭra) and was patronised by Śatruśalya the Jam of Navnagar (1569-1608 A. D.). The work is held to have been composed between 1569-1596 A. D. Bhūdeva the author of 'Rasavilāsa' (edited by me and published by the Poona Oriental Book House in 1952) refers to Śrīkaṇṭha as his Guru and it is quite likely that our author might be the same Śrīkaṇṭha. He refers to Śrī Rūpadeva and Pūrṇānanda Kavi as his Gurus. The Pūrvakhaṇḍa opens with an eulogy of Śrī Kṛṣṇa, which suggests that the author was a Vaiṣṇava; this suggestion is also corroborated by the closing verses. He also refers to his father as विष्णुपदारविन्दयुगले भक्तः. As regards the subject matter of his work and the order of treatment followed the author says :—

यद्यस्ति चित्रं सरसं रसज्ञाः, संगीतसाहित्यकलाकलापे ।
नरेन्द्रनीतौ* च तदा मदीया, विलोकनीया रसकौमुदीयम् ॥
साहित्यात् किल भाति भूरि महिमा संगीतमध्ये यतः
साहित्ये निपुणा अपि प्रतिवचो वाक्यं वदन्तीदृशम् ।
सर्वप्राणिसुखावहो रतिरसः संगीतसाहित्ययो
रित्युच्चारणतारतम्यमतयोर्ध्येयं क्रमात्पण्डितैः ॥
संगीतं प्रथमं तस्मात्पूर्वखण्डे निगद्यते ।
साहित्यमुत्तरे खण्डे ग्रन्थस्यास्य क्रमो यतः ॥

After propounding the priority of Saṅgīta over Sāhitya the author goes on to describe Nāda and gives a conventional treatment of Ṣaṭcakra, three Sthānas, Śruti, Svara (Śuddha and Vikṛta), types of musical instruments, Grāma, Murchanā, Śuddha and Kūṭatānas, Prastāra, Varṇa, Alamkāra, the twenty-four Hastas or positions of hands in playing on the Vīṇā, etc. The treatment of these topics is lacking in originality. His treatment of Rāgas is peculiar because he attempts to combine the Northern and Southern systems of Rāga-Ragini and Mela-classification respectively by giving Dhyānas of Mela-Rāgas like Mukhārī, Kannaḍa Gauḍa etc. The author also deals with Prabandha, Tāla and Nṛtya in order to make his work comprehensive of the three aspects of Saṅgīta viz. Gīta, Vādya and Nṛtya.

The author's treatment of Sāhitya is not very important so far as its value in terms of critical discussion and exposition of basic principles is concerned, but it is very rich with the high poetic value of verses given as illustrations. Even the incomplete version of the text that is available at present makes one feel that the great variety of subjects dealt with in the work is sufficient to make it valuable and interesting.

PREM LATA SHARMA

* The reference to नरेन्द्रनीति seems to be rather queer in the context of Saṅgīta and Sāhitya ; but actually the tenth chapter of the work bears the title of Rājanīti and an interesting combination of statecraft or politics and the amorous sports of kings has been presented in this chapter as announced in the opening verse of the chapter :—

यो जानाति समग्रनीतिमखिलां कन्दर्पलीलाकलां
वैदग्धीमधुरां मनाशत(?)युतो नित्यं वदान्योत्तमः ।
नानालङ्कृतिमञ्जुलः सुवदनः संपूर्णवित्तान्वितो
नाट्यं तस्य महीपतेर्वितनुते शोभां परां नान्यथा ॥

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

A CRITICAL NOTE ON NĀNYADEVA'S BHARATA-BHĀṢYA

By

Dr. Prem Lata Sharma Assisted By Sri. R. K. Shringy

The initial approach to this work presents a serious problem of the order of its schemes and contents; therefore, before attempting any critical study of its substance it becomes necessary to restore it to proper order for the sake of a coherent reading.

While preparing the table of contents it was noticed that the subject dealt with in the book were quite haphazardly arranged, as found in the manuscript copy. We have therefore attempted to bring the arrangement to a rational order. Leaving aside the minor variations brought about by us in the arrangement of the folios, it is important to say something about the broad division of the work into chapters made by us. In the Uddeśa-adhyāya the author himself gives a list of chapters and details of contents of each of the seventeen chapters which he proposes to write. But unfortunately the manuscript copy available to us does not conform itself to the original scheme of the author as available to us in the Uddeśa-adhyaya and consequently some of the scholars have tried to re-arrange the work in the light of the author's announcement in the introductory portion.

Hitherto three scholars are known to have attempted at such a division of chapters. The Editor of the Poona catalogue of Sanskrit manuscripts in the Bhandarkar Oriental Research Institute, Shri Kaviji of Madras and Shri Chaitanya Desai have surveyed the work independently and differently divided the same. Of these the division and the study of Shri Chaitanya Desai (Saṅgīta Kalā Vihār Aug. Sept., Nov., & Dec. 1959 and March 1960) is most comprehensive and from the comparative table of chapters given below it will be found that our division mainly agrees with his scheme. But all the same we have brought a few more details to light which will help to place the division in a better perspective.

Regarding the first four chapters there is a no markable difference of opinion. The fifth, sixteenth and seventeenth viz. the Alaṅkāradhyāya, Chandòdhyāya and Bhāṣādhyāya in our opinion are missing. Of these the subject of Alaṅkārās has been found to have been dealt with casually in the Rāgotpatti-adhyāya and the Saptagītikā-dhyāya; the subject matter of the latter is generally brought under the chapter on Tāla in Nāṭya Śāstra and 'Sangīta Ratnākara, whereas Nānyadeva has devoted a separate chapter to this subject. This is probably the reason why such other irrelevant topics as Alaṅkara etc., have crept into it.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

The Editor of the Poona Catalogue as well as Shri Chaitanya Desai have opined that the end of the sixth chapter, that is, the Jāti-addyāya is not to be found in the book; but in our opinion the following reading at Folio No. 63 indicates the end of the Chapter.

'इति नान्यदेवविरचिते भरतभाष्ये जातिकाध्यायः समाप्तः'

The end of the 8th chapter is not available. Therefore the question arises as to wherefrom the Dhruvādhyāya be taken to have begun. Keeping in view the coherence of the subject matter it seems proper to consider the beginning from ध्रुवा च भरतेनोक्ता सर्वगीतिषु निर्मिता। But subsequently some irrelevant matter, obviously belonging to the previous chapter is also found to have been dealt with till the reading ध्रुवाणामधुना सम्यग्रागमाला निगद्यते etc., after which the treatment of the subject becomes more or less coherent. We can therefore take the beginning from folio No. 144 as well.

Shri Chaitanya Desai reads the following verse in the Uddeśa-adhyāya, regarding the tenth chapter as under :—

सर्वमेतदशेषेण ध्रुवाध्याये विधास्यते ॥
ततस्तु दशमेऽध्याये तालाख्ये दर्शयिष्यते ।
भङ्गोपभङ्गयोर्थ तं..... ॥

and has therefore named it as Tālādhyāya. But actually the word "ताल..." is not found in the manuscript copy of the book. However since the chapter contains enough matter on the subject of Tāla he can be said to have reasonably completed the line under reference. It must also be borne in mind that the tenth Chapter also consists much of such matter which has little to do with the treatment of Tālas. But since incoherent arrangement of the subject matter is the very nature of the manuscript copy available to us, this may not be considered as a serious objection and the name Tālādhyāya be reasonably ascribed to this Chapter.

In the Uddeśādhyāya the twelfth chapter is named Tālādhyāya but it actually deals with specifications of various types of Vīṇā. Moreover towards the end of the twelfth chapter the manuscript reads as : ततोऽतोद्याध्यायः चतुर्दशः

This implies that the author has devoted the chapter to Vīṇā. But the fourteenth chapter according to Uddeśādhyāya is named Puṣkarādhyāya. Hence it can be presumed that the above line of the original manuscript has been incorrectly deciphered by the copyist and that it should read as ततोऽतोद्याध्याय द्वादशः Other ancient writers like Bharata, Mataṅga etc., have also devoted a chapter to the treatment of stringed instruments. It is therefore unnecessary to doubt the intention of Nānyadeva, the author to devote this chapter to stringed instruments. Consequently we shall have to take the announcement in the Uddeśādhyāya as dealing with Tāla as spurious.

Now with these remarks we present our table of contents along with the chart showing the broad division of chapters, as indicated above.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

A COMPARATIVE STUDY OF THE DIVISION OF CHAPTERS IN

Uddeśa-Adhyaya (Bharata Bhāṣya)			The Editor Poona Catalogue of Sanskrit Manuscrips			Shri Rama Krishna Kaviji		
Fol. No.	Chap No.	Name of the Chapter	Fol. No.	Chap No.	Name of the Chapter	Fol. No.	Chap No.	Name of the Chapter
	1	Uddeśa-adhyāya	2-5	1	Prathamo-adhyāya	*	1	Svara
	2	Śikṣa-adhyāya	5-8	2	Śikṣādhyāya	...	2	Śruti
	3	Svara-adhyāya (Śruti-adhyāya	8-12	3	Dvitīyaḥ Tritīyaḥ	...	3	Grāma
	4	Mūrcchanā-Adhyāya	12-17	4	Tāna-adhyāya	...	4	Mūrcchāna & Tāla
	5	Alaṅkāra-Adhyāya	17-63	5	Jātikā-adhyāya	...	5	Alaṅkāra (wanting)
	6	Jāti-adhyāya	63-111	6 (VI?)	Ragotpatti-adhyāya	...	6	Jāti
	7	Rāgotpatti-adhyāya	111-116	7	Saptama-adhyāya	...	7	Rāga
	8	Saptagītaka-adhyāya	116-133	8	Gīta-Adhyāya	...	8	Saptagīta
	9	Dhruvā-adhyāya	133-166	9	Mārgāśritānī Gītānī	...	9	Dhruva
	10	Tāla-adhyāya	166-181	10	Deśīgītikā-adhyāya	...	10	Dhruvatāla
	11	Deśika-adhyāya	181-195	11	Tāla-adhyāya caturdaśa	...	11	Deśi Rāga
	12	Tāla-adhyāya	195-201	12	Suṣira-adhyāya	...	12	Vīṇas & Flutes-
	13	Suṣira-adhyāya	201-221	13	Puṣkara-adhyāya	...	13	Mridaṅga
	14	Puṣkara-adhyāya				...	14	Paṇava and Dardura
	15	"				...	15	Missing
	16	Chanda-adhyāya				...	16	Missing
	17	Bhāṣā-adhyāya						

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

THE BHARATA BHĀṢYA OF SHRI NĀNYA DEVA.

Shri Chaitanya Desai (Saṅgīta Kalāvihār—Aug. Sept., Nov, and Dec. 1959 & March 1960.			Research Section College of Music & Fine Arts, Banaras Hindu University			Remarks
Fol. No.	Chap No.	Name of the Chapter	Fol. No.	Chap No.	Name of the Chapter	
2-5	1	Uddeśa Adhyāya	2-5	1	Uddeśa-adhyāya	* He has not given folio numbers.
5-8	2	Śikṣa-adhyāya	5-8	2	Śikṣ-adhyāya	
8-12	3	Śruti-adhyāya	8-12	3	Svara adhyāya or Śrutī adhyāya	
12-17	4	Mūrcchanā-Tāna Adhyāya	12-17	4	Mūrcchanā (Tāna) Adhyāya	
...	5	Alaṅkāra adhyāya (wanting)	...	5	Alaṅkāra adhyāya (wanting)†	† The subject matter of Alaṅkāras is found to have been casually dealt with in the 7th and eighth chapters.
17-77	6	Jāti-adhyāya	17-63	6	Jāti-adhyāya	
77-116	7	Rāga-adhyāya	63-116	7	Rāgotpatti-adhyāya	
116-140	8	Saptagītikā-adhyāya	116-140/144	8	Sapta gītikā-adhyāya	
140-158	9	Dhruvā-adhyāya	140/144-159	9	Dhruvā-adhyāya	
158-166	10	Tāla-adhyāya	159-166	10	Tāla-Adhyāya	
166-181	11	Deśika-adhyāya	166-181	11	Deśika-adhyāya	
181-194	12	Vīṇa-adhyāya ?‡	181-196	12	Tatātodya-adhyāya	‡ The aforesaid article of Sri Chaitanya Desai still remains to be completed.
			196-202	13	Suṣira-adhyāya	
			202-221	14/15	Puṣkara-adhyāya	
			221-223	16	Chanda-Adhyāya (Missing)	
				17	Bhāṣā-adhyāya (Missing)	

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Apart from the arrangement of chapters we propose to give here a very brief general review of the work with special reference to the chapters dealing with Svara, Jāti and Rāga, although it is impossible to do justice to this big and important work in the limited space at our disposal.

Ths author uses eulogising epithets for himself as महासामन्ताधिपतिः, धर्मावलोकः, क्ष्मापालनारायणः, त्रैलोक्यगीतयशः, नृपतिशतमुकुटकोटिनींराजिताङ्घ्रिपीठः, मिथिलाधिपतिः, राजनारायणः etc. and gives several names to his work, which is generally known as 'Bharata.bhāṣya'—such as सरस्वतीहृदयभूषण, सुरागचन्द्रोदय, सरस्वतीहृदयालङ्कार etc. Although the name Bharata-Bhāṣya suggests that the nature of the work might be akin to that of a commentary on Bharata, yet the work is actually an independent treatise on music dealing with two aspects of Saṅgīta viz. Gīta and Vādya, Nṛtya having been omitted.

The author has adopted the nomenclature Śuddha and Vikṛta for two kinds of notes, which is not to be found in the works of Bharata and Mataṅga. He speaks of seven Vikṛta notes—Laghu Ṣaḍja, Laghu Madhyama, Laghu Pañcama, Sādhāraṇa Gāndhāra, Antara Gāndhāra, Kaiśika Niṣāda and Kākalī Niṣāda. The authenitcity of the portion dealing with Vikṛta swaras is doubtful because at one place the above seven names of Vikṛta Swaras are given and at another place again three more notes are spoken of viz. Catuḥśruti Ṛṣabha-Dhaivata and Pañcaśruti Madhyama. Moreover, reference to Niḥśaṅka Sūri (Śārngadeva) in this context adds to the probability of this whole portion being an interpolation as Śārngadeva is decidedly a successor of Nānyadeva.

Nānyadeva refers to three Grāmas as 'Munivacānasiddha' i. e. established on the authority of 'Muni'. Here by 'Muni' he appears to have referred to Nārada and not Bharata who speaks of only two Grāmas Ṣaḍja and Madhyama. (भरतेनालौकिकत्वान्नोपदर्शितः —नान्यदेव ।) Just like all other authors Nānyadeva speaks of the use of Gandhāragrāma in 'Svarga' alone and ascribes the following reason to its not being in vogue among the human beings :—

अतितारातिमन्द्रत्वात् तन्न गायन्ति मानवाः ॥

He emphasises the indispensability of Madhyama in the following terms :—

ग्रामेषु त्रिषु सर्वत्र मध्यमो नैव लुप्यते ॥

His treatment of Jātis follows the model of Bharata ; some details are missing here and there as for instance, the components of Kaiśikī Jāti, the Lakṣaṇa of Aṁśa etc. Some definitions of Bharata are creditably clarified ; for example, Bharata's definition of Nyāsa as अंशसमाप्तौ स चैकविंशतिविधः has been clarified as अंशस्य जातिशरीरस्य समाप्तौ यः स्वरः स न्यासो वेदितव्यः ।.....न्यस्यते प्रयोगोऽनेनेति न्यासः । स तु पादावसानिकः. The most notable point in the chapter dealing with Jātis is the omission, which is most probably deliberate, of the relation of Murchanās with Jātis i. e. he does not ascribe particular Mūrchanās to Jātis.

His Rāga-Adhyāya follows the treatment of Matanga, although it is more detailed than the present text of Bṛhaddeśī dealing with Rāgas.

As has been said in the beginning of this note, the work is full of repetition and confusion in the arrangement of topics. All the same it is of immense value in reconstructing the expositions of Bharata and Matanga which are either available to us in very brief versions or which are partially lost to us on account of serious impairments in the relevant texts. We propose to present in instalments in the next numbers exhaustive notes on the various topics dealt with in this important work.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ॐ

श्री कला सङ्गीत भारती

का० वि० वि०

प्रथम दशकपूर्त्ति समारोह परिशिष्ट

SUPPLEMENT

COLLEGE OF MUSIC & FINE ARTS

B. H. U.

FIRST DECENNIAL CELEBRATIONS

1950-51—1960-61

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

COLLEGE OF MUSIC & FINE ARTS

1959 - 1960

Sitting on Chairs („) 1st row :—SJT. R. B Sontakke, SJT. R. D. Chakravarty, SJT. R B. Singh, SJT. M.V. Thakar, PT. Lal Mani Misra, SJT. Ramlal Mathur,——— ———, DR. Premlata Sharma, His. Excellency, DR. Sukrich Nimmon Heminda (Ambassador for Thailand in India, Guest of Honour), PY. PT. Omkarnathji Thakur, KM. Bijon Bala Ghosh Dastidar, SJT. J. M. Ahiwasi, PT. B. R. Bhatt, KM. N. Rajam, SJT. Kanakrai Trivedi, SJT. K.S. Awadhani.

Sitting on Chairs („) 2nd row :—SJT Sharda Pd. Singh, SJT Diwakar Dwivedi, SJT. Maheshwar Jha, SJT. Babu Lal Jee, SJT. R. K. Shringi, SJT. Ratinath Jha, SJT. C. L. Shriwastawa, SJT. D. Patnaik, SJT. M. V. Krishnan, SJT. Rang Nath Misra, SJT. G. K. Nagar, SJT. Bhagwandas Pandya, SJT. Nageshwar Pd. Misra, SJT. Suk Deo Pd. Bhatta, SJT. S. Nijabodh, SJT. Raj Narain Prasad.

Khaneja Studio, Varanasi.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitization by eGangotri

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्वर-समाधि में लीन
संगीतद्रष्टा पं० ओंकारनाथ ठाकुर

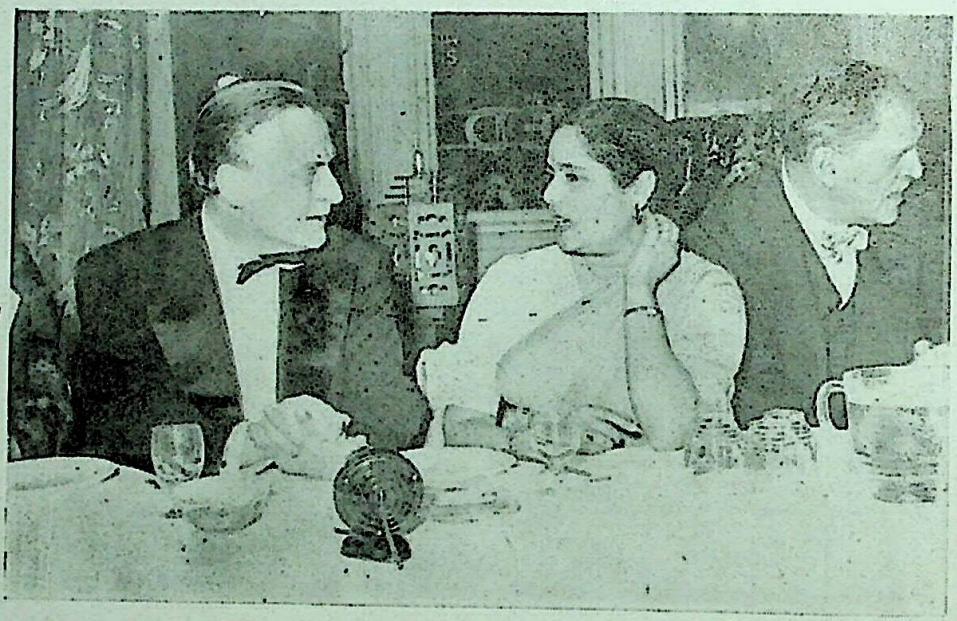

Left to Right—World Famous Violinist Yehudi Menuhin, Mrs. Malti Jain (ex-student, College of Music) and Sir Stewart Wilson, Principal School of Music, Birmingham. (At Annual Dinner of Asian Music Circle at 'Light of Asia').

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ॐ

श्री कला संगीत भारती

प्राध्यापकों तथा कर्मचारियों का संक्षिप्त परिचय

पं० लालमणि मिश्र द्वारा संकलित और संपादित

डा० कु० प्रेमलता शर्मा

एम० ए० (संस्कृत, हिन्दी), पीएच० डी०, शास्त्राचार्य (साहित्य), बी० म्यूज़०

आपका जन्म १० मई सन् १९२७ को जालंधर जिला के नकोदर ग्राम में एक संभ्रान्त ब्राह्मण परिवार में हुआ। आप अपने माता-पिता की एकमात्र संतान हैं। अतएव लाड़ प्यार के साथ-साथ माता पिता से ही आपको संगीत तथा ईश्वर भक्ति के संस्कार भी प्राप्त हुए। आपकी प्रारंभिक शिक्षा घर पर ही हुई। आपने अपनी ११ वर्ष की उम्र में ही पंजाब विश्वविद्यालय से हाई स्कूल की परीक्षा प्राइवेट रूप से उत्तीर्ण कर ली। इस समय तक आपने घर में ही सितार तथा गायन की शिक्षा भी प्राप्त की। इण्टर तथा बी० ए० की परीक्षाएं आपने दिल्ली विश्वविद्यालय से क्रमशः १९४० तथा १९४२ में उत्तीर्ण कीं।

बी० ए० करने के पश्चात् लगभग ७ वर्ष तक पुनः घर में ही रहते हुए आपने बंगला तथा संस्कृत में गौड़ीय-वैष्णव-साहित्य का अध्ययन किया, तथा साथ-साथ गायन, सितार, दिलरुबा और तबला का अध्ययन भी चालू रखा, क्योंकि संगीत सदैव आपका प्रिय विषय रहा है।

सन् १९४९ में आपने लखनऊ के भातखण्डे संगीत विद्यापीठ की "मध्यमा" परीक्षा तथा १९५० में गान्धर्व महाविद्यामण्डल की "संगीत विशारद" परीक्षा कण्ठ संगीत में उत्तीर्ण की; १९५० में ही काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से हिन्दी साहित्य में एम० ए० तथा १९५१ में संस्कृत में एम० ए० किया। आपने सन् १९५० में कला संगीत भारती में कण्ठ संगीत के अध्ययन के लिए प्रवेश किया तथा १९५५ में "संगीतालंकार" (बी० म्यूज़०) परीक्षा उत्तीर्ण की। इसी वर्ष आप काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से "शास्त्राचार्य" (साहित्य) परीक्षा में भी उत्तीर्ण हुईं।

भारतीय रस-शास्त्र तथा गौड़ीय-वैष्णव-दर्शन का विशेष अध्ययन करके आपने १९५४ में शोध-निबन्ध प्रस्तुत किया जो 'श्री रूप गोस्वामी के आधार पर भक्ति-रस का अध्ययन' विषय पर था। फलस्वरूप आपको उसी वर्ष पीएच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई।

वाराणसी आने के पश्चात् आपने जिन श्रेष्ठ गुरुओं से विद्या प्राप्त की वे निम्नलिखित हैं :—

कण्ठ-संगीत :—संगीत मार्तण्ड पं० ओम्कारनाथ ठाकुर तथा पं० बलवन्तराय भट्ट।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संस्कृत :—डा० परशुराम लक्ष्मण (पी० एल०) वैद्य, जिनके निर्देशन में आपने पीएच० डी० का शोध-निबन्ध प्रस्तुत किया । इस कार्य में आपको महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ जी कविराज से भी सहायता प्राप्त हुई । तदतिरिक्त पं० महादेव शास्त्री से संस्कृत साहित्यशास्त्र तथा पं० ब्रह्मदत्तजी, जिज्ञासु से अष्टाध्यायी पद्धति द्वारा व्याकरण का अध्ययन किया ।

विद्यार्थी जीवन में आपने पं० ओम्कारनाथ ठाकुर द्वारा रचित तथा संचालित संगीत-रूपक "कामना" में प्रमुख-पात्र का अभिनय तथा प्रबन्ध आदि विशेष कार्य भी वहन किये । १९५२-५३ में महिला छात्रावास संघ, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की पत्रिका की मुख्य संपादिका रहीं तथा १९५५-५६ में महिला छात्रावास संघ, काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय की अध्यक्षा निर्वाचित हुई ।

आपने रस शास्त्र के एक अप्रकाशित ग्रन्थ, भूदेवशुक्ल के "रस विलास" का संपादन भी किया जिसका प्रकाशन १९५२ में पूना के ओरियन्टल बुक हाउस द्वारा हुआ । आप पं० ओम्कारनाथ ठाकुर के "संगीतांजलि" (छः भाग) तथा "प्रणव-भारती" के लेखन–प्रकाशन में पूरा सहयोग देती रही हैं और उनके भविष्य के प्रकाशनों का महत्वपूर्ण कार्य भी आप कर रहीं हैं ।

आपने संगीत परिषद्, वाराणसी तथा अभिनव कला समाज, इन्दौर, द्वारा आयोजित समारोहों में क्रमशः ध्रुपद तथा ख्याल शैली के गायन का सफल कार्यक्रम प्रस्तुत किया । १९५७ में पं० ओम्कारनाथजी ठाकुर की हीरक जयंती की आयोजना में आपका प्रमुख हाथ रहा ।

१९५४ से विद्यार्थी काल से ही आरम्भ करके आप श्री कला संगीत भारती की विभिन्न समस्याओं के निराकरण में तथा उसकी विकास योजनाओं पर सक्रिय सहयोग देती रही हैं । इस संस्था की पुनर्गठन समिति में आपने सचिव (अनौपचारिक) के रूप में प्रायः दो वर्ष तक महत्त्वपूर्ण कार्य किया (१९५४-५६) । इसी पुनर्गठन समिति की संस्तुतियों से श्री कला संगीत भारती का वर्त्तमान रूप बना । शिक्षकों के अधिक पदों के लिए अनुदान, वेतन-क्रमों का निर्धारण तथा अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य उसी के बाद हुए ।

आप कला संगीत भारती में १९५५ से १९५७ तक लेक्चरर के रूप में तथा १९५७ से थ्योरी तथा रिसर्च के रीडर के रूप में कार्य कर रही हैं । आप सितम्बर १९५७ से स्थानापन्न अध्यक्षा तथा फ़ैकल्टी ऑफ़ म्यूज़िक एण्ड फ़ाइन आर्ट्स की "डीन" भी हैं । आपके संरक्षण में गत तीन-चार वर्षों में शोध-विभाग में जो महत्वपूर्ण कार्य हुआ है, उसके शीघ्र ही प्रकाशित होने की आशा है ।

देश के विभिन्न स्थानों पर विद्वन्मण्डलियों के समक्ष "पेपर"–वाचन द्वारा आपने भरत-सिद्धांत की पुन-स्थापना तथा मध्ययुग से जन्म पाई हुई अनेक भ्रांतियों के निराकरण की दिशा में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किए हैं । उदाहरणस्वरूप आकाशवाणी, दिल्ली द्वारा आयोजित 'सिम्पोज़ियम' में "रागलक्षण" पर तथा म्यूज़िक अकादमी, मद्रास में "भरतोक्त ग्राम-व्यवस्था" पर आपके "पेपर" उल्लेखनीय हैं ।

संस्कृत, अंग्रेज़ी, हिन्दी, बंगला, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं का ज्ञान, भारतीय रसशास्त्र का गहन अध्ययन, पूज्यपाद गुरुदेव पं० ओम्कारनाथ ठाकुर के निरीक्षण में संगीत-शास्त्र के गम्भीर अध्ययन के साथ-साथ संगीत के क्रियात्मक पक्ष का ज्ञान, भरत-प्रतिपादित सिद्धांतों के स्पष्टीकरण में दृढ़ आस्था, सरल तथा रुचिकर अध्यापन-शैली—इन सब विशेषताओं के एकत्र समन्वय के कारण आपकी योग्यता को विरल कहा जा सकता है । अतः कला संगीत भारती में संगीत-शास्त्र के शिक्षण-स्तर को सुदृढ़, समृद्ध तथा गतिशील (dynamic) बनाने में आपका योगदान महत्वपूर्ण है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

डॉ० लालमणि मिश्र

एम० ए० (प्री०) डॉक्टर ऑफ़ म्यूज़िक (वीणा) एम० म्यूज़ (गायन)

वी० म्यूज़० (सितार, तबला) साहित्य रत्न

आपका जन्म सम्वत् १६८० में कानपुर के एक संभ्रांत कान्यकुब्ज ब्राह्मण परिवार में हुआ। आपके बाल्यकाल में ही सन् १९३१ में कानपुर में हिन्दू मुसलिम दंगा हुआ जिसके कारण आपका परिवार विवश होकर कलकत्ता जा बसा। आपके पिता पं० रघुवंशी लाल मिश्र जो कपड़े के व्यापारी थे तथा माता को सात्विक संगीत के प्रति विशेष श्रद्धा थी। जब आप लगभग ८ वर्ष के थे तब आपकी माता को संगीत की शिक्षा देने के लिये एक संगीत अध्यापक नियुक्त हुए। उन्होंने आपके अन्दर संगीत की अपूर्व प्रतिभा देखकर आपको भी शिक्षा देना प्रारंभ कर दिया। पिता को आपकी आश्चर्यजनक प्रगति देखकर अचंभा हुआ, अतएव उन्होंने संगीतज्ञों तथा ज्योतिषियों से परामर्श करके आपके लिये संगीत-शिक्षा की पूर्ण व्यवस्था कर दी।

आपने पं० शंकर भट्ट तथा मुन्शी भृगुनाथलाल की परंपरा में ध्रुवपद धमार की शिक्षा प्राप्त की। पं० राम कृष्ण मिश्र तथा उस्ताद वज़ीर खाँ (रामपुर) के शिष्य उस्ताद मेंहदी हुसेन खाँ से ख्यालगायन की, स्वामी प्रमोदानन्द ब्रह्मचारी से ध्रुवपद, भजन तथा तबला की, श्री शुकदेव राय से सितार तथा उस्ताद अमीर अली खाँ से अन्य वाद्यों की शिक्षा प्राप्त की।

१२ वर्ष की उम्र में ही आप कलकत्ते की शाहनशाही रिकार्डिंग कम्पनी के सहायक संगीत निर्देशक नियुक्त हुये। १४ वर्ष की उम्र तक कलकत्ते में आपने कई फ़िल्मों में काम किया। वहीं आपको आरकेस्ट्रा से विशेष रुचि उत्पन्न हुई।

पिता की मृत्यु के कारण आपको सन् १९४० में अपने नगर कानपुर वापस आ जाना पड़ा। यहाँ आपने बाल संगीत की समस्याओं को सुलझाने की चेष्टा की, कई 'बाल संगीत विद्यालय' स्थापित किये, नवीन दृष्टिकोण से संगीत पाठ्य-क्रमों में सुधार किया, 'आरकेस्ट्रा सोसाइटी' खोली तथा सन् १९४८ में प्रान्त की प्रसिद्ध संस्था 'भारतीय संगीत परिषद्' तथा 'गांधी संगीत महाविद्यालय' की स्थापना की। संगीत के क्षेत्र में अनेक नये अन्वेषण किये। आपकी इसी प्रतिभा से मुग्ध होकर विश्वविख्यात नृत्याचार्य ने आपको निमंत्रित कर अपने दल का संगीत निर्देशक बनाया। आप श्री उदयशंकर के साथ भारत का दौरा तो कर ही चुके हैं, सीलोन, फ्रांस, इङ्गलैंड, बेल्जियम, अमेरिका, कनाडा आदि की यात्रा पर भी जा चुके हैं। सन् १९५५ में आप अखिल भारतीय गान्धर्व महाविद्यालय मण्डल, बम्बई के रजिस्ट्रार नियुक्त हुए, किंतु कानपुर के नागरिकों तथा अधिकारियों के अनुरोध पर एक वर्ष के बाद ही आपको रजिस्ट्रार पद से त्याग-पत्र देकर गांधी संगीत महाविद्यालय के प्रधानाचार्य पद को स्वीकार करना पड़ा। दो वर्ष बाद ही आपकी नियुक्ति कला संगीत भारती में वाद्य संगीत के रीडर के रूप में हो गई जिसे आपने पं० ओमकारनाथ ठाकुर के विशेष आग्रह पर स्वीकार किया। कला संगीत भारती में आपके आ जाने से वाद्य संगीत की शिक्षण-व्यवस्था सुदृढ़ बनी।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अपनी युवावस्था में ही आपने गायन के अतिरिक्त कई वाद्यों में अधिकार प्राप्त कर लिया था जिनमें सितार, सरोद, वायलिन, शंतूर, तबला, हारमोनियम, जलतरंग, काष्ठ तरंग, तबला तरंग, बांसुरी, तथा गिटार आदि प्रमुख हैं। किन्तु आपको इनसे पूर्ण संतोष न हुआ। अतएव सन् १९४७ में पटियाला के उस्ताद अब्दुल अज़ीज़ खाँ साहब से आपने विचित्र-वीणा की प्रविधि का ज्ञान प्राप्त किया और तब से आपका मुख्य वाद्य विचित्र-वीणा ही बन गया है।

आजकल आप भारतीय आरकेस्ट्रा तथा ऑपेरा में नवीन रूपों के साथ उसके विकास की चेष्टाएं कर रहे हैं और "हिन्दू संगीत" के वाद्य-यंत्रों की खोज कर रहे हैं। अब तक आपने तबला वादन पर 'तबला विज्ञान' तथा बच्चों के मनोविज्ञान के आधार पर गायन की पुस्तक "संगीत सरिता" (दो भागों में) प्रकाशित की है। "संगीत सरिता" उत्तर प्रदेशीय सरकार द्वारा वर्नाक्यूलर के ६, ७, ८ वें दर्जे की 'टेक्स्ट बुक' के रूप में स्वीकृत हैं तथा समस्त उत्तर-प्रदेश में इस विषय पर यही पुस्तक स्कूलों में चल रही है।

आपकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि आप क्रिया-कुशल होने के साथ-साथ शास्त्र मर्मज्ञ हैं तथा संगीत के कई विवादास्पद विषयों में आपके अत्यन्त सुलझे हुए विचार हैं। अतः आप देश के उन इने-गिने कलाकारों में हैं जो बड़े-बड़े सेमिनार तथा संगीत-सम्मेलनों में अपने अभिभाषण तथा कलाप्रदर्शन के लिये एक साथ निमंत्रित किये जाते हैं।

पं० जगन्नाथ मुरलीधर अहिवासी

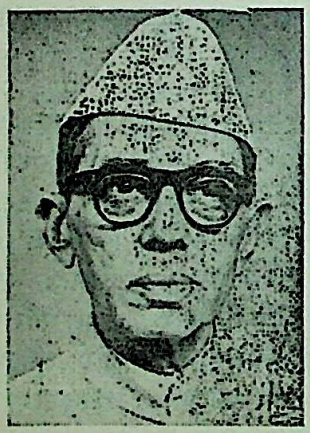

आपका जन्म मथुरा जिले के बल्देव ग्राम में ६ जुलाई सन् १९०१ में हुआ। बचपन से ही आप पर मन्दिर में व्याप्त संगीत तथा कलामय वातावरण का प्रभाव पड़ा। आपकी शिक्षा दीक्षा पोरबन्दर के भावसिंहजी हाई स्कूल में हुई। कला का अध्ययन आपने सन् १९२० तक बम्बई के सर जे० जे० स्कूल आफ़ आर्ट्स में किया। आपका अध्ययन श्री मालदेव राणा तथा बी ई० ग्लैडस्टोस सोलोमन के संरक्षण में हुआ। आपकी प्रतिभा को देखकर उक्त संस्थाचालकों ने आपको अपने यहां ही अध्यापक बना लिया। अतएव १९३० से १९५५ तक आप सर जे० जे० स्कूल ऑफ़ आर्ट्स, बम्बई के प्रमुख शिक्षकों में से रहे। कला के क्षेत्र में आपने अपूर्व सफलता प्राप्त की है। आपकी ख्याति देश भर में फैली हुई है। आपको ब्रज भाषा से अगम्य स्नेह है। आपने पुष्टि-मार्गीय दो कीर्तन-संग्रहों का संशोधन तथा संपादन किया है।

वर्तमान समय में आप कला संगीत भारती के कला विभाग में लेक्चरर के पद पर कार्य कर रहे हैं तथा चित्रकला की शिक्षण-व्यवस्था के सुचारु पुनर्गठिन में आपका कार्य महत्त्वपूर्ण रहा है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पं० बलवंत राय भट्ट

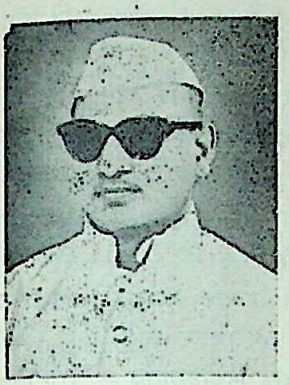

आपका जन्म भावनगर (सौराष्ट्र) में २३ सितम्बर सन् १९२१ में हुआ। बाल्यकाल में ही आपके अन्दर माता से लोक संगीत तथा पिता से काव्य रचना के संस्कार सुदृढ़ होने लगे थे। आपका शिक्षण भावनगर की राष्ट्रीय शिक्षणशाला में प्रारंभ हुआ, किन्तु प्रज्ञा चक्षु हो जाने से आपको आगे की शिक्षा के लिए बम्बई "विक्टोरिया मेमोरियल स्कूल फ़ार द ब्लाइन्ड" में भर्ती होना पड़ा। आपकी प्रारंभिक संगीत शिक्षा "विक्टोरिया मेमोरियल स्कूल" में हुई। उसके बाद संगीत मार्तण्ड पं० ओम्कारनाथ जी ठाकुर के "संगीत निकेतन" में आपने नियमित रूप से संगीत शिक्षा ली। सन् १९३८ से १९५० तक आप पण्डितजी से ही शिक्षा प्राप्त करते रहे, उनके "संगीत निकेतन" से ही आपने "आचार्य" की पदवी प्राप्त की तथा अध्ययन के साथ साथ अध्यापन (टीचर्स ट्रेनिंग) का भी अनुभव प्राप्त किया। पण्डितजी के साथ आपने देश-विदेश का भ्रमण भी किया। आपने संगीत क्षेत्र में असाधारण सफ़लता प्राप्त की। गायन आपका मुख्य विषय रहा, किन्तु हारमोनियम, तबला, इसराज, जलतरंग, मृदंग, मेंडोलिन आदि वाद्यों में भी निपुणता प्राप्त की। आपने समय समय पर वृन्द वादन का निर्माण तथा निर्देशन भी किया है। आप भारत की अनेक संगीत परिषदों में भाग लेते रहे हैं तथा आकाशवाणी के बम्बई, बड़ौदा, इलाहाबाद केन्द्रों से आपके कार्यक्रम प्रसारित होते रहे हैं।

सन् १९४९ में आल इन्डिया म्यूजिक कान्फ्रेंस ट्रस्ट, कलकत्ता द्वारा आयोजित तानसेन विष्णुदिगम्बर प्रतियोगिता में आप विजेता रहे तथा संगीत मार्तण्ड पं० ओम्कारनाथ ठाकुर के नेतृत्व में भारत सरकार द्वारा भेजे गये सांस्कृतिक प्रतिनिधि मण्डल के सदस्य के रूप में आप अफ़ग़ानिस्तान (१९५२) तथा नेपाल (१९५५) गये जहाँ आपके प्रदर्शन पूर्ण सफल रहे।

साहित्य क्षेत्र में आपकी अच्छी गति है। गुजराती, मराठी, हिन्दी, पंजाबी, इंग्लिश, बंगाली आदि भाषाएं आप जानते हैं। आपने काव्य रचना भी की है। काव्य रचना प्रायः गुजराती अथवा हिन्दी में करते हैं। संगीतोपयोगी रचनाएं आप हिन्दी में "भावरंग" उपनाम से करते हैं। अमेरिका के ज्यूइश ब्रेल इन्स्टिट्यूट द्वारा आयोजित प्रज्ञा-चक्षुओं की अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य प्रतियोगिता में गुजराती काव्य पर आपको पुरस्कार मिल चुका है। आपने ब्रेल लिपि में नेत्र-हीनों के लिए हिन्दी, गुजराती, मराठी भाषा के १२५ भजनों व पदों का संग्रह किया है। आप कुछ समय तक गुजरात "ब्लाइन्डमेन्स इन्स्टीट्यूट" के उप प्रधान तथा अहमदाबाद के एक संगीत विद्यालय में प्रधानाचार्य के पद पर रह चुके हैं।

विद्यार्थी जीवन में आप "ब्लाइन्ड स्कूल" के छात्रों द्वारा संचालित "सत्य प्रकाश" नामक साप्ताहिक के सहसम्पादक थे। "विजयरंग" मराठी साप्ताहिक में आप लेख भी लिखते रहे हैं और प्राथमिक कक्षाओं के मराठी के शिक्षक भी रह चुके हैं।

सन् १९५० से आप काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कला संगीत भारती में गायन के लेक्चरर के पद पर कार्य कर रहे हैं तथा गायन शिक्षा को सुदृढ़ रखने में आपका सफल योगदान रहा है। आपके विद्यार्थी अनेक प्रान्तों में अध्यापन कर रहे हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्री माधव वामन ठकार—बी० ए०, संगीत प्रभाकर

आपका जन्म २६ मई सन् १९३० को वेलगांव में हुआ। आप अपने पिता के मझले पुत्र हैं। आपके पिता प्रो० वामन राव ठकार स्व० पं० विष्णुदिगम्बर पलुस्कर के प्रमुख शिष्यों में से हैं। एक कुशल गायक के घर का संगीतमय वातावरण आपके अन्दर बाल्यकाल से ही संगीत के प्रति रुचि उत्पन्न करने के लिये पर्याप्त था। फिर आपके पिता का देश के चोटी पर के गायकों से निकट सम्पर्क रहा जिससे उन सब श्रेष्ठ कलाकारों के संसर्ग का भी आपको पूर्ण लाभ मिला। अतएव आप अपने अन्य भाइयों की भाँति बचपन से ही गायन कला के अभ्यास में रत हो गये। विद्यार्थी जीवन में आपने अखिल भारतीय संगीत प्रतियोगताओं में पूरे दस वर्ष तक बराबर पुरस्कार प्राप्त किये। १९५० में प्रयाग संगीत समिति की संगीत प्रभाकर परीक्षा में आप सर्वप्रथम घोषित किये गए। आपने सन् १९५३ में इलाहाबाद विश्वविद्यालय से बी० ए० की डिग्री प्राप्त की।

विद्यार्थी जीवन से ही आपकी रुचि सामाजिक कार्यों की ओर विशेष रूप से रही जिसके कारण आपका सम्बन्ध निम्नलिखित संस्थाओं से रहा:—

१—अग्रवाल कालेज तथा कायस्थ पाठशाला के संगीत परिषद् के सभापति के रूप में।

२—प्रयाग संगीत समिति छात्र यूनियन के उप मंत्री के रूप में।

३—नाद मंडल, इलाहाबाद के मंत्री के रूप में।

आपके कार्यक्रम सदैव सफल रहते हैं। आप अपने गायन के लिये भिन्न भिन्न संगीत सभाओं द्वारा सदैव आमंत्रित किये जाते हैं। अब आपके कुछ शिष्य भी ऐसे तैयार हो गये हैं जिनके कार्यक्रम आकाशवाणी आदि से होते रहते हैं।

यद्यपि गायन-विद्या आपने अपने पिता से ही प्राप्त की है किन्तु संगीत मार्तण्ड पं० ओम्कारनाथ ठाकुर, संगीत चूड़ामणि पं० विनायकराव पटवर्धन, श्री बा० र० देवघर, श्री डी० वी० पलुस्कर, श्री कुमार गंधर्व प्रभृति गायकों का निकट सम्पर्क तथा सहवास होने के कारण आपकी गायकी में इन सभी गुणियों के कुछ कुछ तत्त्व पाये जाते हैं।

इस समय आप कला संगीत भारती में कण्ठ संगीत के लेक्चरर के रूप में पदस्थ हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्री राज भान सिंह—बी० म्यूज़० संगीत प्रभाकर

आपका जन्म १३ जनवरी सन् १९३० को इलाहाबाद जिला के टेवा ग्राम-निवासी प्रतिष्ठित क्षत्रिय कुल में हुआ। आपके पिता श्री ठाकुर महादेव सिंह जो अब काफी वृद्ध होने के कारण क्रियात्मक संगीत से लगभग विरक्त हो गए हैं, अपने समय के प्रसिद्ध सितार वादक थे। अतएव आपको बाल्यकाल से ही संगीतमय वातावरण मिला। सितार वादन की प्रारंभिक शिक्षा आपको अपने पिता से ही प्राप्त हुई। बचपन में ही आपमें एक होनहार कलाकार के लक्षण दिखाई पड़ने लगे थे। आपने अपने बाल्यकाल में ही कई अखिल भारतीय संगीत प्रतियोगिताओं में पुरस्कार प्राप्त किया। आपने कुछ समय तक इलाहाबाद के श्री बेनी प्रसाद श्रीवास्तव से भी शिक्षा प्राप्त की। उच्च शिक्षा के लिये आपने ग्वालियर के श्री शिवराम रामचन्द्र मावलंकर को अपना गुरु बनाया।

आप कई वर्ष तक आकाशवाणी, इलाहाबाद में सितार वादक के रूप में कार्य करते रहे जहां आपने समय समय पर कई वृन्द वादन का निर्माण तथा निर्देशन भी किया। संगीत शिक्षक के नाते आपका कई शैक्षणिक संस्थाओं से भी सम्बन्ध रहा जिनमें मुख्य हैं—एनीबेसेन्ट स्कूल इलाहाबाद, प्रयाग महिला विद्यापीठ, लूकर गंज संगीत विद्यालय आदि।

ख्यातनामा कलाकार के रूप में भी आप सदैव विभिन्न स्थानों पर निमंत्रित किए जाते हैं। अब तक आपको कलकत्ता, झांसी, जबलपुर, कानपुर, एलाहाबाद आदि नगरों के संगीत सम्मेलनों में बुलाया जाता रहा है।

वर्तमान समय में आप कला संगीत भारती में सितार के लेक्चरर के रूप में पदस्थ हैं।

कु० नारायण राजम् बी० ए०

आपका जन्म सन् १९३६ में दक्षिण भारतीय एक ऐसे कुल में हुआ जिसका प्रत्येक सदस्य संगीत साधना में ही जीवन व्यतीत करता रहा है। आपके पिता श्री नारायण अय्यर तथा आपके भाई सभी संगीत क्षेत्र के माने हुए विद्वान् हैं। अतएव आपका भी संगीताभ्यास ५ वर्ष की अवस्था से ही प्रारंभ हो गया। आपको विद्या की प्राप्ति के लिए कहीं बाहर भटकना नहीं पड़ा। आप यद्यपि दक्षिण तथा उत्तर हिन्दुस्तानी दोनों संगीत पद्धतियों से भली भांति परिचित हैं किंतु आपकी विशेष रुचि उत्तर हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति की ओर ही है। आपको अबतक अनेक पुरस्कार प्राप्त हो चुके हैं जिनमें राष्ट्रपति स्वर्ण पदक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय म्यूजिक एसोसियेशन का पदक, मद्रास अकादमी का पदक आदि मुख्य है। आपने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से बी० ए० की डिग्री प्राप्त की है तथा 'मेरिट लिस्ट' में आपने द्वितीय स्थान प्राप्त किया है। वायलिन-वादन में आप गायकी अंग को बरतती हैं। आपकी तैयारी, सफ़ाई तथा स्वर का खरापन निश्चय ही प्रशंसनीय है। संगीत की उच्च शिक्षा की लालसा से आपने संगीत मार्तण्ड पं० ओम्कारनाथ ठाकुर को अपना गुरु बनाया है। पूज्य पण्डितजी के गायन के कार्यक्रमों में आपने अनेकों बार देश के भिन्न भिन्न स्थानों पर सफल संगत की है। 'सोलो' वादन के लिए भी आप अनेक संगीत समारोहों में आमंत्रित होती हैं। आकाशवाणी में भी आपके कार्यक्रम प्रायः प्रसारित होते हैं।

आजकल आप कला संगीत भारती में वायलिन-लेक्चरर के रूप में कार्य कर रही हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्री कनक राय शंकर लाल त्रिवेदी—संगीत प्रभाकर

आपका जन्म गुजरात के पंचमहाल ज़िले में स्थित लुनावाडा कस्बे के मध्यमवर्गीय नागर ब्राह्मण के घर २१ मई, सन् १९२८ को हुआ। बाल्य काल से ही आपकी आंखें ख़राब रहीं। डेढ़ वर्ष की उम्र में आपकी आंखों का आपरेशन हुआ, किंतु विशेष लाभ न हुआ। अतएव शिक्षा दीक्षा के लिये आपको बम्बई विक्टोरिया मेमोरियल अंधशाला में जाना पड़ा। वहां आपने अन्य विषयों के साथ संगीत में गायन, दिलरुबा आदि की शिक्षा भी प्राप्त की। आपने संगीत कला के अतिरिक्त अन्य व्यावहारिक कलाओं का भी अभ्यास किया। इसी समय आपकी आंख का पुनः आपरेशन हुआ जिससे कुछ लाभ हुआ।

सन् १९४७ में श्री बलवंतराय भट्ट के द्वारा आप पं० ओम्कारनाथ ठाकुर की शरण में पहुंचे। पंडितजी ने कृपा पूर्वक आपको अपना शिष्य बना लिया। इसके बाद आपने श्री बलवंतराय भट्ट तथा पंडितजी से संगीत की विधिवत् शिक्षा प्राप्त की। आपने पंडितजी के साथ अनेक संगीत सम्मेलनों में भाग लिया है। आपके कार्यक्रम आकाशवाणी के बम्बई, बड़ौदा आदि केन्द्रों से प्रसारित हो चुके हैं। आपने सन् १९५८ में प्रयाग संगीत समिति से संगीत प्रभाकर की डिग्री प्राप्त की। पिछले ९ वर्षों से आप कला संगीत भारती में गायन के इन्स्ट्रक्टर के पद पर काम कर रहे हैं।

श्री एम० वी० कृष्णन्

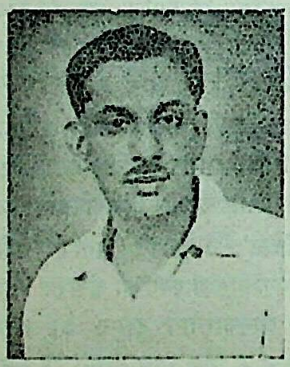

आपका जन्म केरल प्रांत के त्रिवेन्द्रम नगर में १५ अप्रैल १९२६ को हुआ। बाल्यावस्था से ही आपके अन्दर कला की आभा प्रस्फुटित हुई। आपकी विशेष रुचि के अनुसार त्रिवेन्द्रम के हिज़-हाइनेस महाराज स्कूल ऑफ़ आर्ट्स में आपने मूर्ति—कला में डिप्लोमा प्राप्त किया। भारतीय चित्र-कला के ख्यातनामा कलाकार श्री के० माधव मेनन आपके गुरु थे। सन १९४७ में आपको मद्रास सरकार की ओर से ७५ रु० प्रतिमास की स्कालरशिप मूर्ति—कला के विशेष अध्ययन के लिये मिली। सन् १९५० से आप कला संगीत भारती के कला विभाग में मूर्ति कला के रूप में कार्य कर रहे हैं।

आपके लेख तथा मूर्तियों के चित्र विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते हैं। आपको सन् १९४९—५० में मद्रास की स्वदेशी प्रदर्शनी में मूर्ति कला पर पुरस्कार प्राप्त हो चुका है तथा फ्रांस सरकार की ओर से सन् १९३५ में आपको एक पदक प्राप्त हो चुका है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्री राजाभाऊ सोनटक्के (एम० म्यूज़०)

नागपुर के एक भक्त, संगीत प्रेमी मध्यम वर्गीय महाराष्ट्रीय परिवार में आपका जन्म २३ नवम्बर सन् १९२८ को हुआ। संगीत की ओर रुचि बाल्यकाल से ही उत्पन्न हो गई थी। संगीत शिक्षा के लिये परिवार से प्रोत्साहन भी मिला। संगीत की प्रारंभिक शिक्षा नागपुर में ही शामराव जी के पास हुई। इनसे आपने कण्ठ संगीत, वायलिन–वादन तथा तबला की शिक्षा प्राप्त की। आप शिक्षा और संगीत दोनों ओर प्रगति कर रहे थे कि १२ वर्ष की उम्र में एक दिन खेलते खेलते अचानक कुछ धक्का सा लगा और आपकी आंखों की रोशनी अत्यंत मंद पड़ गई जिसके कारण आपकी शैक्षणिक प्रगति अवरुद्ध हो गई।

सन् १९४८ में आपको पं० ओंकारनाथ ठाकुर के सम्पर्क में आने का तथा संगीत सीखने का सुअवसर प्राप्त हुआ। सन् १९५६ तक आप पंडितजी से विद्या-लाभ करते रहे। आपने सन् १९५५ में संगीत कला भारती से बी० म्यूज़० की डिग्री प्राप्त की। तत्पश्चात् सन् १९५६ में प्रयाग संगीत समिति से वायलिन में बी० म्यूज़० किया और सन् १९५८ में प्रयाग संगीत समिति से कंठ संगीत में एम० म्यूज़० की डिग्री प्राप्त की।

आपको मंच प्रदर्शन के अनेक अवसर प्राप्त हुए हैं जिनमें आप पूर्ण सफल रहे हैं। आप आकाशवाणी के अनेक केन्द्रों से अपना कार्यक्रम प्रसारित कर चुके हैं। आजकल आपका कार्यक्रम आकाशवाणी के इलाहाबाद केन्द्र से प्रसारित होता है।

अध्यापन का अवसर आपको युवावस्था से ही प्राप्त होने लगा था। लगभग चार वर्ष आपने नागपुर में अध्यापन कार्य किया। उसके बाद से आप कला संगीत भारती में नियुक्त हुए। वर्तमान समय में आप कला संगीत भारती में इन्स्ट्रक्टर के रूप में गायन तथा वायलिन की शिक्षा दे रहे हैं।

श्री दुर्गाप्रसाद पटनायक

आपका जन्म उड़ीसा प्रांत के पुरी जिले के अंतर्गत खुर्दा नामक ग्राम में श्री पद्म चरण पटनायक के पुत्ररूप में अप्रैल सन् १९१८ में हुआ। पारिवारिक प्रोत्साहन न मिलने पर भी आपके अन्दर कला अपने अत्यन्त सरस एवं सरल रूप से विकास पाती रही। आप एक उच्च कोटि के चित्रकार तो हैं ही साथ ही आपकी साहित्य साधना भी अपूर्व है। आपने कलकत्ता के इन्डियन आर्ट स्कूल में १९३७ से १९४३ तक अध्ययन कर चित्र कला में डिप्लोमा प्राप्त किया। तथा कलकत्ता विश्वविद्यालय से आपने टीचर्स ट्रेनिंग की परीक्षा भी उत्तीर्ण की।

साहित्य रचना में आपको "बालकथा" पर भारत सरकार से तथा उपन्यास और कविताओं पर उड़ीसा सरकार से पुरस्कार प्राप्त हो चुके हैं। आपको मंच के कार्यों में भी विशेष रुचि है। आपने कई नाटकों में अभिनय किया है तथा निर्देशन भी दिया है। आप 'विकास'

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नामक पत्रिका के संपादक भी रहे हैं। आपने 'कुस्ठी' नामक संस्था चलाई और मंत्री के रूप में आपने ६ वर्षों तक कार्य किया।

आजकल आप कला संगीत भारती के कला विभाग में इन्स्ट्रक्टर के रूप में कार्य कर रहे हैं।

श्री के० एस० अवधानी—एम०म्यूज़०

आपका जन्म आन्ध्र प्रदेश के जिला मंडापेट में एक विद्वान् ब्राह्मण कुल में दिनांक ४ मई १९२० को हुआ। आपके पिता तथा पितामह राजा पिढ़पुर के राजपंडित थे। उक्त राज दरबार से ही आपके पूर्वजों को शतावधानी तथा अष्टावधानी की पदवी प्राप्त हुई थी।

संगीत की ओर आपकी रुचि बचपन से ही थी। इसलिये आपका संगीत अध्ययन भी बाल्यकाल से ही प्रारंभ हो गया।

सर्व प्रथम कुछ दिनों तक आपको खाँ साहब अब्दुल करीम खां से तालीम मिली। फिर उसके बाद संगीत चूड़ामणि पं० विनायकराव पटवर्धन के पास पहुंचकर आपका संगीत का शिक्षण कार्य पूरा हुआ।

उत्तर प्रदेश के फैजाबाद नगर में आप कई वर्षों तक रहे। वहां आपने संगीत प्रचार का अच्छा कार्य किया। अवध संगीत विद्यालय तथा ओंकार संगीत महाविद्यालय, फैजाबाद, के आप प्रधानाचार्य भी रहे।

आपने कई बार आकाशवाणी से अपने कार्यक्रम प्रसारित किये हैं तथा अनेक संगीत परिषदों में अपनी कला का सफल प्रदर्शन किया है।

आजकल आप कला संगीत भारती में गायन विभाग के इन्स्ट्रक्टर के रूप में कार्य कर रहे है।

श्री आर० डी० चक्रवर्ती—एम० ए०, बी० म्यूज़०

आपका जन्म २६ मई, १९३३ में काशी नगरी के एक भद्र बंगाली परिवार में हुआ। यद्यपि आपको प्रतिभा का विकास बाल्य काल से नहीं हुआ और न आपको बचपन में संगीतमय वातावरण की ही उपलब्धि हुई, किन्तु जब आप पढ़ते पढ़ते हाई स्कूल तक पहुंचे तो उस समय आपने सितार की शिक्षा अन्य विषयों के साथ एक विषय के रूप में प्रारंभ की। आपके शिक्षक थे श्री अमियगोपाल भट्टाचार्य जिनको प्रसिद्ध सितारिये मुश्ताक़ अली के पिता मरहूम आशिष अली से सितार की पूरी तालीम हासिल हुई है। अतएव श्री भट्टाचार्य ने आपके अन्दर छिपी हुई शक्ति को पहचान लिया और अच्छी प्रकार तालीम देना प्रारंभ किया। कुछ ही दिनों में आपका यह विषय अत्यंत प्रिय बन गया और आप प्रगति के पथ पर अग्रसर होते गये।

आजकल आपके कार्यक्रम आकाशवाणी से भी होते हैं तथा आप संगीत सम्मेलनों में भी निमंत्रित किये जाते हैं।

वर्तमान समय में आप कला संगीत भारती में वाद्य संगीत के इन्स्ट्रक्टर के पद पर कार्य कर रहे हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्री सी० एल० श्रीवास्तव—०बी० म्यूज़०

आपका जन्म ७ अगस्त, सन् १९३६ को उत्तर प्रदेश के फ़तेहपुर ज़िले में हुआ। आपके माता पिता को संगीत अत्यंत रुचिकर था। किन्तु आपके बाल्यकाल में ही उनकी मृत्यु हो जाने से आपको अपने बड़े भाई के आश्रित रहना पड़ा। अपने बड़े भाई के साथ साथ आप अम्बाला गये। वहीं पर आप को संगीत की शिक्षा का प्रथम अवसर प्राप्त हुआ। आपके बांसुरी के सर्वप्रथम गुरु मास्टर हरीरामजी थे। कुछ दिनों के पश्चात् आपने स्वामी बादलगिरि के शिष्य श्री जगन्नाथ महेन्द्रे से सितार भी सीखना प्रारंभ किया।

अम्बाला में आपने एक संगीत विद्यालय भी खोला तथा कई वर्षों तक आप पंजाब के भिन्न भिन्न नगरों में अपने कार्यक्रम प्रस्तुत करते रहे। किंतु जब आपके बड़े भाई की भी मृत्यु हो गई तब आप निराश्रित होकर अपने एक निकट रिश्तेदार के यहां दिल्ली चले आये। दिल्ली में आपको पहले पं० रविशंकर, फिर पं० उमाशंकर से सितार की तालीम प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। किंतु दिल्ली भी आप अधिक दिनों तक न ठहर सके। अपना सहारा ढूंढ़ते हुये आप कानपुर पहुंचे। कानपुर में आपने पं० लालमणि मिश्र से सितार, बांसुरी और तबला की शिक्षा प्राप्त की। कानपुर में आपने गांधी संगीत महाविद्यालय में कुछ वर्षों तक कार्य भी किया। वर्तमान समय में आप कला संगीत भारती में बांसुरी के इन्स्ट्रक्टर हैं।

श्री गोपी कृष्ण नागर—एम० म्यूज़०

आपका जन्म वाराणसी के एक गुजराती सुसम्पन्न परिवार में ३१ जुलाई, सन् १९३४ को हुआ। आपके परिवार में संगीत-श्रवण की रुचि विशेष थी। अतएव बाल्यकाल से ही आपको संगीत सुनने का अच्छा अवसर प्राप्त हुआ। इस प्रकार आपकी रुचि का परिष्कार होता रहा। किंतु जब आपने एक संगीत सम्मेलन में संगीत चूड़ामणि पं० वि० ना० पटवर्धन तथा संगीत मार्तण्ड पं० ओंकारनाथ ठाकुर का गायन सुना तो आपके अन्दर संगीत सीखने की उत्कृष्ट इच्छा जागृत हो गई। कुछ वर्षों के बाद काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में कला संगीत भारती की स्थापना हुई। आपके लिये यह अच्छा अवसर था। अतएव आपने इस महाविद्यालय में सर्व प्रथम अपना नाम दर्ज करवाया। इस प्रकार आप कला संगीत भारती के सर्व प्रथम छात्र हैं। आपने यहीं से बी० म्यूज़० की उपाधि प्राप्त की। तत्पश्चात् आपने प्रयाग संगीत समिति से एम ०म्यूज़० की भी उपाधि प्राप्त की। आपने एलाहाबाद की एक विशेष संगीत प्रतियोगिता में द्वितीय स्थान प्राप्त किया। गत कुछ महीनों से आपका कार्यक्रम आकाशवाणी से भी प्रसारित होने लगा है।

वर्तमान समय में आप कला संगीत भारती में अस्थायी इन्स्ट्रक्टर (गायन) के रूप में कार्य कर रहे हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्री बिपिन चन्द्र मालवीय—बी० ए० संगीत प्रभाकर

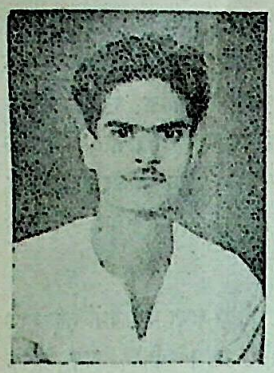

आपका जन्म इलाहाबाद के एक संभ्रांत मालवीय परिवार में माघ पूर्णिमा के दिन सन् १९३५ में हुआ। आपके माता पिता को संगीत से अत्यधिक रुचि थी। आपके बड़े भाई श्री रामजी मालवीय तथा श्री रमेशचन्द्र मालवीय तो संगीतज्ञ ही हैं। अतएव आपके हृदय में बाल्यकाल से ही संगीत के प्रति रुचि उत्पन्न हो गई।

तबले में आपकी रुचि विशेष थी, परिणाम स्वरूप अपने बड़े भाई से ही आपको तबले की प्राथमिक शिक्षा मिली। तत्पश्चात् लखनऊ के तबला-मर्मज्ञ श्री जगदीश नारायण चौबे से तबला की उच्च शिक्षा प्राप्त हुई। आपने प्रयाग विश्वविद्यालय से बी० ए० तथा सन् १९५७ में प्रयाग संगीत समिति से संगीत प्रभाकर की परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। आप अब तक संगीत कला भारती, प्रयाग, डा० के० एन० काटजू हायर सेकेन्डरी स्कूल प्रयाग तथा श्री सरस्वती संगीत विद्यालय प्रयाग में अध्यापन का कार्य कर चुके हैं।

आप अनेक संगीत प्रतियोगिताओं तथा अंतःप्रांतीय विश्वविद्यालय युवक समारोह में सफलता प्राप्त कर चुके हैं। वर्तमान समय में संगीत भारती में तबला विषय के अस्थायी इन्स्ट्रक्टर के रूप में कार्य कर रहे हैं।

श्री रवीन्द्र कुमार शृंगी—बी० ए० (ऑनर्स), एम० ए०

आपका जन्म हैदराबाद (सिन्ध) के एक सुशिक्षित परिवार में १७ नवंबर, सन् १९३० को हुआ। आपका पारिवारिक वातावरण भारतीय संस्कृति के गुणों का प्रतीक है। अतएव भारतीय साहित्य, संस्कृति और सभ्यता के प्रति श्रद्धा और प्रेम के साथ-साथ विकासोन्मुख नवीन दृष्टि का अपूर्व समन्वय आपके स्वभाव में पाया जाता है।

आपने दिल्ली विश्वविद्यालय से बी० ए० (ऑनर्स) तथा एम० ए० की उपाधियां प्राप्त कीं; अध्ययन काल में ही एक वर्ष अपने कालेज की पत्रिका 'इन्द्रप्रस्थ' के संस्कृत विभाग का संपादन-कार्य किया। आपने कुछ समय तक एक डिग्री कालेज में संस्कृत और हिन्दी का अध्यापन कार्य भी किया है। आजकल आप कला संगीत भारती के शोध विभाग में संगीत के प्राचीन ग्रंथों की गुत्थियों के सुलझाने का कार्य कर रहे हैं।

श्री वैजनाथ प्रसाद गुप्त

आप की जन्म-तिथि २३ दिसंबर, १९३८ है। आप सितम्बर १९६० से चित्रकला के अस्थायी इंस्ट्रक्टर के रूप में कार्य कर रहे हैं। आप कला संगीत भारती के ही भूतपूर्व छात्र हैं; इसी संस्था से आपने १९५८ तथा १९६० में क्रमशः जूनियर तथा सीनियर डिप्लोमा परीक्षाएं उत्तीर्ण कीं। १९५८ में ही आपने बम्बई राज्य की ड्राइंग परीक्षा (ग्रेड ए) भी उत्तीर्ण की तथा १९५५ में हाई स्कूल 'सर्टिफिकेट' प्राप्त किया।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्री शुकदेव भट्ट—एम० म्यूज़०

आपका जन्म ५ मार्च सन् १९२४ को सारन जिला के पञ्चबेनियां गांव में हुआ। आप के पिता भगवद्भक्त तथा ब्रजभाषा के कवि थे। आपकी माताजी स्वयं भजन कीर्तन करती थीं और आप से भी करातीं थीं। इसी प्रकार आपके अन्दर शास्त्रीय संगीत के ज्ञान की रुचि जागृत हुई। पिता की मृत्यु के कारण आपकी शिक्षा में बाधा उपस्थित हुई, किन्तु आप में लगन अपूर्व थी। अतएव आपने सन् १९३७ से ४१ तक काशी के प्रसिद्ध वयोवृद्ध गायक पं० रामदासजी मिश्र से कण्ठ-संगीत की शिक्षा प्राप्त की। तत्पश्चात् १९५२ से ५६ तक कला संगीत भारती में श्री बलवन्तराय भट्ट तथा संगीतमार्तण्ड पं० ओमकारनाथ ठाकुर से कण्ठ-संगीत की शिक्षा प्राप्त की। श्री अनोखेलाल से आपने प्रारम्भिक तबला की शिक्षा भी ग्रहण की। आपने कण्ठ संगीत में कला संगीत भारती से बी० म्यूज़० तथा प्रयाग संगीत समिति से एम० म्यूज़० की उपाधियां प्राप्त कीं।

पहले आप कला संगीत भारती में अस्थायी इन्स्ट्रक्टर नियुक्त हुये किन्तु उसके बाद आप थियोसाफिकल सोसाइटी में अध्यापक होकर चले गये। आजकल आप कला संगीत भारती में तबला के संगतकार के रूप में कार्य कर रहे हैं।

श्री नागेश्वर प्रसाद मिश्र (पांचू महाराज) बी० म्यूज़०

आपका जन्म १ जनवरी, १९२८ को वाराणसी के एक मिश्र परिवार में हुआ। वाराणसी के ख्यातनामा तबला वादक स्व० श्री भैरोजी तथा स्व० श्री मौलवीरामजी आपके चाचा थे। आपको तबला वादन की तालीम अपने उक्त दोनों चाचा से प्राप्त हुई। उसके बाद आप श्री अनोखे लाल के साथ अभ्यास करते रहे। युवावस्था में ही आप तबला वादन के कुशल कलाकार बन चुके थे। कई तबला-वादकों के जोड़ पर आपने अपनी कला का प्रदर्शन किया है तथा भारत के प्रायः सभी श्रेष्ठ संगीतज्ञों की संगत की है।

आपका स्वभाव सरल तथा गुणग्राही है। रियाज़ पर आप बहुत विश्वास करते हैं। अब तक आप अनेक संगीत सम्मेलनों में आमंत्रित किये गये हैं। आप अपना कार्यक्रम आकाशवाणी से भी प्रसारित कर चुके हैं। सन् १९५९ में आपने प्रयाग संगीत समिति से संगीत प्रभाकर की परीक्षा प्रथम श्रेणी में प्राप्त की तथा स्वर्ण पदक जीता।

वर्तमान समय में आप कला संगीत भारती में तबला-संगतकार के रूप में कार्य कर रहे हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्री बाबूलाल—बी० म्यूज़०

आपका जन्म मथुरा के एक तालज्ञ के घर में १ अप्रैल सन् १९२८ को हुआ। आपके पिता स्व० श्री मक्खनजी पखावज के अच्छे वादक थे। अतएव आपका लालन पालन लय और ताल के हिन्डोले में ही हुआ। आपने पखावज की शिक्षा अपने पिता से तथा आपके पिता के नामराशि देश के प्रसिद्ध पखावज वादक स्व० श्री मक्खनजी से प्राप्त की है। आपने पखावज के साथ साथ तबला का भी अच्छा अभ्यास किया है। आपने अखिल भारतीय गान्धर्व महाविद्यालय मण्डल बम्बई से बी० म्यूज़ की उपाधि प्राप्त की है। बाल्यकाल में आपको संगीत प्रतियोगिताओं से अनेक पुरस्कार प्राप्त हों चुके हैं। आप मृदंग-वादन के लिये कई संगीत सम्मेलनों में आमंत्रित किये जाते रहे हैं। आप आकाशवाणी से भी मृदंग वादन के कार्यक्रम प्रसारित कर चुके हैं।

वर्तमान समय में आप कला संगीत भारती में तबला तथा पखावज के संगतकार के रूप में कार्य कर रहे हैं।

श्री भगवानजी पंड्या

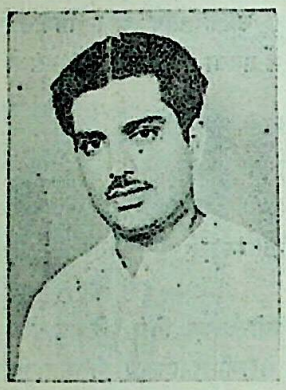

आपका जन्म वाराणसी के एक मध्यम वर्गीय गुजराती परिवार में १ जुलाई सन् १९३७ में हुआ। आपको तबले की शिक्षा ८ वर्ष तक श्री सीतारामजी से प्राप्त हुई। इसके बाद आपने श्री मन्नूजी मृदंगाचार्य से मृदंग की शिक्षा प्राप्त की। मद्रास जाकर एक वर्ष तक श्री एस० वी० एस० नारायणम् से कर्णाटकीय पद्धति के अनुसार मृदंगम् की भी शिक्षा प्राप्त की है।

वर्तमान समय में आप कला संगीत भारती तबला-संगतकार के अस्थायी पद पर कार्य कर रहे हैं।

श्री राजनारायण प्रसाद
'सीनियर' क्लर्क

पं० माहेश्वर झा व्याकरणाचार्य
शास्त्राचार्य (साहित्य) कर्मचारी शोधविभाग

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

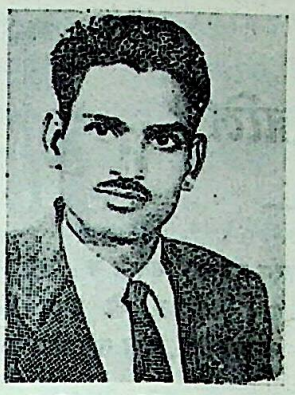

श्री दिवाकर द्विवेदी
'क्लर्क'

श्री शारदा प्रसाद सिंह
'स्टोर क्लर्क'

श्री एस. निजबोध—टाइपिस्ट शोध-विभाग तथा श्री जगन्नाथ मिस्त्री, प्रस्तर शिल्पी, कला विभाग, के चित्र प्रकाशित नहीं किये जा सके हैं।

चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारियों के नाम—सर्वश्री रूपचन्द, रामखेलावन, रामप्रसाद, दूधनाथ, पाँचूराम, महातम मिश्र, भोलाप्रसाद, बाबूनन्दन।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्रद्धा कुसुमाञ्जलि

—डॉ० प्रेमलता शर्मा—

(श्री कला संगीत भारती को अपने परिवार के एक परम माननीय सदस्य के चिर वियोग का मर्मान्तक आघात १४ फ़रवरी, १९५९ को सहना पड़ा था। स्व० श्री रामकृष्ण ल० पर्वतकर की प्रथम वार्षिक पुण्य तिथि पर विद्यालय में १४, फरवरी, १९६० को जो श्रद्धाञ्जलि अर्पित की गई थी, वही यहां प्रकाशित की जा रही है।

संपादक)

[आज ताल—लय के अनुपम साधक और सिद्ध, कलाकार-प्रवर श्री रामकृष्ण ल० पर्वतकर की प्रथम पुण्य-तिथि है। वे हमारे श्री कला संगीत भारती के विशाल परिवार के नितान्त आत्मीय, परम प्रीति-भाजन तथा विशेष समादर-पात्र सदस्य थे। इस पावन अवसर पर उनके पुण्य स्मरण में हम सबकी ओर से कतिपय वाक्य-कुसुमों द्वारा श्रद्धांजलि अर्पित की जा रही है।]

१-भारतीय संगीत जगत् के लयाकाश में वह कौन सा नक्षत्र उदित हुआ था, जिसके उदयाचल और उदय-काल की खोज की किसी ने अपेक्षा नहीं रखी, कि जिसकी आभा, इस युग के, प्रदर्शन-कौशल के प्रचण्ड आलोक में, किसी के दृष्टिगोचर नहीं हुई? वह कौन सा महान् कलाकार था, जो माता शारदा का वरद-पुत्र होते हुए भी लक्ष्मी का कोप-भाजन, और कीर्ति का उपेक्षा-पात्र था?

२ वह और कहीं नहीं, कल तक हमारे ही बीच में तो थे—श्री रामकृष्ण पर्वतकर जिनके जीवन में अंग्रेज़ी के एक कवि की सुप्रसिद्ध पंक्तियां पूर्ण चरितार्थ थीं?

Full many a gem of purest ray serene,
The dark unfathom'd caves of ocean bear,
Full many a flower is born to blush unseen,
And waste its Sweetness on the desert air.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

३—गोमान्तक अथवा गोआ-प्रदेश के "पर्वत" नामक छोटे से ग्राम में उनका जन्म हुआ। उनकी कला-साधना भी तो पर्वत-शिखर के ही सदृश उच्च और सुदृढ़ थी।

४—जन्म से ही वे संगीतमय वातावरण में पले। कई पीढ़ियों से उनके वंश में संगीत की साधना, मुख्यतः तबला-वादन की कला की अखण्ड धारा प्रवाहित थी। अतः स्वर के प्रबल संस्कार उन्हें जन्मतः प्राप्त थे। लय-ताल की विद्या तो उन्हें सीधे अपने पिता से ही विरासत में मिली थी।

१—उनके पिता श्री लक्ष्मणराव पर्वतकर, उर्फ़ खापुरजी मामा की लय-सिद्धियाँ वर्णनातीत थीं। तत्कालीन संगीतज्ञों में उनका विशेष समादर था। संगीतोद्धारक परम गुरुदेव पं० विष्णुदिगम्बरजी के वे प्रिय और मान्य थे। हमारे पूज्यपाद गुरुदेव पं० ओंकारनाथजी उन्हें लय-योगी ही कहा करते हैं। स्व० उस्ताद अल्लादिया खां ने उन्हें 'लय भास्कर' की उपाधि दी थी।

२—श्री खापुरजी मामा के चमत्कारों के एक दो उदाहरण कहूं—एक मात्रा के चौंसठवें भाग को पृथक् कर दिखाना अथवा तबले पर किसी टेढ़ी लय में कोई बोल बजाने के साथ-साथ उसी ताल में अथवा किसी दूसरे ताल में कोई भिन्न लय का बोल मुंह से बोलना, इत्यादि सिद्धियाँ उन्हें सहज-साध्य थीं।

३—हमारे श्री रामकृष्ण पर्वतकर को भी ऐसे अनेक चमत्कार साध्य थे। उनकी विकट लयकारियों में १६ मात्राओं में ७,९,११,१३,१४,१५,१७ इत्यादि संख्या की मात्राओं का संतुलित समावेश विशेष रूप से स्मरणीय है। इन्हीं लयकारियों को वे तबले पर बजा भी सकते थे। अर्थात् त्रिताल में रूपक, झपताल, आड़ाचौताल, सवारी आदि ताल बजाने में भी वे पूर्ण समर्थ थे। ९$\frac{१}{२}$ मात्रा के 'विचित्र' ताल में १४ मात्रा का आड़ा-चौताल बजाते भी उन्हें सुना था।

४—उनकी इन लयकारियों के साथ लहरा देना भी महा कठिन था। उनके अभिन्न मित्र श्री बलवन्तराय भट्ट ही पूर्ण स्थिरता के साथ लहरा दे पाते थे।

१—और अप्रचलित तथा विकट तालों पर भी उनका कैसा अधिकार था। अनेक बड़े संगीत-सम्मेलनों में उन्होंने विचित्र-ताल (९$\frac{१}{२}$ मात्रा) योग-ताल १५$\frac{१}{२}$ मात्रा, परब्रह्म ताल (१५$\frac{३}{४}$ मात्रा) के तालों में, सभी प्रकार की लयकारियों, कायदों, परनों आदि का प्रदर्शन किया था।

२—तबला-वादन भी तो कितना अनुपम था उनका! उनकी उंगलियां जिस हल्के ढंग से तबले पर पड़ती थीं, और कठिन से कठिन बोलों को जिस सरलता और स्पष्टता के साथ निकालती थीं, वह देखकर भूरि-भूरि प्रशंसा किए बिना रहा नहीं जाता था।

३—उनके बोल भी तो कितने असाधारण होते थे! प्रत्येक बोल में उनकी मौलिकता, कलात्मकता और चमत्कारपूर्ण लय-प्रयोग-कौशल का दर्शन होता था। तबले और मृदंग के बोलों का विशाल भाण्डार तो उनके पास था ही, किन्तु साथ ही स्वल्प-काल में नये बोल रचने की भी उनमें अपूर्व क्षमता थी। उन्हीं के एक विद्यार्थी श्री दामोदर होता द्वारा हम अब उदाहरण-स्वरूप उनके कुछ बोलों का श्रवण कर लें (श्री दामोदर होता द्वारा संपादित ये बोल इस लेख के अन्त में प्रकाशित किए गए हैं)

४—यह तो हुई ताल-लय की बात। किन्तु गायन-कला की भी तो उन्होंने साधना की थी। उनका कण्ठ अत्यंत सुरीला और मधुर था। उनका गायन कुछ चंचल, किन्तु अतिशय स्वच्छ और प्रसाद-गुण-युक्त होता था।

१—गायन की शिक्षा उन्होंने मरहूम उस्ताद बशीर खां से पाई थी। ख्याल, ठुमरी तथा मराठी भावगीत वे आकर्षक ढंग से गाते थे और रस-परिवेषण करते थे।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

२—गायन में भी वे अन्तर्लयों के परस्पर-भेदन का ऐसा सुन्दर पुट देते थे कि श्रोता चमत्कार की अनुभूति से उल्लसित हो उठते थे। उनके गायन के साथ संगत करना भी सरल नहीं था। स्व० श्री अनोखेलालजी ही उनकी संगत करते थे।

३—गायन-वादन के अतिरिक्त उनके कलाकार-व्यक्तित्व का एक और पहलू भी स्मरणीय है, जो अधिकतर अज्ञात ही रहा है। वह है-उनकी चित्रकला-प्रवीणता। प्रसिद्ध चित्रकार श्री हलदंकर द्वारा बम्बई में आयोजित कला-प्रदर्शनी में उनके 'साधु' शीर्षक चित्र को प्रथम स्थान मिला था।

४—इस प्रकार कला उनके जीवन में ओतप्रोत थी। किन्तु···मंच-प्रदर्शन कौशल के प्रति उनकी उदासीनता ने उनके जीवन को 'अज्ञातवास' सदृश बना डाला था।

१—उनके कलाकार व्यक्तित्व का एक-एक अंग उन्हें उच्च कोटि के कलाकार के रूप में प्रतिष्ठित करने में समर्थ था, किन्तु·····भारतीय संगीत जगत् के परम दुर्भाग्य से, उन्हें उचित सम्मान, प्रतिष्ठा और अर्थ-लाभ से सदैव वंचित रहना पड़ा।

२—अतिशय गहनता के कारण उनकी ताल-विद्या सर्व-साधारण तो क्या, सामान्य कोटि के गुणिजनों की भी समझ के बाहर थी। इसलिए उन्हें उचित मान्यता प्रदान करने वाले गुणिजन भी विरल ही थे।

३—जो वस्तु ताल-लय के अन्य कलाकारों के लिए असाध्य थी, उसकी उच्च कक्षा को स्वीकार करने की प्रांजलता और निश्छलता का भी अभाव रहा।

४—किन्तु, दूसरी ओर वे स्वयं कितने गुणग्राही थे। निन्दा, ईर्ष्या से दूर रहकर कला का सच्चा आनन्द लेना उन्होंने भरपूर सीखा था। राग-द्वेष से परे उनकी गुणग्राहिता भुलाई नहीं जा सकती।

१—साथ ही विनय के तो मानो वे मूर्तिमान् रूप थे। गर्व तो उन्हें छू भी नहीं गया था! यदि कोई उनके गुण की प्रशंसा करता, तो वे तत्काल कह उठते "मेरे पिताजी की विद्या का तो शतांश भी मेरे पास नहीं हैं"। सभा या गोष्ठी में प्रदर्शन करते समय, वे लहरा पकड़ने वाले अथवा संगत करने वाले की भरपूर प्रशंसा करते और अपने चरम कौशल की सराहना की ओर से मानों निःस्पृह-से उठते थे।

२—उनके गुण को जो अल्प व्यक्ति समझते थे, उनकी-गुणग्राहिता को कितनी उदात्त दृष्टि से देखते थे वह। पूज्यपाद गुरुदेव पं० ओंकारनाथजी ठाकुर, पं० बलवन्तराय भट्ट आदि के प्रति कितना समादर और स्नेह रखते थे वह! अन्तिम क्षण तक उन सबका सप्रेम स्मरण करते रहे।

३—कला द्वारा प्राप्त आनन्द में बाह्य अभाव-दुःख सबको भूल जाना उनकी बड़ी विशेषता थी। जिस रस को "ब्रह्मानन्द-सहोदर" माना गया है, उसके वे परम रसिक थे। उच्च कोटि के कला-प्रदर्शन को देख-सुनकर यही कह उठा करते थे·····"आह! आज तो साक्षात् परब्रह्म के दर्शन हो गए।" एक बार कलकत्ता को कान्फ्रेंस से लौटने के बाद पू० गुरुजी के गायन के लिए ऐसे ही उद्गार उनके मुख से सुनने को मिले थे।

४—विद्या को ही वे जीवन-सर्वस्व मानते थे। देहावसान के पूर्व जब तक उनकी वाणी सचेष्ट रही, तब तक उनके यही उद्गार सुनाई देते रहे कि उन्हें और किसी बात की चिन्ता नहीं, किन्तु-उनकी विद्या की सुरक्षा नहीं हो सकी, इसी का घोर दुःख था। उनके अंतिम शब्द भी 'गदि गन धा' ही थे।

१—और हमारा भी कितना दुर्भाग्य कि उनके विद्या वारिधि में से, हम कुछ बूंदों से अधिक कुछ भी सुरक्षित न रख पाए। हमारे सामने ही रत्नाकर सूख गया, माणिक्य अतल-गर्त में खो गए।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

२—मृत्यु-शय्या पर जब उनसे यह कहा गया कि उनके अच्छे हो जाने पर उनकी विद्या का "टेप रिकॉर्ड" द्वारा तथा पुस्तक-प्रकाशन द्वारा रक्षण किया जायगा, तब उनके व्याधि-जर्जर शरीर में कैसी दीप्ति कौंध गई थी! वह आभा जिसने भी देखी, वही हृदय में उसकी एक अमिट छाप लेकर रह गया।

३—नियति का कैसा क्रूर उपहास था कि जब वे अपने पद के स्थायित्व से प्रसन्न और पदोन्नति के लिए आशान्वित थे, तभी सुरलोक से उन्हें निमन्त्रण आ गया।

४—उनका पूरा जीवन ही तो विरोधाभासों की शृंखला से बंधा था। परम मानव, किन्तु स्वयं अमानी, गुण के अपार धनी, किन्तु बाह्य रूप में निर्धन, सरलता में बालकवत्, किन्तु जीवन के निर्मम प्रहारों से अकाल-वृद्ध, कला-कौशल के अनन्त ऐश्वर्य से मण्डित, किन्तु सांसारिक दैन्य से पराभूत, कला आराधना में शांत-दान्त, किन्तु जीवन-समर से क्लांत, भाव-जगत् के वासी, किन्तु अभावों से ग्रस्त, सिद्धि-गौरव के स्वामी, किन्तु शारीरिक लाघव से त्रस्त, चमत्कार-सिद्धि से दीप्त, किन्तु गुण-ग्राहकों के अभाव से म्लान, परम स्नेह-सिक्त-हृदय, किन्तु स्वयं स्नेह कण के लिए तृषित, काल के रहस्य को करतलगत बनाए हुए, किन्तु स्वयं अकाल में ही काल के कवल.....यही तो है अल्प में उनके व्यक्तित्व का दर्शन.....उनकी जीवन-गाथा की झांकी।

१—और अन्त में, वे इन सब विरोधाभासों से मुक्त होकर, समरसता के साम्राज्य में प्रवेश कर गए, अपने आराध्य, लयदेव, में लीन हो गए।

२—शनिवार, १४ फ़रवरी, १९५९ की उस अभागी घड़ी में स्वयं करुणा भी रो पड़ी थी, और आत्मीय, स्नेही-जन विलख उठे थे। एक ओर कारुण्य की सीमा, दूसरी ओर काल की क्रूरता की अवधि, और बीच में उनकी चिर-मौन, चिर शांत मुख-मुद्रा, इस त्रिवेणी का उस समय जिसने भी दर्शन किया, उसमें अवगाहन किया, वही भाव-विह्वल हो गया।

३—उनकी शांति के लिए हम प्रार्थना क्या करें? शांति का अभाव उन्हें भला क्यों होने लगा? हमें केवल पुण्य-स्मरण का ही अधिकार है।

४—हमारे शोध-विभाग के पं० श्री रतिनाथ झा के शब्दों में हम उनकी पुण्य-स्मृति में श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं :—

संगीतस्योपनिषत् साम्नः सौभाग्यसीमेव।
जयति सखीव कलाया ललितायाः कापि लयविद्या ॥१॥
अणुमपि गुणं परेषां श्लाघावाक्यामृतैः सिञ्चन्।
पर्वतमिव संप्रथयन् जीयात् पर्वतकरो नित्यम् ॥२॥
शीलेऽतुलो, निसर्गे मधुरो, निरहङ्कृतौ धुर्यः।
आर्जवमार्दवसिन्धुर्विनयनिधिः कोऽपि शं तनुताम् ॥३॥
देहे हन्त हृतेऽपि स्फुरति पुरः सा तवोज्ज्वला कीर्त्तिः।
वितरति या स्पृहणीयं गुणगणमुत्कर्षमूलं नः ॥४॥

४—हमारे पास 'टेप रिकार्ड' में उनके कला-प्रदर्शन का जो लघु अंश सुरक्षित है, उसे एक प्रेरणा-स्रोत के रूप में हम श्रवण कर लें। तदनन्तर उनके अभिन्न मित्र पं० बलवन्तराय भट्ट-रचित श्रद्धांजलि-गायन द्वारा एवं रामधुन में सम्मिलित होकर हम इस अंजलि-प्रदान को पूर्ण करेंगे।

(यह श्रद्धाञ्जलि गीत नीचे दिया जा रहा है)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

राग–गुर्जरी तोड़ी ताल–आड़ा-चौताल स्मरणाञ्जलि

स्थाई—देत ताल काल के हाथ, अगम लय में लीन भयो ।
रामकृष्ण पर्वतकर पुनित रह्यो नित जल गंग सो ।

अन्तरा—खेलत खेल आड़ कुआड़ को अटक्यो नहीं अहोनिस ।
गरजत गैब से गदिन धा गयो सत प्रेमी "भावरंग" को ।।

गायनवादनाचार्य पं० बलवंतराय भट्ट 'भावरंग'

स्थायी—

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४
×		३		०		७		०		११		०	
											म् ग् दे	ध् म् ऽ	नि ध् त
सां ता	— ऽ	नि ल	ध् का	म् ऽ	ग् ल	म् रे् कें	ग् ऽ	ग् रे् हा	— ऽ	सा थ	रे सा अ	नि ध् ग	ध् म
सा ल	रे् य	ग् रे् में	रे् ग् ऽ	— ऽ	— ऽ	ग् म् ली	— ऽ	ध् न	म् भ	म् ध् यो	— ऽ	नि म् रा	— ऽ
ध् म् म ऽ	ध् नि कृ ऽ	सां ऽ	सां ष्ण	सां प	सां र	सां नि व ऽ	रे' सां त	नि ध् क	ध् र	ध् म् पु	म् ग् नि	ध् म् त	नि ध् र
सां नि ह्यो	रें' ऽ	नि नि	धू त	म् ज	ग् ल	म् रे् गं	रे् ग् ऽ	रे् ग	सा सो	— ऽ			
×		३		०		७		०		११		०	

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

										म् ग्	—	ध् म्	ध् म्
										खे	ऽ	ल	त ऽ
					अन्तरा—								
ध् सां	—	सां	सां	—	सां नि	रें'	सां	—	सां	म् ग्	—	ध् म्	ध् म्
खे	ऽ	ल	आ	ऽ	ड़ ऽ	कु	आ	ऽ	ड़	खे	ऽ	ल	त ऽ
सां	—	सां	सां	—	सां	रें' सां	ग' रें'	ग'	रें'	सां	—	ध्	सां
खे	ऽ	ल	आ	ऽ	ड़	कु ऽ	आ	ऽ	ड़	को	ऽ	अ	ट
ग् रें'	रें' ग्	ग' रें'	रें' ग्	—	म्'	ग' रें'	रें' ग'	ग' रें'	सां	सां ध्' म्'	म्' ध्'	म्'	ग्
क्या	ऽ	न	हीं	ऽ	अ	हो	ऽ	नि	श	ग	र	ज	त
म रें'	ग्	रें'	सां	—	ध् सां नि	रें' सां	नि ध्	—	नि ध्	म्	ग्	ग् म्	म् ध्
गै	ऽ	व	से	ऽ	ग दि	ग न	धा	ऽ	ग ऽ	यो	ऽ	स ऽ	त ऽ
ध् नि	नि रें'	नि	ध्	म्	ग्	म रें'	रें ग्	रें	सा	—			
पे ऽ	ऽ ऽ	मी	भा	ऽ	व	रं	ऽ	ग	को	ऽ			

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

स्व० श्रीरामकृष्ण ल० पर्वतकर की कुछ चमत्कारपूर्ण रचनाएँ

श्री दामोदर होता एम० म्यूज़० द्वारा संकलित

ताल सवारी*

चक्करदार परन—१

तित् तित्	ते टे ते टे	ता गे ते टे	धि धि ते टे	ता गे ते टे	धि धि ते टे	धा तिर किट धे	किट कता
×		०		५		०	
धि धि ना ना	धि धि त क	धा------	ति--टि क	-- त ग --	दि ग	--- न	धा--ता--
९		०		१३	१३ १/२	१४	
धा--ति--	टि क--त	ग--दि ग	--न धा--	ता--धा--	ति--टि क	--त ग--	दि ग--न
×		०		५		०	
धा--ता--	धा ---	--तित्-	तित्--ते टे	ते टे ता गे	ते टे	धि धि	ते टे ता गे
९		०		११	१३ १/२	१४	
ते टे धि धि	ते टे धा तिर किट धे किट	क ता धि धि	ना ना धि धि	तक धा --	-- --ति--	टि क--त	
×	०		५		०		
ग -- दि ग	--न धा--	ता--धा--	ति--टि क	-त ग -	दिग	--न	धा--ता-
९		०		१३	१३ १/२	१४	
धा--ति--	टि क--त	ग--दि ग	--न धा--	ता--धा--	----	तित् तित्	ते टे ते टे
×		०		५		०	
ता गे ते टे	धि धि ते टे	ता गे ते टे	धि धि ते टे	धा तिर किट धे	किट	तक	धि धि ना ना
९		०		१३	१३ १/२	१४	

*सवारी ताल के आरंभ में अथवा अन्त में तीन मात्रा का ऐसा विभाग रहता है जिसके बीचोंबीच १ १/२ मात्रा पर ताली रहती है। श्री पर्वतकर जी यह विभाग आवर्तन के अन्त में रखते थे। तदनुसार १३ १/२ मात्रा के बाद ही यानी १४ वीं मात्रा के उत्तरार्ध पर यहां ताली दिखाई गई है। —संपादक।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

धि धि तक	धा – – –	ति – टि क	– त ग –	दि ग — न	धा—ता—	धा—ति—	टि क — त
×		०		५		०	
ग—दि ग	—न धा—	ता—धा—	ति—टि क	—त ग—	दि ग	— न	धा—ता—
९		०		१३	१३ १/२	१४	

चक्करदार परन—२

धा-नधे किटकत	कतकधे किटधिन	धात्रकधे किटधिन	नाकधिन तूना– –	धी ना किटतक ता तिर किटतक	त–कड़ानूधिधिनाना	कतिटधा	त्रकधे–त्तागे–न
×		०		५		०	
त्रकधे-त्तागे-न	ति-टि क-त	ग-दि ग-न	धा-गे-धे–	धे-धे-धे—	धा	तिटकत	धा–गे–धे–
९		०		१३	१३ १/२	१४	
धे-धे-धे-	धा-तिटकत	धा-गे-धे–	धे-धे-त्रे-	धा	---- धा-नधे	किटकत कतकधे	किटधिन धात्रकधे
×		०		५		०	
किटधिन नाकधिन	तूना- -धी-ना-किट तक	ता-तिर किटतक त-कड़ानू	धिधिनाना क ति	टधा त्रकधे–	त्तागे-न	त्रकधे—	त्तागे–न, ति–टि
९		०		१३	१३ १/२	१४	
क-त ग-दि	ग-न धा-गे	–त्रे- धे-धे	—धे–धा – –	तिटकत धा-गे	–धे–धे–धे	–धे– धा– –	तिटकत धा-गे
×		०		५		०	
- धे - धे - धे	-धे- धा—	— —	धा-नधेकिटकत	कतकधेकिटधिन	धात्रकधे	किटधिन	नाकधिनतूना—
ऽ		०		१३	१३ १/२	१४	
धी–ना–किटतक ता–तिरकिटतक	त–कड़ानू धिधिनाना	क ति ट धा	त्रकधे–त्तागे–न	त्रकधे–त्तागे–न	ति–टि क–त	ग–दिग-न	धा–गे-धे–
×		०		५		०	
धे–धे–धे–	धा– तिटकत	धा–गे–धे–	धे–धे–धे –	धा– तिटकत	धा–गे	–धे–	धे-धे-धे–
९		०		१३	१३ १/२	१४	
धा							
×							

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitization by eGangotri

आड़ाचौताल

चक्करदार परन

धा तिर किट ता	तिर किट धे कि	ट ता गि न	धा तिर किट ता	तिर किट धे कि	ट ता गि न	धा तिर किट तक	ता—धिर धिर
×		३		०		७	
कत्—ति ट	ता गे तिर किट	तक् ता कति	ट धा धि धि	तिट कत गदि गन	धा--धि धि		
		११		०			
तिट कत गदि गन	धा—धि धि	तिट कत गदि गन	धा	ति ट ता गे	तिर किट तक् ता	क ति ट ता	धिधि तिट कत
×		३		०		७	
गदि गन धा-	धि धि तिट क-	गदि गन धा-	धि धि तिट कत	गदि गन धा-	-- -- तिट		
०		११		०			
ता गे तिर किट	तक ता कति	ट ता धि धि	तिट कत गदि गन	धा—धिधि	तिट कत गदि गन	धा—धि धि	तिट कत गदि गन
×		३		०		७	
धा	—	धा तिर किट ता	तिर किट धे कि	ट ता गिन	धा तिर किट ता		
०		११		०			
तिर किट धे कि	ट ता गि न	धा तिर किट तक	ता--धिर धिर	कत्—ति ट	ता गे तिर किट	तक् ता क ति	ट धा धि धि
×		३		०		७	
तिट कत गदि गन	धा—धि धि	तिट कत गदि गन	धा--धि धि	तिट कत गदि गन	धा		
०		११		०			
ति ट ता गे	तिर किट तक ता	क ति ट ता	धिधि तिट कत	गदि गन धा-	धिधि तिट कत	गदि गन धा-	धिधि तिट कत
×		३		०		७	
गदि गन धा-	— — ति ट	ता गे तिर किट	तक् ता कति	ट ता धि धि	तिट कत गदि गन		
०		११		०			

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitization by eGangotri

धा-धि धि	तिट कत गदि गन	धा—धिधि	तिट कत गदि गन	धा	—	धा तिर किट ता	तिर किट धेकि
×		३		०		७	
ट ता गि न	धा तिर किट ता	तिर किट धे कि	ट ता गि न	धा तिर किट तक	ता--धिर धिर		
०		११		०		७	
कत्—तिट	ता गे तिर किट	तक ता कति	ट ता धि धि	तिट कत गदि गन	धा--धि धि	तिट कत गदि गन	धा—धिधि
×		३		०		७	
तिट कत गदि गन	धा	तिट ता गे	तिर किट तक् ता	क ति ट ता	धि धि तिट कत		
०		११		०			
गदि गन धा-	धि धि तिट कत	गदि गन धा-	धिधि तिट कत	गदि गन धा-	— — तिट	ता गे तिर किट	तक् ता कति
×		३		०		७	
ट ता धि धि	तिट कत गदि गन	धा-धि धि	तिट कत गदि गन	धा--धि धि	तिट कत गदि गन		
०		११		०			
धा							
×							

CC0. In Public Domain, Digitization by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रुद्रताल मात्रा २२

परन

घिघि तिरकिट तकता – कति	ट धा — धिं—त धा —	धागे धीं धा कड़ान्	धा — कत् – धा – –धा
×		०	
तूना कत् धिं–तिर किटतक	ता—कता घिघि	तुं तकधेत्	— — कता धिं—तरा
५		७	
—नू धा तू ना	कतिटधा	— धिं तिरकिट तकता–	धा, धिं तिरकिट तकता–
९		०	
धा, धिं तिरकिट तकता–	धा — — क	तिटधा, धिं	तिरकिट तकता– धा धिं
१३		१५	
तिरकिट तकता– धा धिं	तिरकिट तकता– धा –	— क ति ट	धा धिं तिरकिट तकता–
१७		१९	
धा धिं तिरकिट तकता–	धा धिं तिरकिट तकता–	धा	
०		×	

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लक्ष्मी ताल मात्रा २१

चक्करदार परन

किट तक तिं तिं	ना ति ट ता	— धा तू ना	क ति ट ता
×			
— ता तू ना	क ति ट ता	कड़ धे — त्ता	— न् धा ति
धा — कड़ धा	तू ना कत् —	— धा तू ना	क ति ट धा
क ति ट धा	— धिं — त	धा	क ति ट धा
— धिं — त	धा	क ति ट धा	— धिं — त
धा			
— — किट तक	तिं तिं ना ति	ट ता — धा	तू ना क ति
×			
ट ता — ता	तू ना क ति	ट ता कड़ धे	— त्ता — न्
धातिधा —	कड़ धा तू ना	कत् — — धा	तू ना क ति
ट धा क ति	ट धा — धिं	— त धा —	— — क ति
टधा — धिं	— त धा —	— — कति	ट धा — धिं
— त धा —			
—	किट तक तिं तिं	ना तिट ता	— धा तू ना
×			
क ति ट ता	— ता तू ना	क ति ट धा	कड़ धे — त्ता
— न् धाति	धा — कड़ धा	तू ना कत् —	— धा तू ना
क ति ट धा	क ति ट धा	— धिं — त	धा
कतिट धा	— धिं — त	धा	क ति ट धा
— धिं — त			
: धा			
×			

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

LIST OF EX-STAFF MEMBERS

TEACHING STAFF.

1. Pt. Omkar Nath Thakur, Principal and Honorary Professor, Music and Fine Arts,
2. Pt. D. G. Paluskar, Lecturer in Violin.
3. Shri Vaman Rao Padhey, Lecturer in Vocal Music.
4. „ Thakur Pd. Upadhyaya, Instructor in Vocal Music.
5. „ J. C. Chowdhury, Instructor in Sitar.
6. „ R, L. Parwatkar, Instructor in Tabla.
7. „ A. R. Gajendragadkar, Instructor in Flute.
8. „ Mahendra Singh, Instructor in Sitar.
9. Mss. Nalini R. Gajendragadkar, Instructor in Vocal Music (Recently appointed as Temporary Lecturer in Vocal Music, Women's College B. H. U. Holds a lien on her post in the Music College).
10. Shri D. K. Chatterjee, Part-time Instructor in Tabla.
11. Shri R.C. Shukla, Part-time Instructor in Painting.
12. „ Mahendra Nath Singh, Part-time Instructor in Painting.
13. „ P. N. Mukherjee, Part-time Instructor in Sculpture.
14. „ Shyam Lal, Part-time Instructor in Flute.
15. „ Raghunath Prasanna, Part-time Instructor in Flute.
16. „ K. C, Purohit, Part-time Instructor in Flute.
17. „ Har Charan Singh, Lecturer in Violin.
18. „ Panna Lal, Lecturer in Violin.
19. „ Rang Nath Misra, Tabla Accompanist.

RESEARCH SECTION.

1. Prof. Alain Danielou, Honorary, Research Professor (Later redesignated as Reader).
2. Shri Prahlad Shastri, Research Assistant.
3. „ Krishna Mohan Thakur, Research Assistant.
4. „ Pushpa Lal Jha, Copyist.
5. „ Vishwanath Buxi, Typist.
6. „ Balji Lal Srivastava, Typist.
7. Pt. Rati Nath Jha, Research Assistant, (Recently appointed as Lecturer in the Sanskrit Mahavidyalaya, B. H. U.).

OFFICE.

1. Shri Jamuna Prasad Srivastava, Clerk.
2. „ Kanhaiya Lal Gupta, Clerk.
3. „ R.C. Lal Srivastava, Clerk.
4. „ J. R. Pandey, Store-Clerk.
5. „ Lallan Singh, Store-Clerk.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

LIST OF STUDENTS WHO PASSED THE VARIOUS EXAMINATIONS IN MUSIC & FINE ARTS DURING THE PERIOD 1951-60

SANGIT PRAVESHIKA EXAMINATION

1951

Roll Nos. *Names*

1. Smt. Malti Agrawal
2. „ Vibha Sharma Malaviya

1952

1. Chittaranjan Jyotishi
3. Gopi Krishna Nagar
4. Miss Vimala Sitaram Devadhar
5. Miss Subhashini Jauhri
6. „ Satya Malaviya
8. Shyam Sundar Prasad Sharma
10. Madhukar Dikshit
11. Nand Kishore
16. Miss Manorama Sood
21. Nandan Ghildyal
23. Mahendranath Singh
28. Ram Nihal Sharma Dwivedi
29 Laxmipati Shukla

1953

1. R. C. Rao Deshmukh
2. Miss Vibha Raha
3. „ Dharmavati Srivastava
4. „ Pratibha Mishra
5. „ Sheela Shastri
6. „ Sushila Pant
7. „ Uma Shastri
8. Ajit Kr. Bhattacharya
9. Braj Raj
10. Vishnu Bahadur Pd. Gupta
11. Yugal Kishore Jha
12. Vinod Kumar Jain
13. M. N. Purandare

Roll Nos. *Names*

1954

1. Miss Sarla Sood
3. Swami Agehananda Bharati
4. Miss Usha Maini
6. Sita Pati Shukla
7. Jagannath Acharya
8. Jagadishwar Johri
9. Miss Mandakini Nene
10. Narendra Nath Sharma
11. Miss Sanjiwani Nene
12. „ Vidya Kumari Mishra

1955

1. Miss Ashalata Jema Debi
2. „ Kamlesh Kumari Sharma
3. Kumari Sarojini Nene
5. Miss Sudha Laghate
6. Anand Gnan Jalote
7. Pradeep Bhupendra Nath Dixit
8. Rajeshwar Acharya
11. Mrs. Padma Agrawal
12. Miss Savitri Prasai
13. Mrs. Sukrita Devi Srivastava
15. Miss Savitri Singh
17. „ Shri Kamal Saxena
18. „ Uma Sinha
20. Durga Singh Patel
22. Mrityunjaya Nath
23. Shiva Kumar Singh
24. Tribeni Prasad Dwivedy

1956

1. Km. Manju Acharya
2. Rajeshwar Acharya

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Roll Nos.	*Names*
6.	Miss R. Alamelu
13.	Hakim Singh Saluja
20.	Ram Lal Shastri
22.	Sunil Kumar Satapathi
24.	Vishnu Kumar Agrawal

ADMISSION CERTIFICATE
(Revised Nomenclature)

1957

1.	Bechan Upadhyaya
4.	Madan Mohan Wats
5.	Shri Narayan Acharya
7.	Miss B. Pramila Rao
10.	„ Kanta Sud
11.	„ Pramila Singh
12.	„ Rani Agrawal
13.	„ Sarojini Nene
14.	„ Shailini Singh
15.	Badrika Prasad Choudhary
18.	Hari Shankar Jha
20.	Ramesh Chandra Srivastava
21.	Ranjan Shukla
22.	Ravindra Nath Jha
23.	Siddheshwar Bhatt
24.	Suraj Prakash Sharma
26.	U. Sudhakar Bhatt

1958

3.	Miss Menuka Rani Lal
4.	„ Padma Biswas
5.	„ Poornima Mathur
6.	Mrs Shakuntala Devi
8.	Miss Vasanti Laghate
9.	Bhaskar Hari Choudhary
10.	B. V. Karanth
11.	Brahmchari Arun Chaitanya
13.	Raj Kumar Pandey
14.	Bhuwan Shankar Sanwal
15.	M. S. Narayanaswamy
17.	Suresh Nilkanth Kulkarni
19.	Miss Aruna Marwaha
22.	„ Montu Mukerji
23.	„ Santosh Banga
24.	„ Sarojini Bajpai
26.	Rajya Vardhan Deva
27.	Surendra Kumar Sharma
28.	Shyam Kishore Singh

1959

1.	Km. Renuka Rani Lal
2.	„ Vanamala Parvatkar
5.	„ Asha Vardya
6.	„ Aruna Gupta
8.	„ Indumati Pathak
10.	„ Madhuri Mathur
12.	„ Mala Damodar Das Mundada
13.	„ Prema Mishra
15.	„ Pratibha Parvatkar
16.	„ Ruby Rani Sinha
19.	„ Sudha Rani Sharma
20.	„ S. R. Mani
21.	„ Tapati Chowdhury
22.	„ Urmila Agrawal
23.	„ Usha Varma
25.	Bhulan Lal Srivastava
27.	Jagdish Narain Dwivedi
28.	Lalit Kumar G. Bhatt
31.	Prasanta Kumar Roy Chowdhury
32.	Ramji Das Gupta
34.	Ram Mani
35.	Vijay Kumar Stokes
36.	Vinayak Jagannath Nene

1960

1.	Smt. Vasundhara Bhatt (Talwalkar)
4.	Km. Vatsala Rao
6.	Atal Behari Dass
8.	Pamini Ramchandra

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Role Nos.	*Names*
9.	Km. Asha Jauhari
10.	„ Kalyani Chakravorty
11.	„ Mala Damodardas Mundada
13.	Arvind Kumar Gupta
14.	Bindhya Basini Prakash Tripathi
15.	Radhey Shyam

SANGITA MADHYAMA

1953

1. Mrs. Malti Jain (Agrawal)
2. „ Vibha Sharma
3. Miss Nalini R. Gajendragadkar
4. „ Prem Lata Sharma
5. R. B. Sontakke
6. Shuk Deo Bhatt

1954

1. Miss Satya Malaviya
2. Chitta Ranjan Jyotishi
3. Gopi Krishna Nagar
4. Madhukar Dixit
5. Nand Kishore
6. Shyam Sundar Sharma
7. Vireshwar Raghunath Patwardhan

1955

1. Miss Dharma Srivastava
2. „ Pratibha Mishra
4. „ Subhadra Choudhary
5. „ Sushila Pant
6. Ajit Kumar Bhattacharya
7. Laxmi Pati Shukla
8. Jugal Kishore Jha
10. M. N. Purandare

1956

1. Miss Sushila Pant
5. „ Sanjiwani Nene
6. „ Shanti Asthana
7. „ Usha Meini

Role Nos.	*Names*
8.	Damodar Hota
10.	Narendra Nath Sharma
11.	Sita Pati Shukla

JUNIOR DIPLOMA

(I-Yr. of Old Sangit Madhyama)

1957

1. Miss Prabha Banerjee
3. „ R. Alamelu
4. „ Savitri Prasad
6. „ Surya Kanta Jhingan
7. Hakim Singh Saluja
8. Sunil Kumar Satapathi
9. Vishnu Kumar Agrawal

1958

1. Mrs. Pratibha Singh Bhal
2. „ Subhadra Kulshreshtha
4. Miss B. Pramila Rao
5. „ Shree Devi Pandey
6. „ Suneeti A. Mundkur
7. „ Usha Rani Singh
8. Badrika Prasad Chowdhury
10. Ramesh Chandra Srivastava
12. Suraj Prakash Sharma
13. Miss Pratima Singh
14. „ Sudha Lata Malaviya
15. Hari Shankar Jha
16. Jai Ram Singh

1959

1. Km. Aruna Marwaha
5. „ Poornima Mathur
6. „ Santosh Banga
7. Bhuwan Shankar Sanwal
8. B. V. Karanth
10. Rajeshwar Acharya
12. U. Sudhakar Bhatt

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Roll Nos. *Names*

1960

2. Km. Aruna Gupta
3. „ Mala Damodardas Mundada
4. „ Prabha Prasad
5. „ Shefali Rastogi
6. „ Sudha Rani Sharma
7. „ Vanmala Parvatkar
8. Laxmi Ganesh Tewari
9. Rama Shankar Mishra
11. Km. Indu Mati Pathak
12. Km. Pratibha Parvatkar
14. Km. Ruby Rani Sinha
16. Ram Mani
17. Km. S. R. Mani
18. Sharadchandra Gopalrao Karkare
19. Prasanta Kumar Roy Chowdhury

SENIOR DIPLOMA
(II-Yr. of Old Sangit Madhyama)

1957

1. Jagannath Acharya
2. Miss Annapurna Srivastava
5. Anand Ghan Jalote
6. Atul Girish Chandra Desai
7. Mrityunjaya Nath
8. Pradeep Bhupendra Nath Dixit

1958

1. Miss Asha Lata Jema Debi
2. „ Prabha Banerjee
3. „ Pratibha Mishra
4. Mrs. Surya Kanta Sharma
5. Miss Tapati Chowdhury
6. Sunil Kumar Satapathi
7. Vishnu Kumar Agrawal
8. Miss Chanda Jaiswal
9. Kumari Pushpa Jaiswal
11. Hakim Singh Saluja
12. Ramoo Prasad

Roll Nos. *Names*

1959

2. Km Suneeti Anand Rao Mundkur
3. „ Shree Devi Pandy
4. „ Usha Rani Singh
6. Ramesh Chandra Srivastava
7. Suraj Prakash Sharma

1960

2. Km. Poornima Mathur
3. Km. Aruna Marwaha
4. Km. Santosh Banga

SANGITALANKAR DEGREE EXAMINATION

1955

1. Miss Nalini Ramchandra Gajendragadkar
2. „ Prem Lata Sharma
3. Mrs Vibha Sharma
4. Rajabhau Sontakkey
5. Sukdeo Bhatt

1956

1. Miss Satya Malaviya

B. MUS. DEGREE EXAMINATION
(Revised Nomenclature)

1957

1. Mrs. Subhadra Kulshreshtha
4. Gopi Krishna Nagar
5. Laxmi Pati Shukla
6. M. N. Purandare

1958

1. Ajit Kumar Bhattacharya
2. Chittaranjan Jyotishi
3. Damodar Hota
4. Nalin Chandra Dholakia
5. Narendra Nath Sharma
6. Sitapati Shukla

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Roll Nos. *Names*

1959

1. Km. D. Balasundari
2. Km. Dharma Srivastava
3. Km. Sushila Pant
4. Atul Girishchandra Desai
5. Nand Kishore Mishra
6. Pradeep Kr. Bhupendra Nath Dixit

1960

1. Km. Prabha Banerjee
2. Km. Pratibha Dwivedi
3. Km. Tapati Chowdhury
4. Sunil Kumar Satapathi
5. Vishnu Kumar Agrawala
6. Km. Pushpa Jaiswal

M. MUS. EXAMINATION

1959

1. Miss Nalini Ramchandra Gajendragadkar

1960

1. Laxmipati Shukla
2. Ajit Kumar Bhattacharya
4. Damodar Hota

JUNIOR DIPLOMA IN PAINTING.

1951

1. Miss. Mohini Kripalani
2. Sri Mahendra Nath Singh
3. „ Phani Lal Chakravorty
5. „ Rewati Raman Mishra
7. Miss Prabhat Kumari Chaube
8. Sri Hiranyadeb Roy Choudhury

1952

1. Sri Ram Pyare Singh
2. „ Yogendra Sen
3. „ Babu Nandan Yadava
4. „ Kamal Singh

Roll Nos. *Names*

1953

1. Sri Narayan Ch. Chakravarty
2. Sri Uma Shankar Pandey

1954

1. Sri Dhruvaji Rai Sharma
2. „ Lalta Pandey
3. „ Surya Narain Pandey

1955

1. Sri Ajay Kumar Agrawal
2. „ Kewala Nand Padalia

1956

1. Sri Dharm Sheel Chaturvedi
2. „ Jagannath Ram

1957

1. Sri Bhola Singh

1958

1. Sri Baij Nath Prasad Gupta
2. „ Kameshwar Prasad
3. „ Ram Bilash Singh
4. „ Ram Pyare Singh
5. „ Surendra Nath Pandey

1959

1. Sri Rash Bihari Srivastava

1960

1. Sri Jai Shankar Mishra
2. „ Rameshwar Pathak
3. „ Vijaya Bahadur Singh Thapa
4. „ Virendra Kumar Agrawal

JUNIOR DIPLOMA IN SCULPTURE

1951

1. Miss Snehalata Varshney

1952

1. Sri Bijon Bandhu Chakravorty
2. Sri Phani Lal Chakraborty

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Roll Nos.	*Names*
1953	
1.	Sri Dhananjaya Panigrahi
2.	Miss Mamta Dey
1954	
1.	Sri B. D. Zope
1955	
1.	Sri Hari Bansh Narayan
1956	
1.	Sri V. Ramaswamy
1957	
1.	Miss Sheila Thadani
2.	Sri B. K. Joshi
3.	Sri Jagannath Ram
1958	
1.	Sri M. V. Chandra Menon
2.	Sri Shiva Dhari Ram
1959	
1.	Sri Ram Pyare Singh
1960	
1.	Smt. Chandra Mani Singh.

SENIOR DIPLOMA IN PAINTING

1953	
2.	Sri Mahendra Nath Singh
1954	
	.....
1955	
1.	Sri Kamal Singh
2.	„ Uma Shanker Pandey
1956	
1.	Sri Lalta Pandey
2.	„ Sirisena Herath

Roll Nos.	*Names*
1957	
	.....
1958	
1.	Sri Jagannath Ram
1959	
	.....
1960	
1.	Km. Usha Tripathi
2.	Sri Baij Nath Prasad Gupta

SENIOR DIPLOMA IN SCULPTURE

1953	
	.....
1954	
1.	Sri Bijon Bandhu Chakravarty
2.	„ Phani Lal Chakravarty
1955	
1.	Sri Dhananjay Panigrahi
1956	
	.....
1957	
	.....
1958	
	.....
1959	
	.....
1960	
1.	Sri M. V. Chandra Menon
2.	„ Shiv Dhari Ram

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

LIST OF DISTINGUISHED ARTISTS WHO GAVE PERFORMANCES DURING THE LAST TEN YEARS.

1. Late Shri D. V. Paluskar, Poona.
2. Prof. Narayan Rao Vyas, Bombay.
3. Shrimati Hirabai Barodekar, Bombay.
4. Shri Kumar Gandharv, Dewas. (Twice-first in 1954 and next in 1958).
5. Shri V. G. Jog, Lucknow.
6. Pt. Lalmani Mishra, Kanpur.
7. Km. Bijan Bala Ghosh Dastidar, Calcutta.
8. Prof. V. N. Thakar, Allahabad.
9. Prof. S. S. Bodas, Kanpur.
10. Shri Sadashiv Apte, Poona.
11. Shri Siya Ram Saran Tiwari, Patna.
12. Shri Swami D. R. Parwatikar.
13. Shri Dilip Kumar Roy.
14. Mrs. P. K. Dastoor, Bombay.
15. Shri Shankar Rao Sarnaik.
16. Shri Kunwar Chattrapati Singh, Bijna.
17. Shri Nazakat Ali and Salamat Ali, West Pakistan.
18. Prof. P. A. Sundaram Aiyar, Madras.
19. Shri Gopalkrishnan Aiyar, Madras.
20. Miss Sharan Rani Mathur, Delhi.
21. Shri M. V. Sholapurkar, Poona.
22. Shri K. L. Sood, Allahabad.
23. Shri Ram Lal Mathur, Jodhpur.
24. Shri T. L. Rana, Calcutta.

LIST OF DISTINGUISHED GUESTS AND VISITORS

1. His Excellency M. A. Menshikov, the then Russian Ambassador in India. (1954).
2. Russian Scientists' Delegation.
3. A party of Professors and students from California, U. S. A.
4. The Afghan Cultural Delegation.
5. Dr. Compton, (Noble Prize Winner), Dr. Shimer and Dr. Clinchy from the U. S. A.
6. Shri Ambubhai Purani—a very close associate of Shri Arvind and a great scholiast of his Philosophy. He delivered an illuminating talk on 'The Philosophy of Shri Arvind.'
7. The late Shri Ramanlal V. Desai, the great author of Gujrat and ex-governor of Baroda State, who delivered a lecture on 'The Responsibilities of To-day's Students'.
8. Prof. P. Sambamoorthy—an authority on Karnatic Music who gave an illustrated talk on 'Forms in South Indian Music'.
9. The late Dr. Amarnath Jha who opened the Annual Art Exhibition in 1954.
10. Shri Prithvi Raj Kapur.
11. Shri Udai Shankar.
12. Shri P. H. Kotar—General Manager, Tata Iron & Steel Co. Ltd.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

13. Dr. Agrawal—the well-known eye-specialist of Delhi who gave an illustrated talk about the efficacy of Music in improving eye-sight.

14. Major General Narayan Shamsher Jung Bahadur Rana—who donated four ceiling fans for the College.

15. Shri Sardar Date, Industrial Judge, Indore.

16. Shri Girdharilal Murarilal Mehta, Managing Agent Jardine & Henderson.

17. Shri G. D. Sondi, Honorary Adviser on Youth Welfare.

18. The touring concert unit of fifty members, both male and female under the direction of its founder and conductor, Dr. John Finlay Williamson from the Westminster Choir College, Princeton, U. S. A.

19. Dr. C. D. Deshmukh, Ex-Chairman, University Grants Commission.

20. Miss Phillipa Burrell—who gave a dramatic recitation of Selected portions from a play written by her depicting the sensational story of King Edward The VIII's abdication.

21. Mr. A. Bezerian, Charge de Affaires for Rumania.

22. Prof. Donald A. Lentz, Professor of Wind Instruments, Director of Instrumental Music, University of Nebraska, U. S. A.

23. Prof. and Mrs. John D. Robb. from New Mexico.

24. Mr. William Warfield, the great American Baritone Singer, whose Concert was arranged by the College.

25. His Excellency Dr. Peter Kos, Hungarian Ambassador to India.

26. Members of the University Grant Commission (Dr. John Mathai, Sir Mudaliar and Prof. Humayun Kabir).

27. A delegation of Chinese Artists including a Sculptor, a Painter, an Architect and an Interpreter.

28. A party of Ceylonese Singers and Dancers.

29. Dr. (Miss) R. Renshaw, Canadian Musicologist and Composer whose visit to India was jointly sponsored by the UNESCO and the India Government, paid two visits to the University for one week each time for holding discussions with the Ag. Principal Dr. (Miss) Prem Lata Sharma and other staff members in connection with her comparative study of Indian Music.

30. Shri Thakur Jai Deva Singh, Chief Producer of Music,, A.I.R. New Delhi.

31. Shri Patanjali Shastri, Retired Chief Justice, Supreme Court of India, New Delhi, who opened the Annual Fine Arts Exhibition in 1957.

32. Shri Brhmarshi Daivarataji of Gokarna, North Kanara, a profound Vedic Scholar who delivered a lecture on Vedic Sangeet on 12·8·59.

33. Prof. Walter Steinhilber, Professor of Graphic Arts, Pratt Institute, Brooklym, New York.

34. Shri Rohit Mehta, General Secretary, Theosophical Society, (Indian Section) Kamachha, Varanasi.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

35. His Excellency Mr. Sikich Nimmanheminda, Ambassador for Thailand in India.

36. Mr. John Thompson, teacher, writer and Producer, Australian Broadcasting Commission and Mr. James Ac Auley, Editor, "Quadrant", Sydney, Australia.

37. Mr. Anthony Saletan, a young American minstrel, roaming the world on a musical odyssey, arrived in India in quest of folk songs. He visited our College on 12-12-60 and gave a performance of folk songs of various countries. Mr. Saletan set out on his year-long mission five months ago with a five-string banjo, a guitar, and a tape recorder, and has already mingled his voice with those of folk songsters from 14 Asian and Far Eastern countries including Japan, the Phillippines, Indonesia, Malaya, Indo-China, Thailand and Burma.

EXCERPTS FROM IMPORTANT LETTERS

Note:— We give below excerpts from two letters—one from Dr. (Miss) R. Renshaw and the other from Prof. John D. Robb, which will give the readers an idea of the part played by our institution in effectively interpreting to foreign scholars the salient features of our great musical system and in removing their doubts and misunderstandings. They are always very keen at gathering authentic information which is, unfortunately, rather rare to obtain in the field of music these days. Hence we have the gratification of rendering a valuable piece of national service by way of presenting a rational and scientific interpretation of the theory and practice of our music.—*Editor*.

Dear Dr. Sharma,

.....

I feel that no tribute would be more in keeping with the many courtesies I was shown at the Banaras University College of Music during my stay in India than the following excerpt from my official Report to U. N. E. S. C. O. (Major Project for the Mutual Appreciation of East-West Cultural Values) taken from PART A, Section II which dealt with "Academic Institutions":

"The various academic institutions listed in the official programme drawn up for me by the Ministry of Scientific Research and Cultural Affairs were considered among the finest in India. It is, however, not the purpose of this report to assess their value for the training of Indian musicians but rather for the promotion of a better understanding of Music at the East-West level.

Although I found it interesting occasionally to observe classes in action and to be shown the gradation in teaching from the lower to the higher grades, I found it much more useful to spend time in private discussion with a master-performer or musicologist—since the

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

purpose of my research was not to become a performer of Indiau Music but to survey its fundamental principles which might later be compared with structural characteristics of Western Music.

Some institutions, had a better understanding than others of the purpose of research in Music conducted from the East-West standpoint, though every single institution I visited gave me a warm welcome as a foreign musician ..

At Banaras University, the approach, as would be expected, is extremely scholarly, but practical considerations are also given their share of attention. The former Principal of the College of Music, Prof. Omkar Nath Thakur, and Acting Principal, Dr. Prem Lata Sharma, dealt with age-old theoretical problems in an objective, critical manner; they sifted fact from legend, discussed, assessed, clarified explantions given by various ancient authors of such points as 'sa-grāma' and 'ma-grāma', unlocked the Sanskrit formula in which is "hidden" the secret of some 5,040 melodic patterns, etc.

This is an aspect of Indian music which, in spite of its extreme intricacy, cannot be entirely overlooked by a serious foreign musician even though, according to Professor Omkar Nath Thakur, knowledge of it is not nearly as widespread as it should be among many of India's leading performers who are perhaps so immersed in problems of a more practical nature that they cannot spare the time to become involved in abstruse theoretical considerations. In much the same way, many fine performers in the West, opera singers, for example, may know next to nothing about the mirror fugues of J. S. Back; but that does not prevent them from being successful opera singers.

Incidentally, this highly specialized field of Indian musical theory happens to be the one which has been most publicized in the West through the writings of Western scholars or translations of Indian authors *who were not necessarily musicians*. As, even in India, this is still a field where experts largely disagree, is it any wonder that Indian Music, approached from that angle by many interested Westerners, should be so misunderstood by them ?

On the other hand, the deep concern, at the Banaras University College of Music, for shedding light on lesser-known aspects of Indian Music is matched by a well-organized approach to the practical side of the art; and thanks to the kind co-operation of Professor Lal Mani Misra I obtained on the Sitar as well as on the rarely played Vichitra Vina, an illuminating set of examples including, among others, pairs of ragas each of which illustrates a different feature..... ...
.....
to round off *The most important collection of material obtained from any academic institution.*

In return for the courtesy I had been shown at Banaras University, I

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

was most happy to accept an invitation to lecture to the staff and student body on parallels in Indian and Western Music.

I am delighted to say, moreover, that, as a gesture of appreciation for the above mentioned material which the Acting Principal of the College of Music at Banaras University, Dr. Prem Lata Sharma, and Professor Lal Mani Misra have generously authorized me to present to the Library of the Faculty of Music at McGill University and at the University de Montreal, the Deans of those two Faculties have, at my suggestion, gladly agreed to prepare tapes of Gregorian and other aspects of Western Music in a manner that would render such technical terms as harmony, counterpoint, mode, fugue, sonata, etc. clear to Indian musicians in terms related as closely as possible to their own musical terminology".

To that official appreciation which will, at the international level, bring attention to the remarkable co-operation I found at Banaras University, may I add my own personal thanks for the rewarding days I spent on the campus.

It was, indeed, a privilege to meet one of the greatest personalities of Indian Music, Prof. Omkar Nath Thakur, and I am most grateful to him for having especially arranged his schedule to be at the University at the time of my second visit.

To Professor Lal Mani Misra, I particularly wish to say what an impression his Music has made on Canadian musicians who have had the opportunity to hear it. I still hope that it will be possible to have some of it accepted by the Canadian Broadcasting Corporation, even though they do not, as a rule, accept material recorded on portable equipment. In view of the musical quality of this material, however, they will attempt to filter it and if the technical quality is thereby sufficiently improved, the C.B.C. will get in touch with Professor Misra officially.

To the Registrar, also, who so cordially placed the excellent facilities of the Guest House at my disposal, facilities which are probably unmatched in Indian university circles, may I express my warmest appreciation for the University's hospitality as well as for his kind invitation that I make the College of Music my headquarters for a longer stay in the not too distant future.

Finally, Dr. Sharma, for your many, many personal kindnesses, I do not know how to say thank you; but I am sure you will understand what our association has meant to me if I add that your enthusiasm and your friendliness are among the best memories I took away from India.

Sincerly yours,
Sd/- ROSE M. RENSHAW
5157 Cumberland Avenu,
Montreal, Canada.

DR. PREM LATA SHARMA,
Acting Principal,
College of Music,
Banaras Hindu University,
Banaras, (India).

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

JOHN D. ROBB
1623 Sigma Chi Road, N. E.
Albuquerque, New Mexico CHapel 2-6321

September 9, 1960.

Dear Dr. Sharma,

It is with great joy that I respond to your recent letter for I remember vividly the inspiring visit which I paid to your school on January 9, 1958.

I congratulate you from the bottom of my heart on the anniversary which your school is celebrating. Every musician can take pride in the knowledge that music unites in admiration and love for a great ideal all people, regardless of race, religion, nationality or political opinion. Music is an affirmation of the fact that all men are brothers and the quality of that music is measure of the quality of that brotherhood. In adhering to the highest ideals of music, your school is contributing greatly to the ideal of quality, of upward striving rather than acceptance of music as mere entertainment.

I send loving greetings to you and to Prof. Omkarnath Thakur as well as to the talented members of your faculty and your dedicated students and in so doing I thank you for your great kindness and hospitality to me and my dear wife who shared them. Long may you continue to impart to your students the love of music which cannot but make the world a better place for mankind.

Sincerely yours,
Sd/- John

P. S. I enclose an excerpt from the diary of our visit to India which deals with your school.

January 9, 1958.

The bright spot of our visit to Benares was our visit to the College of Music & Fine Arts of Benares Hindu University where through the introduction of Helen Semmerling of the U. S. I. S. we met Dr. Prem Lata Sharma and the famous singer and ex-director of the Music School, Prof. Omkarnath Thakur. Dr. (Miss) Sharma took us first to visit a number of classes and it made Don almost hemesick.....Don is impressed by the large amount of note-instruction here, like our piano practice or practice on other instruments. This brings the professor and pupils close together in fact and in feeling, just as in our ensemble music classes, which are perhaps a better comparison, despite the fact that our students play from notes rather than memorising everything.....

A program of music had been arranged for our benefit Prof. Omkarnath opened the proceedings by singing an evening prayer. They have prayers here every evening. What a privilege it is to hear in the space of three days two of India's leading classical singers performing in two great vocal styles ? (the other musician heard was the famous Dhrupada Singer Rahimuddin Dagar)... .....

But back to the prayers. Prof. Omkarnath's prayer as translated for us by Dr. Sharma was in three parts..... Prof. Omkarnath sang well but explained to Don afterward that this was not a performance but merely a prayer. In part three, all the students joined.

Let's return to the prayer for a moment. .....He sang, most of the time, with closed eyes and expressive gestures and at the end pressed his hands together in a solemn gesture of prayer.. The wonderful pulsation of the drum during part three were played by Parwatkar.....

.....Next, another artist, Mr. Kumar Gandharva a famous young vocalist gave a number of songs..... We enjoyed the singing and the poetic gestures of the singer and Prof. Omkarnath was frequently carried away and exploded with enthusiastic comments, sweet old man that he is.....

We should mention the obvious admiration which Prof. Omkarnath expressed for the Westminster Choir which sang here before huge crowds a year or so ago. But even more, he was impressed by the fact that Dr. Williamson loved the performance by Indian singers which they arranged for him.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

A BRIEF REPORT OF THE FUNCTIONS ARRANGED DURING 1950–60

The College of Music & Fine Arts has contributed notably to the enrichment of the cultural life of the University at large and the various public functions arranged by this institution have set up very high standards in the University in the fields of music (vocal and instrumental), opera, orchestra, drama, painting and sculpture. The Annual college Day Function, the Annual Fine Arts Exhibition, the celebration of the Jayanti of Parama Gurudeva Pt. Vishnu Digambar Paluskar, the great pioneer of the renaissance of Indian music, the Guru-Poornima celebrations—these have formed regular features of the functions arranged every year. Besides, performances of eminent artistes of Vocal and Instrumental music, exhibitions of valuable art materials of great variety and other public functions have been arranged from time to time.

Starting with the Annual College Day Function, the following brief report of the activities of the College will give a general idea of the richness of originality and creative talent employed in puttinglup several pieces of high class artistic presentation.

1. On the occasion of the first College Day which was celebrated in December 1950 long before the completion of the first year of the existence of the institution, a unique opera named 'Kāmāyanī' was staged by the female students of the College. This opera comprised selected portions from the Hindi epic 'Kāmāyanī' by the renowned poet Sri Jai Shankar Prasad and was composed and conducted by Revered Pt. Omkarnathji Thakur. As it is an unprecedented and unrivalled composition in the field of Indian music, it deserves to be dealt with separately and we propose to give a detailed account of its unique features in the next number. Mrs. Vibha Sharma Malviya and Mrs. Malti Jain played the roles of hero (Manu) and heroine (Śraddhā) respectively. The opera left a deep impression on the audience, so much so that even after the passing of ten years people still cherish happy memories of its excellence and yearn to withness a reproduction of the same.

2. As the first College Day was celebrated just after the first few months of thorexistance of the College, we may give the first place to the Annual Day celebrated in the Session 1951-52, after the completion of one year; Sri Prithvi Raj Kapur was the Guest of Honour on this occasion and selected portions from the opera Kāmāyanī were sung by some students. (Feb. 1952).

3. The second Annual College Day was celebrated in Feb. 1953, when a new opera named 'Kāmanā' composed and conducted by Revered Pt. Omkarnathji Thakur

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

was staged. This opera was a novel and unique piece of composition because selected portions of the allegorical drama 'Kāmanā' by the renowned Hindi poet and play-wright Sri Jai Sanker Prasad were directly set to music without previous versification. This opera in five acts and more than ten scenes was a rare feat of composition and production. More than twenty girl-students played various roles in this opera, the main roles having been played by Mrs. Malati Jain* (Kāmanā heroine) Miss Satya Malaviya (Vilāsa), Miss Nalini R. Gajendragadkar (Līlā), Miss Prem Lata Sharma (Viveka), Miss Subhasini Jauhari (Santoṣa), and Miss Usha Meini (Vanalakṣmī). It is not possible to do justice to that novel and most successful experiment in the limited space available here. In the next numbers we propose to present the two operas in instalments. It may be mentioned here that the glory and fame of these two operas has crossed the frontiers of our country, because Revered Pt. Omkarnathji has had many occasions to recite selected portions to foreign audiences at many places in Eastern and Western Europe and Russia and invariably he got the response that the feelings and emotions expressed through musical notes could touch the hearts of the audience without any handicap of non-intelligibility of the verbal language used.

Before closing this short account of the two operas staged by this college it is essential to place on record our debt of gratitude to Miss V. S. Devadhar, Lecturer Women's College B. H. U. and ex-student of this College for her untiring efforts in conducting rehearsals of both the operas and in stage-management. The valuable services of Thakur Sri Dharachand of Amritsar in conducting the rehearsals of Kāmāyanī and in stage management also deserve to be mentioned here.

4. The third Annual College Day was held in March 1954, when His Excellency Mr. M. A. Menshikov, Russian Ambassador in India, was the Guest of Honour and a programme of vocal and instrumental music was persented by staff and Students. An exhibition of paintings depicting Rāgas and Rāginis borrowed from the collection of Kalā Bhawan, B. H. U., was also arranged.

5. In the fourth Anual Day, His Excellency Dr. Peter Kos, Hungarian Minister (Ambassador) in India, was the Chief Guest. A symbolic presentation of selected portions from the opera Kāmanā, Vichitra Veena and Jaltarang recitals by Pt. Lalmani Mishra

---

* Mrs. Malti Jain whose photograph we have published elsewhere in this Supplement passed the Sangit Madhyama Examination (1953) in vocal Music with credit. As a student in this college she successfully played the role of heroine in the operas 'Kāmāyanī' and Kāmanā. She is at present settled in the U. K. and is actively engaged in widening and enriching the interest for Indian Music in Western listeners. She has given a number of lecture recitals at Universities in the U. K., participated in the International Music Festival at Venice (1959) and gives frequent public concerts in the U. K. and other countries of western Europe. She is an active member of the Asian Music Circle, Birmingham and her husband Sri P. C. Jain is its Secretary. We record here our appreciation for her valuable work.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(Kanpur) and an Orchestra composed and conducted by Pt. Balwant Rai Bhatt, were the main items of the programme. An exhibition of Hungarian Arts and Crafts was also arranged on this occasion, (Feb. 1955)

6. The fifth Annual College Day (March 1956) was presided over by the Pro-Vice Chancellor ; a Sarod Recital by Miss Sharan Rani Mathur, an Orchestra composed and conducted by Pt. D. G. Paluskar ond a Vocal performance by Pt. Balwant Rai Bhatt formed the main items.

7. The Sixth Annual College Day (Dec. 57) was presided over by Dr. Sir C. P. Ramaswamy Aiyar and Mr. A. Bezerian, charge De Affaires for Rumania in India was the Chief Guest. A programme of vocal and instrumental music including an orchestra composed and conducted by Sri Raj Bhan Singh was presented by the staff and students (including the Principal). An exhibition of Rumanian Arts and crafts was also arranged.

8. The Seventh Annual College Day was presided over by Dr. V. S. Jha the then Vice-Chancellor. This was the first College Day held after the retirement of Revered Pt. Omkarnath Thakur and he graced the function with his performance, adding dignity, charm and attraction to the programme of vocal and instrumental music presented by staff and students.

9. The Eighth Annual College Day (March 1959) was celebrated under the Presidentship of Sri Rohit Mehta, General Secretary, Theosophical Society (Indian Section, Varanasi) and a programme of vocal and instrumental music was presented by staff and students.

10. On the occasion of the Ninth Annual College Day (Jan.-Feb. 1960) His Excellency Mr. Sukich Nimmanheminda, Ambassador for Thailand in India was the Guest of Honour. This year the celebrations were arranged on a vast scale as per details given below :—

(*i*) *31st Jan. 1960*, (*a*) 'Ṛṣabha Dhaivata kī Rāmakahānī'—a short feature written and produced by Sri B.V. Karanth under the general direction of Dr. Prem Lata Sharma depicting the misunderstandings prevalent since the medieval times, regarding our musical scale, especially regarding Ṛṣabha and Dhaivata. Sri Pradip Dixit (Jijñāsu) Sri Arvind Gupta (Dhaivata) and Sri Rajendra Prasad Bhatt (Ṛṣabha) played the main roles. The script of this feature has been published elsewhere in this journal.

(b) 'Khaṇḍameru Gāyakī'—a musical recitation of 120 permutations of seven notes, all ending with 'Sa-pa'—by five students of M. Mus. Final.

(c) 'Baijū Bāwarā'—a drama based on a historic event of the life of the uncrowned monarch of music Baiju, translated from the original in Gujarati written by the

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

late Sri Ramanlal Vasantlal Desai. All the songs in this drama were set to music by Revered Pt. Omkarnathji Thakur and Pt. Balwant Rai Bhatt gave the playback for all of them. Sri B. V. Karanth (Baijū), Smti. Sudha Rani Sharma (Kinnarī), Sri P. K. Roy Chowdhury (Humāyūn) and Miss Dharmarati Srivastava (Gaurī) played the main roles. This play was also directed by Sri B. V. Karanth under the guidance of Dr. Prem Lata Sharma.

The above two dramatic performances were highly appreciated by the audience.

(ii) 1st February, 1950—The main features of the programme of vocal and instrumental music presented on this day were :—

(a) 'Braja Kī Dhūma'—a classical group song composed and conducted by Pt. Balwant Rai Bhatt. (b) Eternal Melody an Orchestra composed and conducted by Pt. Lalmani Mishra (c) Violin and Shantur recitals by Km. N. Rajam and Pt. Lalmani Mishra respectively, (d) Folk-songs of Rajasthan by Sri Ramlal Mathur of Jodhpur (e) 'Vande Matram' by Rev. Pt. Omkarnath Thakur. All the items were highly appreciated by the audience.

11. The tenth Annual Day is being celebrated under the Presidentship of Justice Sri N. H. Bhagwati our Vice-Chancellor and the special Decennial celebrations have been spread over five days as follows. :—

(i) 14th. Jan. 1961. Opening of the Annual Fine Arts Exhibition by H. E. Sardar Gurmukh Nihal Singh, Governor Rajasthan, (ii) 15th Jan. 61—Group photograph and at Home. (iii) 16th Jan. 61—Main College Day Function in the Convocation Pandal. Presentation of items of vocal and instrumental Music by staff—Vocal performances by Sri M.V. Thakur and Pt. Balwant Rai Bhatt, Violin recital, by Km. N Rajam, 'Eternal melody' an orchestra of staff and students composed and conducted by Pt. Lalmani Mishra and 'Vande, Matram' by Revereed Gurudeva Pt Omkarnath Thakur. Annual Report and Vice-Chancellor's address. (iv) 17th. Jan.—Items of Vocal and instrumental music presented mainly by students—including a group song composed and conducted by Sri Pradip B. Dixit. (v) 18th. Jan.—Publication of this number of 'Nāda Rūpa' and items of music presented mainly by students, including an orchestra of students composed and conducted by Sri Rajbhan Singh and a comic presented by Sri Prem Kumar Dubey, Sri Rajendra Prasad Bhatt and others.

As stated above in the beginning of this report the Vishṇu Digambar Jayanti and Guru Pūrṇimā (continued only upto 1957 till the retirement of Revered Gurudeva Pt. Omkarnath Thakur) celebrations have been regularly arranged every year. This year the Vishnu Digambar Jayanti was celebrated on a grand scale with a musical programme of three days (3rd to 5th, Sep. 1960). Even after his retirement Pt.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Omkarnath Thakur has regularly graced the Jayanti celebrations with his performances. Our present Vice-Chancellor has introduced another regular item viz. the presentation of national programmes on the Independence Day—15th August and the Republic Day—26th January. Accordingly the first national programme was presented on the 15th August 1960, the participants being Revered Pt. Omkarnath Thakur, Pr. Balwant Rai Bhatt, Sri Raj Bhan Singh and Km., N. Rajam.

Apart from these regular features, performances of renowned artists have been arranged occasionally and a list of such artists has been given elsewhere in this supplement. Besides, we have also arranged reciprocal or welcome programmes as a token of cultural exchange and mutual understanding or in the honour and welcome of cultural delegations, scientists' delegations. groups of musicians or individual musicians of foreign countries or high officials or official committees of our own country e. g. the Westminster Choir Group from the U. S. A., Mr. William Warfield from the U. S. A., a group of Ceylonese musicians and dancers, the Afghan Cultural Delegation, the Chairman University Grants Commission, a Visiting Committee of the U. G. C. etc. etc. Our staff and students have also participated in various functions arranged by the University as for example Janmastami Celebrations, Convocation Programmes, Tulsi Jayanti, devotional items in Revered De Baba's memory, Malviya Jayanti etc.

Before concluding this brief report, three memorable functions deserve special mention here. 1. The public concert of the Westminster choir Group in Jan. 1957, which was attended by a huge gathering of nearly eight thousand persons. The perfect discipline maintained in that function has made it a memorable occasion. 2. The Diamond Jubilee Celebrations held for felicitating Revered Pt. Omkarnath Thakur on the completion of his 60th. year. These celebrations were spread over three days (30th Aug. to 1st Sep. 1957) and comprised musical performances of well-known artists like Sri Yashwant Rai Purohit, Km. Bijon Ghosh Dastidar, Sri Nagardas Chawada, Pt. Lalmani Mishra, Sri Gopal Singh, the late Sri Anokhe Lal, Pt. Balwant Rai Bhatt, the late Sri R. L. Parwatkar, Sri K. L. Sood, Sri Raj Bhan Singh and others, and speeches by scholars like Mahamahopadhyaya Pt. Giridhar Sharma Chaturvedi, Acharya Hazari Prasad Dwivedi, Dr. Vasudeva Sharan Agrawal and Prof. V.V. Narlikar. Sri S. V. Shiweshwarkar, Commissioner Varanasi Division was the Chairman of the Felicitation Committee which arranged this function. A brief life-sketch of Pt. Omkarnath Thakur written by Dr. Prem Lata Sharma was published on that occasion and a detailed report of the celebrations was also published. 3. The public concert of Mr. William Warfield the great American Baritone singer accompanied on the piano by Dr. Otto Herz. This concert attracted similar crowds as montioned under no. 1 above.

While concluding it may be said that the functions arranged by this College are well-known in the University for their strict punctuality, dignity, decency, discipline and high standards of æsthetic presentation.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

A BRIEF HISTORY OF THE FINE ARTS SECTION

Pt. Madan Mohan Malaviya had an idea for the teaching of Fine Arts in this University, when he planned this great centre of learning and culture. In the general lay-out plan of the University one can find a space allotted for the building for Fine Arts. It looks that his idea was to encourage the students of this University to understand and appreciate the great cultural heritage inherent in our graphic and plastic arts.

In the year 1949 when Dr. Amarnath Jha was the Vice-Chancellor, some staff members approached him for starting the teaching of Fine Arts (Painting and Sculpture) to give a beginning to the fulfilment of the wish of Mahamanaji. The suggestion was accepted by the Vice-Chancellor, who himself was a great patron of Art and Culture. Classes were allowed to be started under the supervision of the Principal of the Teachers' Training College, where space for conducting the classes in the evenings was made available.

In the year 1950 when the College of Music and Fine Arts was founded by Pt. Omkarnath Thakur under the patronage of Pt. Govind Malaviya, Vice-Chancellor with the handsome donation given by the Kashi Naresh, this section was transferred from Teachers' Training College to the College of Music and Fine Arts in the Ruiya Hostel. This year a regular Syllabus for a full-fledged Diploma Course of four years in Painting and Sculpture was passed by the Faculty of Music and Fine Arts and accepted by the Academic Council. But proper provision was not made for full time staff, equipment, furniture etc. for conducting the classes for nearly six years. In the year 1955 when the scheme for the Re-organization of the College of Music and Fine Arts was formed by Dr. C. P. Ramaswami Aiyar, the then Vice-Chancellor who took this Section directly under his charge with a view to re-organize it under his direction. With this end in view he created five permanent full-time teaching posts for this Section. But, unfortunately due to his sudden departure, things did not progress for a year. In 1957, Dr. V. S. Jha, Vice-Chancellor returned the charge of this Section to the Principal of the College. A Re-organization Committee was formed under the Chairmanship of the Principal, with five other members. The Committee met in September, 1957 and submitted its report to the Faculty of Music & Fine Arts. The Faculty left it for future consideration. In the year 1959 a detailed scheme for the improvement of Fine Arts was submitted to the Registrar to be included in the Third Five Year Plan. It has been accepted by the planning forum of the University with some modifications and it is hoped that the Fine Arts Section will have a bright future in the Third Five Year Plan, with the introduction of Degree Course in Fine Arts; addition to staff and equipments and provision for a suitable building.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

From the very beginning this Section was doing its humble service to promote among the students and staff in the University a love for the graphic and plastic arts. The annual as well as other Art Exhibitions of this Section were visited by large number of people and they were much impressed by the good work done by this Section. The Annual Exhibition of this Section was opened by His Excellency The Ambassador of France, Hungry, U. S. S. R., Rumania, The Chief Justice of India Shri Patanjali Shastri, Shri Maithili Sharan Gupta, Our 'Rashtra Kavi' and others.

The students of this Section participated in the Youth Festivals. The First and Only Prize for Sculpture in the First Youth Festival was won by a student of this Section. The works of the students are allowed to be sold during the Exhibition for encouraging them. Last year the sale proceeds of Paintings was nearly Rs. 50,003.

Teaching Facilities :—Till 1958 this Section had to suffer due to want of space to conduct the classes. But, this problem has since been solved. The Section has at present two well equipped studios (one for Painting and the other for Sculpture) situated in the Bharat Kalā Bhavan grounds. This proximity of the Kala-Bhavan helps the students very much to take advantage of its invaluable collection for their study. Students are trained to the traditional, realistic and modern trends in Art. Besides, a regular class in the History of Art is being conducted under an able lecturer from the College of Indology. From the last year a traditional Stone-Carver has been appointed to teach Stone-Carving. A post has also been created for a Technical Assistant for teaching Bronze-Casting. To encourage the students, this Section provides free of cost all sort of facilities in the matter of equipment, marerials etc. for their class work. This is a great boon which is seldom available iu other Institutions in the country.

TEACHING STAFF

Painting—1. Shri J. M. Ahivasi, Lecturer Fine Arts, and Incharge Fine Arts Section.

2. Shri Durga Pd. Patnaik Instructor in Painting.

3. Shri Baij Nath Pd. Gupta. do (Temp.).

Sculpture—1. Shri M. V. Krishnan, Instructor in Sculpture.

2- Shri Jagannath Mistry, Part-time Technician in Stone-Carving.

3. To be appointed.—Technician in Bronze-Casting.

Theory of Fine Arts—1. Shri Anand Krishna (Part-time) Lecturer in Theory & History of Fine Arts.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

SYLLABUS

The Syllabus that was formed in the year 1950 was revised in 1959 to bring it par with the teaching of Art in other institutions in the country.

The following is the list of Exhibitions that were arranged during the last ten years in addition io the Annual Fine Arts Exhibition of the work done in the section itself :—

(1) An Exhibition of Khitin Mazumdar's Paintings, opened by the French Ambassador, 1952.

(2) An Exhibition of Jemini Roy's Paintings opened by the French Cultural Attache, 1953.

(3) An exhibition of Hungarian arts and crafts opened by the Hungarian Ambassador.

(4) An Exhibition of Rumanian Arts and Crafts opened by Dr. Sir C. P. Ramaswami Aiyar, Ex.Vice-Chancellor, B. H. U. on 20-12-1956.

(5) An Exhibition of Paintings by Vincent Van Gogh, the renowned Dutch Painter of the 19th Century, opened by Dr. V. S. Jha, Vice-Chancellor, B. H. U. on 26-8-1959.

(6) Saurashtra Textile Exhibition—Opened by Shrimati Rohit Mehta, Secretary, Theosophical Society, Varanasi.

(7) An Exhibition of Reproductions of Dutch Masterpieces—Rembrandt, Vermur and Frans Hals—Opened by Ex-Principal, Pt. Omkar Nathji Thakur on 19-11-59.

(8) An Exibition of One Man's Paintings (Shri V. B. Smart)—Opened by Shri Rai Krishna Das, Curator, Bharat Kalā Bhavan, B. H. U.

(9) An Exhibition of One Man's Paintings (Sri Karan Man Singh)—Opened by Dr. Prem Lata Sharma.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

SOME SALIENT FEATURES OF THE INSTITUTION

Brief reports of the Research Section and the Fine Arts Section of this College have been published separately elsewhere in this number. Here we propose to confine our observations to the courses of study in Music, the standards of instruction and examination in that subject and the general atmosphere of the College.

The courses of study in Music are spread over a period of eight years right from the initial stage upto the post-graduate stage as—Certificate Course* (two years) Diploma Course (two years) B. Mus. Degree Course (two years) and M. Mus. Post Graduate Course (two years). After the post-graduate degree, two separate lines have been opened for those who want to have further specialised training mainly on the practical side and for those who want to carry on research; a further two years' course leading to the D. Mus. degree has been provided for the former and facilities for research for the Ph. D. and D. Litt. degrees are provided for the latter. Thus the provision of courses of study from the elementary stage upto the highest level of research degrees in one and the same institution makes this college unique among the music institutions falling under the jurisdiction of Indian Universities, a vast majority of which provide instruction only upto the Diploma standard.

Our syllabi of practical studies for the various courses in music are marked with an exceptional soundness of pedagogy. They have been framed on a somewhat revolutionary pattern aiming at the facilitation of the gradual development of the students' faculties. They comprise a bold and important step towards the establishment of a system of instruction in music that is based on a thorough understanding and practical application of the scientific principles of pedagogy.†

The standards of practical instruction are high because of the comparatively high quantum of training provided‡, the regular provision of tabla-accompaniment in classes, the restriction of the number of students in every class resulting in a most intimate relationship between the teacher and the taught and the uniformity in the average capacities of students which is ensured through the compulsory aptitude test before admission. Periodical demonstrations of students are also arranged in order to train them in the art of stage-performance. Instruments are provided to all students in class-

---

* The minimum educational qualification of matriculation or equivalent examination is not applicable to this course which is treated as an extension course and not as a regular course of the University.

† Page 106–7 of the latest edition of the College Prospectus gives the rational basis of the graduated course of instruction with special reference to Rāgas.

‡ Although we want to increase the present quantum of training which is insufficient from our standards, yet the present quantum is comparatively high, in view of the conditions prevalent in other institutions.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

rooms. In order to supplement the traditional methods of practical instruction modern devices like tape recorder, radiogram, metrononome etc. are used for acquainting the students with various styles of Indian music, helping them to find out their own weak points and encouraging them for self-improvement. The modern medium of musical notation is utilised as an aid to teaching, but special care is taken to guard the students against the fatal tendency of mechanical reproduction; the imperfections of musical notation which render it unfit for a complete representation of all subtelities and fine embellishments of our music are always brought to the students' notice so that they know fully well the relative importance of notation on the one hand and of actual training imparted by the teacher and the indispensable element of spontaneity in art on the other. Adequate attention is paid to the literary aspect of the musical compositions handed down to us by tradition.

Students are also provided with practical training in 'Mandra-Sādhana' the traditional method of voice culture which alone is appropriate for our musical system; but as the present day students are not used to the required rigours of practice, only a selected few derive full benefit from this method of voice culture.

As regards the syllabi for theory and the standards of instruction in that subject this institution can rightly claim to have done the work of a pioneer in the Herculean task of establishing a well integrated system of instruction aimed at bridging the ever-widening gulf between the theory and practice of Indian music that has been in existence since the medieval times. Some salient features of the instruction provided in this subject by this institution deserve special mention e. g. teaching from relavant portions of original Sanskrit texts like Nāṭyaśāstra, Abhinava-Bhāratī, Bṛhaddeśī, Sangīta Ratnākara, Svaramelakalānidhi, etc. and the inclusion of relevant portions of works on the science of literary criticism, prosody and allied subjects, like Kāvyaprakāśa, Dhvanyāloka, Sāhityadarpaṇa, Daśarūpaka, Rasataraṅgiṇī, Chanda-Prabhākara (Hindi) etc. Teaching from original texts imparts first hand knowledge to the students and that is the only way to remove wrong notions which are in vogue due to the non-availability of authentic translations of these texts. Thus it is endeavoured to give the students a thorough background of Aesthetics (Rasaśāstra) upto the standard of post-graduate degree in literature alongwith a sound knowledge of the theory of music from the historical, critical, comparative, analytical and synthetical points of view. It is always endeavoured to impress upon the students the imperative need of the suggestion of sentiments and emotions through music.

A separate paper for Samskrit has been prescribed for the B. Mus. degree course so that the students are equipped with an elementary knowledge of Samskrit for the study of original texts.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Unfortunately some people harbour a feeling of apathy towards the study of our old texts due to the wrong notion that it embodies a re-actionery tendency which makes us lose sight of our present and future. It may, therefore, be emphasised here that our system of instruction aims at imparting a critical insight into the eternal principles enshrined in our ancient texts, specially Bharata's Nāṭyaśāstra, as distinct from those elements which undergo constant change. A clear discrimination between these two viz. principles of eternal standing and value and other points of passing value is a sufficient gaurd against any re-actionery tendency. The application of those eternal principles to our present day practice for obtaining a rational explanation of the latter is the crying need of Indian music. On the other hand, an understanding of the changing elements gives the proper outlook for carving out new channels of development in strict conformity with our rich heritage.

Two extreme points of view are in vogue in the field of Indian music in the present times, the first being the attitude of some people who under the pretext of allegiance to a certain tradition or convention, shun all attempts at a rational explanation of their practice and the second point of view being represented by those whose 'progressive' ideas lead them as far as the desire to get rid of our age-old 'Rāga' system which embodies the culmination of a process of development spread over thousands of years and to adopt experimentation in harmony in its place. This institution professes to keep a poise between those two extremes and aims at making its graduates real pioneers of the synthesis of old and view. The attempt at a fulfilment of this aim entails a colossal task of critical interpretation of old texts, a re-instatement of lost principles and a thrashing out of our present practice of music. This institution has made valuable contribution to this important and difficult task by taking a lead in this direction in its own humble way.

As for the standards of examination it may be mentioned that they are in strict conformity to the standards of instruction. Although elaborate syllabli have been prescribed for theory, yet the importance of practice in the essentially practical subject of music has been kept up by maintaining a ratio of 2:1 in the full marks allotted to practice and theory in the various examinations in music. A deviation from this ratio which is finding place in many institutions is fatal to the importance of practical music.

The practice of holding daily prayers has been followed in this institution since its very inception. In the beginning of the present session a pamphlet containing the daily prayers with musical notation was published and distributed to staff and students. This pamphlet contains the translation and notation of 'Śiva-Saṅkalpa Mantra's of Yajurveda recently tuned by Revered Pt. Omkarnath Thakur and an 'Aṣṭapadī' of Jayadeva (Jaya Jaya Deva Hare). Thus moral values have been accorded due place.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

It may also be mentioned here that the staff and students of this College have most informal and cordial relations and all concerned have worked together like members of a large family.

The various functions that are occasionally arranged by the College, a brief report of which has been given elsewhere in this supplement, provide adequate training and experience to students in organisation, composition, stage-management and art of public performance.

There is a separate Hostel for the male students of this College where full facilities for practice are available and the female students are provided accommodation in the Women's Hostel. Foreign students are accommodated in the International House. Arrangement for instruction through the medium of English is readily made for foreign students. Thus all the facilities offered by a Residential University are available to the students of this college.

While concluding it may be said that non-allignment with any particular school or any beaten track is the most special feature of this institution ; it has never been guided by any parochial spirit. If at all the scientific and broad systam of instruction that has been evolved or developed here under the benign guidance of Revered Pt. Omkarnath Thakur, the veteran musician and musicologist of international fame has to be described in terms of allignment with any particular school, it can be said to owe allegiance to Bharata who is our earliest extant authority on the basic principles of all arts.

In the end we hope and pray that the broad outlook and all-round instruction provided by this institution will stand its graduates in goodstead in safeguarding our musical system against disruptive tendencies and in re-constructing our theory and practice in accordance with the basic principles of music and aesthetics enunciated by Bharata. May we be able to produce stalwarts in the field of Indian music who can render yeoman service in upkeeping the grandeour of our musical systam and in adding to its glory with an unbiased and unconstrained outlook. May our graduates be messengers of Truth, Goodness and Beauty and may they become worthy instruments of spreading the universal language of music which transcends the barriers of time and space, caste and creed, nationality and community.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

श्री जगरनाथ मिस्त्री द्वारा प्रस्तर पर उत्कीर्ण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi